राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – फतहसिंह, एम.ए., डी.लिट्.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क १०८

महोपाध्याय-श्रीजिनपालगणि 'शिष्यलेश' प्रणीतम्

सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्

[शोधपूर्णभूमिका-परिशिष्टैः संवलितम्]

सम्पादक

महोपाध्याय विनयसागर

साहित्य महोपाध्याय, साहित्याचार्य, दर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, काव्यभूषण, शास्त्रविशारद

प्रकाशक

राजस्थान-राज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR

१९६९ ई०

प्रथमावृत्ति १०००

मूल्य ११.५०

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम.ए.,डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क १०८

महोपाध्याय-श्रीजिनपालगणि 'शिष्यलेश' प्रणीतम्

सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्

प्रकाशक

राजस्थान-राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

१९६९ ई०

वि० सं० २०२५ भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८९०

मुद्रक—हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

प्रधान - सम्पादकीय

सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् का सर्वप्रथम वि० सं० १२९३ में श्री सुमति गणि ने गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्ति में उल्लेख किया था। इस ग्रन्थ का नाम बहुत दिनों से सुना जाता था, अतः जब महोपाध्याय विनयसागर ने दि० ४-११-६७ के पत्र के साथ इस ग्रन्थ की सम्पादित प्रति प्रतिष्ठान में भेजी और साथ में यह भी लिखा कि यह सम्पादन ग्रन्थ की स० १२७८ लिखित प्रति के आधार पर है, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु जब मैंने पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि प्रतिष्ठान में इस ग्रन्थ की कोई प्रति नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रतिष्ठान से इस ग्रन्थ का प्रकाशन होना असंभवसा प्रतीत होने लगा, क्योंकि उन्हीं दिनो यह निश्चय किया गया था कि जिस ग्रन्थ की प्रति प्रतिष्ठान मे नही होगी, वह ग्रन्थ प्रतिष्ठान से प्रकाशित नही हो सकेगा। अतः मैंने प्रतिष्ठान के लिये इस ग्रन्थ की प्रति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस ग्रन्थ को प्रतिष्ठान के लिये प्राप्त करना कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण था। प्रथम तो इतना पुराना कागज पर लिखा हुआ ग्रन्थ यहां पर एक ही और है। दूसरे, यह ग्रन्थ जैन-काव्य-ग्रन्थों में अपना विशेष महत्त्व रखता है और तीसरे इस ग्रन्थ के लेखक जिनपालोपाध्याय पृथ्वीराज चौहान के समकालीन विद्वत्समुदाय मे मूर्धन्य समझे जाते थे, अतः संभव हो सकता है कि इस महाकाव्य के विविध-वर्णनों में इस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों का कुछ अप्रत्यक्ष रूप से चित्रण हो गया हो। सौभाग्यवश महोपाध्याय विनयसागर ने मेरी दुविधा को देखकर, अपने खर्चे से उस प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटो-प्रतिलिपि करवाकर प्रतिष्ठान को भेंट कर दी। अतः मैं विद्वान् सम्पादक महोदय को प्रतिष्ठान की ओर से दुहरा धन्यवाद अर्पित करता हूँ। उन्होंने न केवल हमें इस अलभ्य ग्रन्थ की प्रति प्रदान की है, अपितु उसका सुन्दर और विद्वत्तापूर्ण सम्पादन भी किया है।

वस्तुतः इस ग्रन्थ के सम्पादन के लिये महोपाध्याय विनयसागर से बढ़कर योग्य सम्पादक मिलना कठिन था। श्री विनयसागर पहले ही प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक जिनपालोपाध्याय की गुरु-परम्परा मे आचार्य जिनवल्लभसूरि (१२वीं शती) के ४० ग्रन्थो का शोधपूर्ण सम्पादन करके हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से साहित्यमहोपाध्याय नामक शोधोपाधि प्राप्त कर चुके हैं। उन्होने उपाध्याय श्रीवल्लभ के अरजिनस्तव, विक्रम कवि के नेमिदूतम् तथा प्रतिष्ठालेखसग्रह शीर्षक

से अनेक जैन अभिलेखों का भी सम्पादन किया है। उन्होने खरतरगच्छ का इतिहास भी लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि जैन वाङ्मय का कितना अधिक परिचय उन्होंने प्राप्त कर रखा है। उनके द्वारा सम्पादित वृत्तमौक्तिक नामक छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ का प्रकाशन इस प्रतिष्ठान से ३ वर्ष पहिले ही हो चुका है। अतः उनकी इतः पूर्व उपलब्धियों के आधार पर, प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन भी अच्छा होना स्वाभाविक ही था। फिर भी मैंने इस ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण भूमिका को जब आद्योपान्त पढ़ा, तो मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सम्पादक महोदय ने जिस कार्यपटुता, और विद्वत्ता का परिचय इस ग्रन्थ के सपादन मे दिया है वह पूर्वसम्पादित ग्रन्थों से कही अधिक उच्चकोटि की है। आशा है यह नवयुवक विद्वान्, अपनी साहित्य-सेवा से राष्ट्रभाषा को निरन्तर समृद्ध करता रहेगा।

अन्त में महोपाध्याय विनयसागर ने ग्रन्थ की फोटोकॉपी को भेंट करने में जो उदारता दिखाई है, उसके लिये मैं पुनः धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

पौष शुक्ला पूर्णिमा, सं० २०२५
जोधपुर

—फतहसिह

क्रमपञ्जिका

स्वर्गीया स्नेहमयी जननी

श्रीमती पानीबाई की पुण्य स्मृति में

सम्पादक का यह लघु प्रयत्न समर्पित है

प्रति के प्रथम पत्र एव अन्तिम १८४ वे पत्र की प्रतिकृति
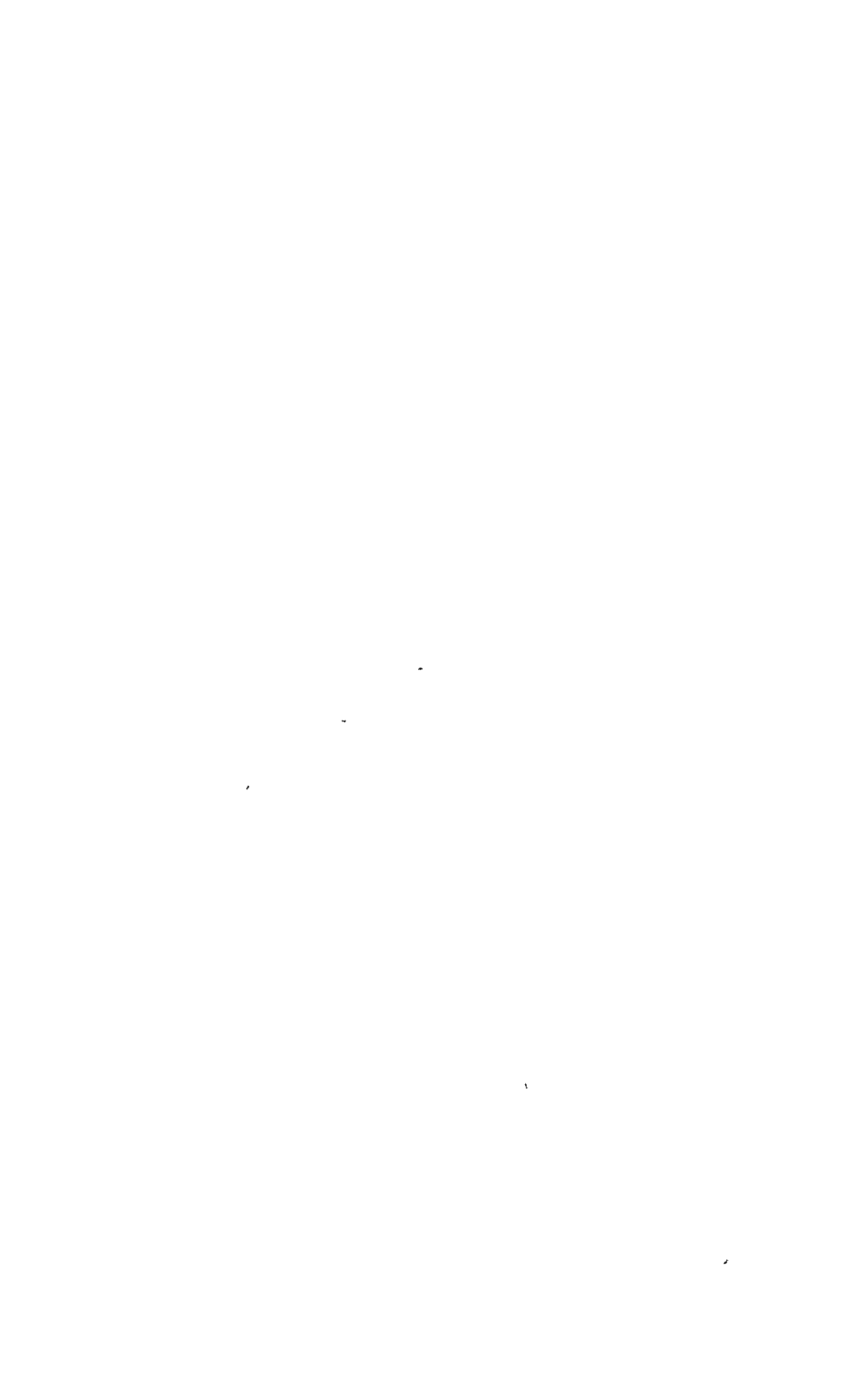
भूमिका

कवि परिचय

प्रस्तुत महाकाव्य के प्रणेता जिनपालोपाध्याय खरतरगच्छीय युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के शिष्य है। कवि ने स्वयं काव्य के अन्त में अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—"चान्द्रकुल, वज्रशाखा में वर्द्धमानसूरि हुए जिनके दो शिष्य थे, जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि। जिनेश्वरसूरि ने दुर्लभराज की राजसभा में चैत्यवासियों को पराजित किया था और 'प्रमालक्ष्म' आदि दर्शन एवं कथा-ग्रंथों की रचना की थी। दूसरे बुद्धिसागरसूरि ने नवीन व्याकरण की रचना की थी। जिनेश्वरसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि हुए जिन्होंने 'संवेगरंगशाला' ग्रंथ की रचना की। इनके पट्टधर नवांगीटीकाकार अभयदेवसूरि हुए। इनके पट्टधर महाकवि माघ से भी अधिक श्रेष्ठ काव्य-प्रणेता जिनवल्लभसूरि हुए जो पूर्व में चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के शिष्य थे और बाद में जिन्होंने अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की थी। जिनवल्लभसूरि के पट्टधर कृष्णमूर्ति जिनदत्तसूरि हुए। इनके पट्टधर जिनचन्द्रसूरि हुए। इनके पट्टधर युगप्रवरागम जिनपतिसूरि हैं जिन्होंने 'संघपट्टक' तथा 'पंचलिंगी' ग्रंथों पर टीकाओं की रचना की है तथा जिन्होंने राजा की सभाओं में अनेकों विद्वानों को पराजित किया है एवं जो समग्र विषयों के निष्णात हैं, उन्हीं का मैं शिष्यलेश जिनपाल हूं।" इस प्रशस्ति के आधार से जिनपालोपाध्याय का गुरु-वंश-वृक्ष इस प्रकार बनता है—

१-४. देखें, विनयसागरः वल्लभभारती।

जिनदत्तसूरि[1]
|
जिनचन्द्रसूरि[2]
|
जिनपतिसूरि
|
जिनपाल

यही गुरु-परम्परा कवि ने षट्स्थानक प्रकरण की टीका में दी है :—

जिनेश्वरश्चान्द्रकुलावतंसो, दुर्वारवादिद्विपकेशरीन्द्रः ।
सन्नीतिरत्नाकरमुख्यतर्क-ग्रंथप्रणेता समभून्मुनीशः ॥१॥

संवेगरङ्गशाला-प्रजापतिः कुमुदवत्सुधाकिरणः ।
दोपापचितिदिनेशस्ततोऽभवत् सूरिर्जिनचन्द्रः ॥२॥

चक्रीव नवनिधानान्याविश्चक्रे सुपुण्यवृत्त्या यः ।
अङ्गानि स्थानादीन्यजन्यसावभयदेवगुरुः ॥३॥

जिनवल्लभ -जिनदत्तौ ततोऽपि सत्यविभावनोत्थायाः ।
श्रीपुष्पदन्तकीर्त्तेर्विलोपकौ सद्गुरू जातौ ॥४॥

तदनु जिनचन्द्रसूरिश्चन्द्र इवानन्दकन्दलनिदानम् ।
मूर्त्यापि विबुधमानससुकुमारमूतिजन्योः ॥५॥

जिनपतिरिति सूरिः सद्गुणागाढबन्धै-
र्निविडनिगडितेवात्येति नो संयमश्रीः ।
क्वचिदपि पदमात्रं सर्वविद्यानवद्य-
प्रचयपरिचिताङ्गी यद्वपुष्टः सुपुष्टा ॥६॥

तच्छिष्यो जिनपालः षट्स्थानकसंज्ञितप्रकरणस्य ।
वृत्तिं व्यधादमेधा अप्येतां स्वपरहितविधये ॥८॥

जिनपतिसूरि—

ग्रंथ-लेखक जिनपाल उपाध्याय के गुरु जिनपतिसूरि विक्रमपुर (जैसलमेर-का समीपवर्ती) के निवासी माल्हू गोत्रीय यशोवर्द्धन सूहवदेवी के पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १२१० चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था और इनकी दीक्षा वि० सं० १२१७ फाल्गुन शुक्ला १० को जिनचन्द्रसूरि के हाथ से हुई थी। इनका

---

१. देखें, अगरचन्द भवरलाल नाहटा : युगप्रधान जिनदत्तसूरि।
२. ,, ,, ,, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि।

दीक्षावस्था का नाम नरपति था। सं० १२२३ भाद्रपद कृष्णा १४ को जिनचन्द्रसूरि का स्वर्गवास हो जाने से, उनके पद पर सं० १२२३ कार्तिक शुक्ला १३ को युगप्रधान जिनदत्तसूरि के पादोपजीवी श्रीजयदेवाचार्य ने नरपति को स्थापित किया और नाम जिनपतिसूरि रखा। आचार्य-पदारोहण के समय इनकी उम्र १४ वर्ष की थी।

सं० १२३८ मे ये आशिका (हांसी) आये। उस समय नगर का उल्लेखनीय प्रवेश महोत्सव तत्रस्थानीय नरेश भीमसिह ने किया था। आशिका में रहते हुए वहां के प्रामाणिक दिगम्बर विद्वान् (जिनका नामोल्लेख प्राप्त नहीं है) को शास्त्रचर्चा में पराजित किया था।

सं० १२३९ मे अजमेर में इतिहास के प्रसिद्धपुरुष अन्तिम हिन्दू-सम्राट् महाराजा पृथ्वीराज चौहान की अध्यक्षता में राज्यसभा मे फलवर्द्धिका-निवासी उपकेशगच्छीय पद्मप्रभ के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ था। उस समय राज्यसभा में प्रधानमन्त्री कैमास, सभा के शृंगार पं० वागीश्वर, जनार्दन गौड, विद्यापति आदि महाविद्वान् एवं महाराजा पृथ्वीराज का अतिवल्लभ मण्डलीकराणकतुल्य तथा जिनपतिसूरि का भक्त श्रावक रामदेव आदि उपस्थित थे। आचार्यश्री के साथ शास्त्रविद्या में एवं श्रावक रामदेव के साथ मल्लविद्या में पद्मप्रभ बुरी तरह से पराजित हुआ। दो दिवस के पश्चात् सम्राट् पृथ्वीराज ने स्वपरिवार. सहित उपाश्रय में आकर आचार्यश्री को जयपत्र प्रदान किया था।

सं० १२४४ मे तीर्थयात्रार्थ सघ आपकी अध्यक्षता में निकला था। वह क्रमश: भ्रमण करता हुआ चन्द्रावती पहुचा। यहां पूर्णिमापक्षीय अकलंकदेवसूरि के साथ नाम-सम्बन्धी अनेक विषयों पर मनोविनोदार्थ सुन्दर विचार-विमर्श हुआ था। चन्द्रावती में ही पौर्णमासिक गच्छीय तिलकप्रभसूरि के साथ तीर्थयात्रा आदि अनेक शास्त्रीय विषयों पर चर्चा हुई थी।

सघ चन्द्रावती से आशापल्ली पहुचा। यहां आचार्यश्री का परमभक्त श्रावक क्षेमंधर, जिसका पुत्र प्रद्युम्नाचार्य के नाम से ख्यातिमान् वादी देवाचार्य की पौषधशाला में रहता था, उस समय के चैत्यवासी आचार्यों में वह प्रमुख माना जाता था। उसकी (प्रद्युम्नाचार्य की) जिनपतिसूरि के साथ शास्त्रार्थ करने की अभिलाषा थी। इस मनोकामना को आचार्यश्री ने स्वीकार किया, किन्तु संघ को वहाँ ठहरने का अवकाश न होने के कारण आह्वान को लक्ष्य में रखकर, वहाँ से प्रयाण कर, उज्जयन्त, शत्रुञ्जय आदि तीर्थो की यात्रा कर जिनपतिसूरि पुनः आशापल्ली (अहमदाबाद) आये और प्रद्युम्नाचार्य के साथ उसकी इच्छानुसार

'आयतन-अनायतन' सम्बन्धी शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ में प्रद्युम्नाचार्य विशेष समय तक स्थित न रह सका और अन्त में पराजय प्राप्त कर स्वस्थान को लौट गया। इसी वाद के उपलक्ष में जिनपतिसूरि ने जो उत्तर दिये थे उनका दिग्दर्शन कराने वाला 'प्रबोधोदयवादस्थल' नामक ग्रंथ प्राप्त है।

सं० १२५३ मे षष्टिशतकप्रकरण के कर्त्ता नेमिचन्द्र भाण्डागारिक (भण्डारी) ने आचार्यश्री से प्रतिबोध पाया। इसी वर्ष अणहिलपुर पाटण का भग हो जाने से आचार्य ने घाटी ग्राम मे चातुर्मास किया था।

सं० १२७२ में जिनपतिसूरि की आज्ञा से जिनपालोपाध्याय ने बृहद्द्वार में काश्मीरी पण्डित मनोदानन्द के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी।

जिनपतिसूरि ने अपने जीवन-काल में अनेकों विद्वानों के साथ ३६ शास्त्रार्थ किये और उन सभी विवादों में विजय-पताका प्राप्त की थी। इसीलिये परवर्त्ती समस्त ग्रथकारों ने आपके नाम के साथ 'षट्त्रिंशद्वादविजेता' विशेषण का प्रयोग किया है।

आपने अपने ५४ वर्ष के आचार्यकाल में सैकड़ों प्रतिष्ठायें, सैकडों दीक्षायें एव अनेकों योग्य व्यक्तियों को पद-प्रदानादि विविध कार्य किये हैं जिनका वर्णन जिनपालोपाध्याय-लिखित गुर्वावली[1] में उपलब्ध है। सं० १२७७ आषाढ शुक्ला दशमी को पालनपुर मे इनका स्वर्गवास हुआ।

जिनपतिसूरि प्रौढ विद्वान् एवं समर्थ साहित्यकार भी थे। इनके प्रणीत सघपट्टक-बृहद्वृत्ति,[2] पञ्चलिगीप्रकरण-बृहद्वृत्ति,[3] प्रबोधोदयवादस्थल[4] तथा ८-१० स्तोत्र प्राप्त हैं।

जिनपालोपाध्याय—

जिनपाल कहाँ के निवासी थे, उनके माता-पिता का क्या नाम था, किस सम्वत् मे उनका जन्म हुआ, आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। स्वयं के सम्बन्ध मे जिनपाल ने स्वप्रणीत 'खरतरगच्छालकार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' में यत्र-तत्र जो उल्लेख किये हैं वे निम्नलिखित हैं :—

---

१. जिनपतिसूरि के विशेष परिचय के लिये देखे, खरतरगच्छालकार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृ० २३-४८।

२. जेठालाल दलसुख की तरफ से प्रकाशित।

३. जिनदत्तसूरि ज्ञान भडार सूरत से प्रकाशित।

४. जैसलमेर ज्ञान भडार।

सं० १२२५ में जिनपतिसूरि ने पुष्कर में जिनपाल को दीक्षा प्रदान की[१]। सं० १२५१ में कुहियप ग्राम मे जिनपतिसूरि ने इनको वाचनाचार्य[२]-पद प्रदान किया और सं० १२६९ में जाबालिपुर (जालोर) के विधिचैत्य में उपाध्याय[३]-पद प्रदान किया। स० १२७७ प्रह्लादनपुर (पालनपुर) में जिनपतिसूरि ने स्वर्ग-गमन के पूर्व गच्छ की धुरा संभालने वालों में सर्वदेवसूरि, जिनहितोपाध्याय और जिनपालोपाध्याय का उल्लेख 'मेरे सदृश'[४] शब्दों से किया है। सं० १२७८ माघ सुदि ६ जाबालिपुर महावीर चैत्य में जिनेश्वरसूरि के पदस्थापन[५] महोत्सव के समय जिनपालोपाध्याय भी उपस्थित थे। सं० १२८८ आश्विन शुक्ला १० को प्रह्लादनपुर में राजपुत्र श्री जगसिंह के सांनिध्य में साधु भुवनपाल ने स्तूप (संभवत: जिनपतिसूरि का समाधिस्थल) पर ध्वजारोहण प्रतिष्ठा[६] का महा-महोत्सव जिनपालोपाध्याय के करकमलों से कराया था। सं० १३११ प्रह्लादनपुर में जिनपालोपाध्याय का स्वर्गवास[७] हुआ।

जिनपाल की दीक्षाग्रहण के पूर्व कम से कम ८ या १० वर्ष की अवस्था भी आंकी जाय, तो इनका जन्म स० १२१५ या १२१७ के आस-पास स्वीकार किया जा सकता है। इनका स्वर्गगमन १३११ में निश्चित है अत: आपकी पूर्णायु शतायु के निकट ही थी।

पुष्कर में दीक्षा होने से संभव है जिनपाल पुष्कर या निकटस्थ राजस्थान प्रदेश के ही निवासी हों।

गुर्वावली[८] में जिनपालोपाध्याय द्वारा काश्मीरी पं० मनोदानन्द पर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने का सविस्तर वर्णन है जिसका अविकल सार इस प्रकार है:—

"सं० १२७३ में बृहद्द्वार में लोकप्रसिद्ध 'गंगा दशहरा' पर्व पर गगा-स्नान करने के लिये वहुत से राणाओं के साथ नगरकोट के महाराजाधिराज श्री पृथ्वीचन्द्र भी आये हुए थे। उनके साथ में मनोदानन्द नाम का एक काश्मीरी पण्डित

---

१. खरतरगच्छालकार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृ० २३।
२. वही, पृ० ४४।
३. वही, पृ० ४४।
४. वही, पृ० ४७।
५. वही, पृ० ४८।
६. वही, पृ० ४९।
७. वही, पृ० ५०।
८. वही, पृ० ४४ से ४६।

रहता था। उस पण्डित को जिनप्रियोपाध्याय के शिष्य श्री जिनभद्रसूरि[१] (जिनदास) ने जिनपतिसूरिजी के साथ शास्त्रार्थ करने को उकसाया। पं० मनोदानन्द ने दिन के दूसरे पहर पौषधशाला के द्वार पर शास्त्रार्थ का पत्र चिपकाने के लिये अपने एक विद्यार्थी को भेजा। दिन के दूसरे पहर के समय उपाश्रय में आकर वह पत्र चिपकाने को तैयार हुआ। श्रीपूज्यजी के शिष्य धर्मरुचि गणि ने विस्मय-वश होकर अलग ले जाकर उससे पूछा—'यहां तुम क्या कर रहे थे।' ब्राह्मण बालक ने निर्भय होकर उत्तर दिया कि—'राजपण्डित मनोदानन्दजी ने आपके गुरु जिनपतिसूरिजी को लक्ष्य करके यह पत्र चिपकाने को दिया है।' उस विद्यार्थी की बात सुनकर हंसते हुए धर्मरुचि गणि ने कहा—'रे ब्राह्मण बालक! हमारा एक सदेश पण्डितजी को कह देना कि श्री जिनपतिसूरिजी के शिष्य धर्मरुचि गणि ने मेरी जबानी कहलवाया है कि पं० मनोदानन्दजी! यदि आप मेरा कहना माने तो आप पीछे हट जायें तथा अपना पत्र वापिस ले ले, अन्यथा आपके दांत तोड़ दिये जायेगे। अभी न सही किन्तु बाद में आप अवश्य ही मेरी सलाह का मूल्य समझेंगे।' उसी विद्यार्थी से पं० मनोदानन्द के विषय में जानने योग्य सारी बाते पूछकर उसे छोड़ दिया। धर्मरुचि गणि ने यह समस्त वृत्तान्त श्री पूज्यजी के आगे निवेदन किया। वहां पर उपस्थित ठ० विजय नामक श्रावक ने शास्त्रार्थ-पत्र सम्बन्धी बात सुनकर अपने नौकर को उस पत्र चिपकाने वाले विद्यार्थी के पीछे भेजा और कहा कि—'तुम इस लड़के के पीछे-पीछे जाकर जांच करो कि यह लड़का किस-किस स्थान पर जाता है। हम तुम्हारे पीछे ही आ रहे हैं।' इस प्रकार आदेश पाकर वह नौकर उक्त कार्य का अनुसन्धान करने के लिये लड़के के चरण-चिह्नों को देखता हुआ चला गया।

अनेक पण्डित-प्रकाण्डों को शास्त्रार्थ में पछाड़ने वाले प्रगाढ विद्वान् यशस्वी श्रीजिनपतिसूरिजी ने अपने आसन से उठकर, अपने अनुयायी मुनिवरों को कहा कि— 'शीघ्र वस्त्र-धारण करो और तैयार हो जाओ, शास्त्रार्थ करने को चलना है।' स्वयं भी तैयार हो गये। महाराज को जाने को तैयार देखकर जिनपालोपाध्याय और ठ० विजय श्रावक कहने लगे, 'भगवन्! यह भोजन का समय है, साधु लोग दूर से विहार करके आये हैं इसलिये आप पहले गोचरी (भोजन) करें। बाद मे वहां जाये।' उन लोगों के अनुरोध से महाराज भोजन करके उठे। जिनपालोपाध्याय ने पूज्यश्री के चरणों में वन्दना करके प्रार्थना की—

---

१. यु० गुर्वावली, पृ० २० के अनुसार इनकी दीक्षा स० १२१७ में हुई थी। इनकी रचित अपवर्गनाममालाकोष प्राप्त है।

'प्रभो ! मनोदानन्द पण्डित को जीतने के लिये आप मुझे भेजें। आपकी कृपा से मैं उसे हरा दूंगा। भगवन् ! प्रत्येक साधारण मनुष्य से आप यदि इस प्रकार वाद-प्रतिवाद करेंगे तो फिर हम लोगों को साथ लाने का क्या उपयोग है ? उस मामूली पं० मनोदानन्द को हराने के लिये आप इतने व्यग्र क्यों हो गये हैं ? कहा भी है—

कोपादेकतलाघातनिपातमत्तदन्तिनः।
हरेर्हरिणयुद्धेषु कियान् व्याक्षेपविस्तरः ॥

[अपने चरण की एक चपेट से मस्त हाथियों को मारने वाले सिंह को हरिणों के साथ युद्ध करने मे विशेष व्यग्र होने की जरूरत नहीं है] राजनीति में भी पहले पैदल सेना युद्ध करती है और बाद में रणविद्या-विशारद सेनापति लड़ा करते हैं।

श्रीपूज्यजी ने कहा—उपाध्यायजी ! आप जो कहते हैं वह यथार्थ है, किन्तु पण्डित की योग्यता कैसी है यह मालूम नहीं।

उपाध्याय०—पण्डित कैसा भी क्यों न हो, सब जगह आपकी कृपा से विजय सुलभ है।

श्रीपूज्य०—कोई हर्ज नहीं, हम भी चलते हैं किन्तु तुम्हीं बोलना।

उपाध्याय०—महाराज ! आपकी उपस्थिति में लज्जावश मैं कुछ भी नहीं बोल सकूंगा। इसलिये आपका यहीं विराजना अच्छा है।

जिनपालोपाध्याय का विशेष आग्रह देखकर महाराजश्री ने प्रसन्न मन से मन्त्रोच्चारण के साथ मस्तक पर हाथ रखकर, धर्मरुचि[1] गणि, वीरभद्र गणि[2] सुमति गणि[3] और ठक्कुर विजयसिंह आदि श्रावकों के साथ जिनपालोपाध्याय को मनोदानन्द पडित को जीतने के लिये भेज दिया। जिनपालोपाध्याय नगरकोट्टीय राजाधिराज श्री पृथ्वीचन्द्र के सभाभवन में अपने परिवार के साथ पहुँचे।

उस समय वहां पर पूर्ववर्णित गगा-यात्री राणा लोग भी महाराजाधिराज का कुशल-मंगल पूछने के लिये आये हुए थे। जिनपालोपाध्याय ने सुन्दर श्लोकों

---

१. यु० गु० पृ० २४ के अनुसार धर्मरुचि की दीक्षा सं० १२३३ विक्रमपुर मे हुई।
२. यु० गु० पृ० २४ के अनुसार इनकी दीक्षा सं० १२१७ में हुई।
३. यु० गु० पृ० ४४ के अनुसार सुमति गणि की दीक्षा सं० १२६० में हुई। सुमति गणि रचित गणधरसार्द्धशतक वृहद्वृत्ति (र० सं० १२९५) और नेमिनाथ रास प्राप्त है।

द्वारा राजा पृथ्वीचन्द्र की समयानुकूल प्रशंसा करके वहां पर बैठे हुए पं० मनोदानन्द को सम्बोधित कर के कहा—

पण्डितरत्न ! आपने हमारी पौषधशाला के द्वार पर विज्ञापन-पत्र किस-लिये चिपकाया था ?

मनोदा०—आप लोगों को जीतने के लिये।

जिनपाल०—बहुत अच्छा, किसी एक विषय को लेकर पूर्व पक्ष अंगीकार कीजिये।

मनोदा०—आप लोग षड्दर्शनों से बहिर्भूत हैं, इस बात को सिद्ध करूंगा। यही मेरा पक्ष है।

जिनपाल०—इसे न्यायानुसार प्रमाण-सिद्ध करने के लिये अनुमान-स्वरूप-बांधिये।

मनोदा०—विवादाध्यासिता दर्शनवाह्या: प्रयुक्ताचारविकलत्वात् म्लेच्छवत् अर्थात् वाद प्रतिवाद करने वाले जैन साधु छहों दर्शनों से बहिष्कृत हैं, प्रयुक्त आचार में विकल होने से म्लेच्छों की तरह।

जिनपाल०—पण्डितराज ! आपके कहे हुए इस अनुमान में मैं कई दूषण दिखला सकता हूं।

मनोदा०—हां, आप अपनी शक्ति के अनुसार दिखलायें, परन्तु इसका भी ध्यान रहे कि उन सब का आपको समर्थन करना पड़ेगा।

जिनपाल०—सावधान होकर सुनिये, आपके इस अनुमान में 'प्रयुक्ताचार विकलत्वात्' यह हेतु नहीं, अनैकान्तिक हेतु है। आपका उद्देश्य हम लोगों को षड्दर्शन-बाह्यता सिद्ध करने का है, अर्थात् षड्दर्शनवाह्य साध्य है। परन्तु आपके दिये हुए हेतु से षड्दर्शनों के भीतर माने हुए बौद्ध, चार्वाक आदि भी विपक्ष सिद्ध होते हैं। उनमें भी आपका हेतु चला जाता है, क्योंकि वे भी आपके अभिमत वेद-प्रयुक्त आचार से पराङ्मुख हैं। इसलिये अतिव्याप्ति नामक दोष अनिवार्य है और आपका दिया हुआ 'म्लेच्छवत्' यह दृष्टान्त भी साधन-विकल है। आप म्लेच्छों मे प्रयुक्त आचार की विकलता एक देश से मानते हैं या सर्वतोभावेन। यदि कहें एक देश से सो भी ठीक नहीं, क्योंकि म्लेच्छ भी अपनी जाति के अनुसार कुछ न कुछ लोकाचार का पालन करते हुए दिखलाई देते हैं। अन्य सभी लोकाचार वेदोक्त हैं, इसलिये आपका कहा हुआ हेतु दृष्टान्त में नहीं घटता। यदि आप कहें कि म्लेच्छों मे सम्पूर्ण वेदोक्त आचार नही पाया जाता,

इसलिये वे दर्शन-बाह्य हैं तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो आप भी दर्शन-वाह्य हैं। वेदोक्त सम्पूर्ण आचार-व्यवहार का पालन शायद आप भी नही करते।

इस प्रकार तर्क-रीति से बोलते हुए जिनपाल ने सभा में स्थित तमाम लोगों को अचम्भे में डाल दिया और अनेक दोष दर्शाकर मनोदानन्द के प्राथमिक कथन को अव्यवस्थित बतलाया।

इसके बाद मानी मनोदानन्द धृष्टता से अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये अन्यान्य प्रमाण उपस्थित करने लगा, परन्तु उपाध्यायजी ने अपनी प्रखर-प्रतिभा के प्रभाव से राजा आदि समस्त लोगों के सामने असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि दोष दिखलाकर तमाम अनुमानों का खण्डन करके पं० मनोदानन्द को पराजित कर दिया। इतना ही नहीं अपि तु उपाध्यायजी ने प्रधान अनुमान के द्वारा अपने आपको षड्दर्शनाभ्यन्तर्वर्ती भी सिद्ध कर दिया। ऐसे वाक्पटु जैन-मुनि के समक्ष जब कोई उत्तर नही दे सका तब अति-लज्जित होकर पं० मनोदानन्द मन ही मन सोचने लगा कि यहां सभा में बैठने वाले राजा, रईस लोगों को जैसा चाहिये वैसा शास्त्रीय ज्ञान का अभाव है। इसलिये वे लोग अपने सामने अधिक बोलते हुए किसी व्यक्ति को देखकर समझ बैठते हैं कि यह पुरुष बहुत अच्छा विद्वान् है। अतः इस धारणा के अनुसार मुझे भी कुछ बोलते रहना चाहिये। लोग जान जायेंगे कि पं० मनोदानन्द भी एक अच्छा बोलने वाला वाक्पटु पुरुष है। ऐसा सोचकर—

शब्दब्रह्म यदेकं यच्चैतन्यं च सर्वभूतानाम्।
यत्परिणामस्त्रिभुवनमखिलमिदं जयति सा वाणी॥

इत्यादि पुस्तकों से याद किया हुआ पाठ बोलने लगा। ऐसा देखकर जिनपालोपाध्याय ने जरा कोपावेश में आकर कहा—अरे निर्लज्जों के सरदार! ऐसा यह असंबद्ध क्यों बोल रहा है? मैंने तुमको षड्दर्शन से बहिर्भूत सिद्ध कर दिया है। प्रमाण और युक्तियों के बल से अगर तुम्हारी कोई शक्ति है तो पौषधशाला के द्वार पर चिपकाये गये अपने शास्त्रार्थ-पत्र के समर्थन के लिये कुछ सप्रमाण बोलो। पढ़ी हुई पुस्तकों के पाठ की आवृत्ति करने मे तो हम भी समर्थ हैं। इसके बाद उपाध्यायजी की आज्ञा पाकर धर्मरुचि गणि, वीरप्रभ गणि और सुमति गणि ये तीनों मुनि श्रीजिनवल्लभसूरिजी की बनाई हुई 'चित्रकूटीय-प्रशस्ति, सङ्घपट्टक, धर्मशिक्षा' आदि सस्कृत-प्रकरणो का पाठ ऊँचे स्वर में करने लगे। इनको धाराप्रवाह रूप धड़ाधड़ सस्कृत पाठ का उच्चारण करते हुए देख

कर, वहां पर उपस्थित सभी राजा, रईस लोग कहने लगे—'ओ हो ! ये तो सभी पण्डित हैं।'

हार खाये पं० मनोदानन्द का मुख मलिन देखकर राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र ने विचारा कि 'हमारे पण्डित मनोदानन्दजी की मुखच्छाया फीकी है, अगर यह राजपण्डित हार जायेगा तो दुनिया में हमारी लघुता सिद्ध होगी। इसलिये उपस्थित जनता के आगे दोनों की समानता सिद्ध हो जाय तो अच्छा है।' मन में ऐसा निश्चय कर उपाध्यायजी की ओर लक्ष्य करके राजाजी कहने लगे—'आप बड़े अच्छे महर्षि-महात्मा हैं।' वैसे ही मनोदानन्द की ओर मुख कर के कहा—'आप भी बड़े अच्छे पण्डित हैं।'

महाराजा पृथ्वीचन्द्र के मुख से यह वचन सुनकर उपाध्यायजी ने विचार किया कि, 'आज दिन से हम शास्त्रार्थ करने लगे थे, रात के तीन पहर वीत गये हैं। इस बीच हमने अनेक प्रमाण दिखलाये, अपनी दिमागी शक्ति खर्च की लेकिन फल कुछ नहीं हुआ। हमने मनोदानन्द को परास्त करके उसकी जवान बन्द कर दी, निरुत्तर वना दिया। फिर भी राजा साहव अपने पण्डित के पक्षपात के कारण दोनो की समानता दर्शा रहे हैं। अस्तु, कुछ भी हो, हम जय-पत्र लिये विना इस स्थान से नही उठेंगे।'

जिनपालोपाध्याय ने कहा—"महाराज ! आप यह क्या कहते हैं, मैं कन्धा एवं छाती ठोककर कहता हूँ कि सारे भारत-खण्ड में मेरे सामने टिकने वाला कोई पण्डित नही है। यह पंडित मनोदानन्द मेरे साथ व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि किसी भी विषय में स्वतंत्रता से बोल सकता है। अगर इसको शक्ति नही हैं तो यह पौषधशाला वाले पत्र को अपने हाथ से फाड़ डाले। अरे यज्ञोपवीत को धारण करने वाले मनोदानन्द ! तू श्री जिनपतिसूरिजी महाराज के ऊपर पत्र चिपकाता है ? तुझे मालूम नहीं, उन्होंने सव विद्याओ में दखल रखने वाले प्रद्युम्नाचार्य जैसे पण्डितराजों की सव लोगों के सामने धूल उड़वा दी है।"

इस अवसर पर महाराजा पृथ्वीचन्द्र ने उस शास्त्रार्थ-पत्र को लेकर फाड़ डाला। उपाध्यायजी ने कहा—'राजन् ! इस पत्र को फाड़ने भर से ही मुझे सन्तोष नहीं होता।'

राजा ने कहा—'आपको सन्तोष किस वात से हो सकता है ?'

जिनपाल०—'हमें संतोष जयपत्र मिलने से होगा। और राजन् ! हमारे सम्प्रदाय में ऐसी व्यवस्था है कि जो कोई हमारे उपाश्रय के द्वार पर पत्र चिपकाता है उसी पुरुष के हाथ से जयपत्र लिखवा कर उपाश्रय के द्वार पर

जयपत्र लगवाया जाता है। इसीलिये आपसे निवेदन है कि आप अपने न्यायाधीशों से सम्मति लेकर हमारी सम्प्रदायी व्यवस्था को सुरक्षित रखें।'

पंडित मनोदानन्द की मुखच्छाया को मलिन हुई देखकर, यद्यपि राजा को ऐसा करने में बड़ा मानसिक दुःख हो रहा था, परन्तु सभा में बैठने वाले न्याय-विचार में प्रवीण, प्रधान एवं बुद्धिमान् पुरुषों के अनुरोध से अपने सरिस्तेदार के हाथ से जयपत्र लिखवाकर जिनपालोपाध्याय के हाथों में देना पड़ा। उपाध्यायजी ने इसके बदले में धर्मलाभ आशीर्वाद आदि कह कर राजा की भूरि-भूरि प्रशसा अनेक श्लोकों द्वारा की। रात भर शास्त्रार्थ होते रहने के कारण प्रातःकाल वहाँ से उठकर, शंखध्वनि आदि द्वारा बधाई लेते हुए तथा जयपत्र को लिये हुये, मुनि-मण्डली को साथ लेकर जिनपालोपाध्याय श्रीपूज्यजी के पास आये। श्रीपूज्यजी ने अपने शिष्य के द्वारा होने वाली जिनशासन की प्रभावना से बड़े हर्ष का अनुभव किया और बड़े आदर-सत्कार के साथ जिनपालोपाध्याय को अपने पास बिठला कर शास्त्रार्थ-सम्बन्धी सारी बातें ब्यौरेवार पूछीं। सं० १२७३ जेठ वदि १३ के दिन शान्तिनाथ भगवान् के जन्म-कल्याणक के अवसर पर, इस उपलक्ष में वहाँ के श्रावकों ने एक बृहत् जयोत्सव मनाया।''[1]

इस शास्त्रार्थ का उल्लेख जिनपालोपाध्याय के सतीर्थ्य चन्द्रतिलकोपाध्याय ने श्रीअभयकुमारचरित (रचना सं० १३१२) में किया है:—

> भूयो भूमिभुजङ्गसंसदि मनोदानन्दविप्रं घना-
> हङ्कारोद्धुरकन्धरं सुविदुरं पत्रावलम्बप्रदम्।
> जित्वा वादमहोत्सवे पुरि बृहद्द्वारे प्रदर्श्योच्चकै-
> र्युक्तीः सङ्घयुतं गुरुं जिनपतिं सन्तोषयामास यः॥

× × ×

सतीर्थ्यों द्वारा यशःप्रशस्ति—

जिनपालोपाध्याय न्याय, दर्शन, साहित्य और जैनागमों के प्रौढ विद्वान् थे। शास्त्रार्थ करने में भी अत्यन्त पटु थे। आपके प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए आपके ही सतीर्थ्य (गुरुभ्राता) सुमति गणि गणधरसार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति (र० सं० १२९५) में लिखते हैं—

---

१. विनयसागर: खरतरगच्छ का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ९९-१०४।

नानातर्क-वितर्क-कर्कशलसद्वाणीकृपाणीस्फुरत्-
तेजःप्रौढतरप्रहारघटनानिष्पिष्टवादिव्रजाः ।
श्रीजैनागमतत्त्वभावितधियः प्रीतिप्रसन्नाननाः,
सन्तु श्रीजिनपाल इत्यलमुपाध्यायाः क्षितौ विश्रुताः ॥१५॥

[मङ्गलाचरण]

चन्द्रतिलकोपाध्याय[1] एवं प्रबोधचन्द्रगणि[2] आदि अनेक प्रतिभासम्पन्न विद्वानों को आपने नन्दीसूत्र आदि जैनागमों की वाचना प्रदान की थी, इसीलिये वे आपको गुरु-रूप में स्वीकार करते हैं:—

सम्यगध्याप्य निष्पाद्य यश्चान्तेवासिनो बहून् ।
चक्रे कुम्भध्वजारोपं गच्छप्रासादमूर्धनि ॥
श्रीजिनपालोपाध्यायमौलेस्तस्यास्य सन्निधौ ।
मयोपादायि नन्द्यादिमूलागमाङ्गवाचना ॥

× × ×

श्रीजिनपालोपाध्यायकृतां त्रिःप्रेरणामहम् ।
चरित्रकरणे प्रापं सरस्वत्युपदेशवत् ॥
सुशकुनमिवास्मि तन्मन्वानो द्रढिमान्वितः ।
काव्याभ्यासविहीनोपि व्यधां काव्यमिदं ततः ॥

[अभयकुमारचरित्रप्रशस्ति]

नृपसमितिविजितविविधप्रतिवादिवितीर्णजयपताकाढ्याः ।
जिनपालोपाध्याया आसन् यस्यागमे गुरवः ॥

[प्रबोधचन्द्रगणिकृत संदेहदोलावलिवृत्ति-प्रशस्ति]

कवि का उपनाम—

जिनपालोपाध्याय ने सम्भवतः अपना उपनाम 'शिष्यलेश' रखा था। यही कारण है कि सनत्कुमारचरित के प्रत्येक सर्ग के अन्त में, द्वादशकुलक में प्रत्येक

---

१. यु० गु० पृ० ५० के अनुसार इनका दीक्षा-नाम चन्द्रकीर्त्ति था। सं. १३१२ में उपाध्याय-पद मिलने पर चन्द्रतिलक हुआ। इनका अभयकुमारचरित प्राप्त है।

२. यु० गु० पृ० ४९ के अनुसार इनकी दीक्षा सं० १२८७ में हुई। वाचनाचार्य-पद सं० १३१२ में प्राप्त हुआ। इनकी रचित संदेहदोलावली बृहद्वृत्ति (र०सं० १३२०) प्राप्त है।

कुलक की टीका के अन्त में, षट्स्थानकप्रकरण, चर्चरी, उपदेशरसायन आदि ग्रंथों की टीका के प्रान्त मे 'युगप्रवरागमश्रीजिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते' पंक्ति का ही प्रयोग किया है।

साहित्यसृजन—

जिनपालोपाध्याय न केवल वादीभपञ्चानन ही हैं अपि तु प्रतिभासम्पन्न महाकवि एवं प्रौढ तथा सफल टीकाकार भी। वर्तमान में उपलब्ध आपके द्वारा रचित साहित्य का संवदानुक्रम से संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

१. षट्स्थानक-प्रकरण-वृत्ति:—इस ग्रंथ के मूलकर्ता खरतरगच्छीय जिनेश्वर-सूरि प्रथम हैं। मूल ग्रंथ प्राकृत में है। सं०१२६२ माघ शुक्ला ८ को श्रीमालपुर[1] में इस टीका की रचना हुई है। इस टीका का संशोधन स्वयं आचार्य जिनपतिसूरि[2] ने किया है। श्लोक परिमाण १४९४ है। यह टीका जिनदत्तसूरि-ज्ञानभण्डार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है।

२. सनत्कुमारचक्रिचरित-महाकाव्य स्वोपज्ञ टीका सह—इस ग्रंथ में कवि ने रचना-समय नहीं दिया है किन्तु सर्ग २१ पद्य ११२ चक्रबद्ध-काव्य में 'जिन-पालगणिविरचितमिदम्' में स्वयं के लिये 'गणि' शब्द का प्रयोग किया है। जिनपाल को गणि-पद १२५१ में और उपाध्याय-पद १२६९ में प्राप्त हुआ था। अतः १२५१ और १२६९ का मध्यकाल इसका रचना-समय स्वीकार किया जा सकता है। इस काव्य के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन आगे किया गया है। इस काव्य की पद्य-संख्या २२०३ है और ग्रंथाग्रंथ (अनुष्टुप् श्लोकपरिमाण) ३३३१।

सुमति गणि ने गणधरसार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति में उल्लेख किया है कि कवि ने यह काव्य टीका-सहित बनाया है, किन्तु दुर्भाग्य है कि इसकी टीका आज तक प्राप्त नहीं हुई है। सुमति गणि का उल्लेख इस प्रकार है:—

नानालङ्कारसारं रचितकृतबुधाश्चर्यचित्रप्रकारं,
नानाच्छन्दोऽभिरामं नगरमुखमहावर्णकाव्यप्रकामम्।
दृब्धं काव्यं सटीकं सकलकविगुणं तुर्यचक्रेश्वरस्य,
क्षिप्रं यैस्तेऽभिषेकाः प्रथमजिनपदाश्लिष्टपाला मुदे नः।

---

१. युग-रस-दिनकरसंख्ये (१२६२), विक्रमवसुधेशवत्सरेऽतिगते।
श्रीमालपुरे चैषा, समर्थिता माघशुक्लार्द्धे ॥१०॥

२. सिद्धान्तकनकनिकषैः कारुण्यामृतपयोधिभिरतन्द्रैः।
श्रीमज्जिनपतिसूरिभिरियं तु संशोधिता यत्नात् ॥११॥ ग्रन्थाग्रं १४९४।

३. उपदेशरसायन-विवरणम्—इस अपभ्रंशभाषा में ग्रथित लघु-काव्य के प्रणेता युगप्रधान जिनदत्तसूरि है। पद्धटिका छन्द में ८० पद्य हैं। इस पर गणनायक जिनेश्वरसूरि[1] द्वितीय के आदेश से विवरण की रचना सं० १२९२ में हुई है। विवरण का श्लोक परिमाण ४७९ है। यह विवरण अपभ्रंशकाव्यत्रयी में ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा से प्रकाशित हो चुका है।

४. द्वादशकुलक-विवरणम्—इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य जिनवल्लभसूरि हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें बारह कुलक हैं। प्राकृत भाषा में रचित यह औपदेशिक ग्रंथ है। इस पर गणनायक जिनेश्वरसूरि[2] (द्वितीय) के निर्देश से सं० १२९३ भाद्रपद शुक्ला १२ को प्रस्तुत टीका की रचना पूर्ण हुई है। टीका विशद-विवेचनयुक्त है। इस टीका का ग्रंथाग्रंथ[3] ३३६३ है। यह टीका जिनदत्तसूरि-ज्ञान-भण्डार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है।

५. धर्मशिक्षा-विवरणम्—आचार्य जिनवल्लभसूरि-रचित ४० पद्यों का यह औपदेशिक लघुकाव्य है। इसमें १८ विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस टीका की रचना[4] सं० १२९३ पौष शुक्ला ९ को पूर्ण हुई है। टीका प्रौढ, प्राञ्जल एवं विशद है। ग्रंथाग्रंथ अनुमानतः २००० है। यह टीका अद्यावधि अप्रकाशित है। प्रेसकॉपी मेरे संग्रह में है।

३. पञ्चलिङ्गी-विवरण-टिप्पणम्—श्री जिनेश्वरसूरि (प्रथम)-रचित इस ग्रन्थ पर युगप्रवरागमजिनपतिसूरि ने बृहद्वृत्ति की रचना की। इस बृहट्टीका में यत्र-तत्र क्लिष्ट एवं दुर्बोध शब्दों का व्यवहार हुआ है। उसी पर यह टिप्पणक

---

१. इति जिनपतिसूरेः शिष्योर सायनसत्पदम्।
किमपि किमपि व्याख्यां निन्ये निगूढमहार्थभृत्॥
युग-नव-रविप्रख्ये (१२९२) वर्षे निदेशत आदृतः।
सुकविपरिपन्नृत्यत्कीर्त्तेर्जिनेश्वरसद्गुरोः॥१॥ ग्रन्थाग्रं० ४७९

२. श्रीमत्सूरिजिनेश्वरस्य सुमुनिव्रातप्रभोः साम्प्रतं,
शीघ्रं चारुमहाप्रबन्धकवितुर्वाक्यात् समारम्भि यत्।
तन्निष्ठामधुना ययौ गुणनवादित्यप्रमाणे (१२९३) वरे।
वर्षे भाद्रपदे क्षितौ शुभतरे द्वादश्यहे पावने॥८॥

३. त्रयस्त्रिंशच्छतान्येव त्रिषष्ट्या संगतानि च।
प्रत्यक्षरं प्रमाणं भोः श्लोकानामिह निश्चितम्॥९॥

४. गुणग्रहोष्णद्युतिसंख्यवर्षे (१२९३), पौषे नवम्यां रचिता सितायाम्।
स्पष्टाभिधेयाद्भुतधर्मशिक्षावृत्तिर्विशुद्धा स्फटिकावलीव॥२॥

है। इस टिप्पणक का रचना-काल पं० लालचन्द्र भगवानदास गान्धी ने अपभ्रंश-काव्यत्रयी की भूमिका (पृ० ६६) में १२६३ माना है। यह टिप्पणक बृहट्टीका के साथ जिनदत्तसूरि-ज्ञान-भण्डार सूरत से प्रकाशित है। मुद्रित संस्करण में प्रशस्ति नहीं है।

७. चर्चरीविवरणम्—युगप्रधान जिनदत्तसूरि ने बाग्जड-देशस्थित व्याघ्रपुर[1] में इसकी रचना की है। अपभ्रंश-भाषा का यह गेयकाव्य है, इसमें ४७ पद्य हैं। इसमे विधिपक्ष का दृढता से समर्थन किया गया है। इस पर सं० १२९४ चैत्र कृष्णा ३ को जिनेश्वरसूरि[2] द्वितीय के निर्देश से इस टीका को रचना हुई है। टीका की भाषा प्रौढ एवं प्राञ्जल है। यह टीका भी अपभ्रंशकाव्यत्रयी में ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा से प्रकाशित हो चुकी है।

८. खरतरगच्छालङ्कार-युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली—जिनपालोपाध्याय की सम्भवतः यह अन्तिम रचना है। यह एक ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण कृति है। खरतरगच्छ के आचार्य वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनचन्द्रसूरि; अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि एवं मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के जीवन-चरितों का आलेखन लेखक ने गुरु-परम्परा से श्रुत-आख्यानों पर किया है किन्तु स० १२२५ से सं० १३०५ आषाढ शुक्ला १० तक आचार्य जिनपतिसूरि एवं जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) का व्यक्तित्व एवं कृतित्व का दर्शन आँखों-देखी घटनाओं के आधार से किया है। संवदनुक्रम से प्रत्येक विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख इसमें किया गया है। यह कृति मानों जिनपालोपाध्याय की दफ्तर-बही (दैनिक डायरी) हो। गुर्वावली की घटनाओं को देखते हुए यह माना जा सकता है कि जिनपाल प्रायः जिनपतिसूरि के साथ रहे हों और पृथ्वीराज चौहान आदि की सभा में शास्त्रार्थ के समय में भी मौजूद हों! अन्यथा ऐसा आँखों-देखा सजीव वर्णन सम्भव नहीं हो सकता।

इस गुर्वावलो में अन्तिम प्रसंग १३०५ आषाढ शुक्ला १० का है, पश्चात् लेखक ने प्रशस्ति दे दी है। अतः इसका रचना-समय १३०५ स्वीकार किया

---

१. विरचिता च श्रीवाग्जडदेशतिलकायमान-श्रीमद्धर्मनाथ-जिनायतनविभूषिते श्रीव्याघ्रपुरे।
[अपभ्रंशकाव्यत्रयी पृ० १]

२. वेदग्रहरविवर्षे (१२९४) मधुपक्षे श्यामले तृतीयायाम्।
सा सफला सजज्ञे मुनिजनमधुपोपभोगेन ॥२॥
श्रीजिनेश्वरसूरीणामादेशात् कविकुम्भिनाम्।
इय व्याख्या मया चक्रे संक्षिप्ता मन्दमेधसा ॥३॥

जा सकता है। ढिल्ली (दिल्ली)-वास्तव्य साधु साहुलि के पुत्र साधु हेमा[1] की अभ्यर्थना से जिनपाल ने इसकी रचना की है। यह ग्रंथ सिंघी जन ज्ञानपीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से मुद्रित हो चुका है। इसकी एकमात्र प्रति क्षमा-कल्याण-भण्डार बीकानेर मे है।

९. स्वप्नविचार—प्राकृत-भाषा में २८ गाथायें हैं। इसमें श्रमणभगवान् महावीर के समय में मध्यमपापा के राजा हस्तिपाल ने जो ८ स्वप्न देखे उनका फल दिखाया गया है। अप्रकाशित है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, शाखा-कार्यालय बीकानेर, श्रीपूज्य श्रीजिनचारित्रसूरि-संग्रह-ग्रंथांक २९४, लेखन सं० १४१८ की प्रति में यह कृति प्राप्त है।

१०. स्वप्नविचार-भाष्य—जैन-ग्रन्थावली में लिखा है कि इसकी भाषा प्राकृत है, ग्रन्थाग्रन्थ ८७५ है और इसकी प्रति पाटण-भण्डार नं० ५ में है। यह अप्रकाशित है।

इसके सम्बन्ध में इतना अवश्य विचारणीय है कि यह भाष्य स्वयं-रचित 'स्वप्नविचार' पर है या जिनवल्लभसूरि-रचित 'स्वप्नाष्टक-सप्तति' पर है? ग्रन्थ के सम्मुख न होने से निर्णय करना असम्भव है।

११. संक्षिप्त पौषधविधिप्रकरण—यह प्राकृत-भाषा में १५ आर्याओं में ग्रथित है। इसमें श्रावक के पौषध ग्रहण करने की विधि प्रतिपादित है। इसकी प्रेसकॉपी श्रीअभय जैनग्रन्थालय, बीकानेर में है।

१२. जिनपतिसूरि-पञ्चाशिका—कृति के नाम से ही स्पष्ट है कि कवि ने अपने गुरु जिनपतिसूरि की स्तवना के रूप में इसकी रचना की है। यह कृति अप्राप्त है। श्री अगरचन्दजी नाहटा के कथनानुसार जैसलमेर ज्ञानभण्डारस्थ सं० १३८४ की लिखित स्वाध्याय पुस्तिका की विषयसूची में इसका उल्लेख था।

इस प्रकार जिनपालोपाध्याय-प्रणीत समग्र ग्रन्थों की अनुष्टुप्श्लोक-पद्धति से ग्रन्थाग्रन्थ १३००० के लगभग प्राप्त होते है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी कवि ने सृजन किया होगा, जिस प्रकार आज सनत्कुमारचरित की टीका अप्राप्त है उसी प्रकार ये भी नष्ट हो गये हों! संभव है शोध करने पर कवि की और भी कुछ कृतियाँ प्राप्त हो। अस्तु।

---

१. ढिल्लीवास्तव्यसाधुसाहुलिसुतसा० हेमाभ्यर्थनया।
जिनपालोपाध्यायैरित्थं ग्रथिताः स्वगुरुवार्ताः॥

जैन-साहित्य में सनत्कुमार का स्थान

जैन-परम्परा के अनुसार कालचक्र के बारह आरक होते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में से प्रत्येक के ६-६ आरक मिलकर कालचक्र बनता है। इन १२ आरकों के नाम इस प्रकार हैं:—

१. सुषमसुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमदुःषमा, ४. दुःषमसुषमा, ५. दुःषमा, ६. दुःषमदुःषमा, ७. दुःषमदुःषमा, ८. दुःषमा, ९. दुःषमसुषमा, १०. सुषम-दुःषमा, ११. सुषमा और १२. सुषमसुषमा।

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-काल में भारत-भूमि पर ६३ महापुरुष अवतीर्ण होते है जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी-काल के ६३ महापुरुषों का सर्वप्रथम उल्लेख स्थानांग और समवायांग सूत्र में प्राप्त होता है, जो निम्नांकित है:—

२४ तीर्थङ्कर[1] —

१. ऋषभ, २. अजित, ३. सम्भव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्व, ८. चन्द्रप्रभ, ९. सुविधि, पुष्पदन्त, १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति, १७. कुन्थु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. नेमि, २३. पार्श्व २४. वर्धमान।

१२. चक्रवर्ती[2] —

१. भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४. सनत्कुमार, ५. शान्ति, ६. कुन्थु, ७. अर, ८. सुभूम, ९. महापद्म, १०. हरिषेण, ११. जय, १२. ब्रह्मदत्त।

९. बलदेव[3]—

१. अचल, २. विजय, ३. भद्र, ४. सुप्रभ, ५. सुदर्शन, ६. आनन्द, ७. नन्दन, ८, पद्म (रामचन्द्र), ९. राम (बलराम)।

९. वासुदेव[4]—

---

१. दलसुख मालवणिया : स्थानांग-समवायांग, पृ० ६९६-६९८।
२. वही, पृ० ७४६-९४७।
३. वही, पृ० ७५३.।
४. वही, पृ० ७५३.।

१. त्रिपृष्ठ, २. द्विपृष्ठ, ३. स्वयम्भू. ४. पुरुषोत्तम, ५. पुरुषसिंह, ६. पुरुषपुण्डरीक, ७. दत्त, ८. नारायण (लक्ष्मण), ९. कृष्ण।

९. प्रतिवासुदेव[1]—

१. अश्वग्रीव, २. तारक, ३. मेरक, ४. मधुकैटभ, ५. निशुम्भ, ६. वलि, ७. प्रह्लाद ८. रावण, ९. जरासन्ध।

दिगम्बर-परम्परा में भी आचार्य यति वृषभ ने तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) के चतुर्थ महाधिकार में पद्यांक ५१२ से ५१९ तक ६३ महापुरुषों के नाम गिनाये हैं। ६३ का वर्गीकरण तो उपर्युक्त ही है, किन्तु नामों में कहीं-कहीं अन्तर अवश्य है जो इस प्रकार है:—

चौबीस तीर्थंकरों में, नवमें का नाम पुष्पदन्त और २०वें का नाम सुव्रत है।

बारह चक्रवर्तियों में, नवमें का नाम पद्म और ग्यारहवें का नाम जयसेन है।

९ बलदेव—१. विजय, २. अचल, ३. सुधर्म, ४. सुप्रभ, ५. सुदर्शन, ६. नन्दी, ७. नन्दिमित्र, ८. राम और ९. पद्म हैं।

९ प्रतिवासुदेवों मे, ७वें का नाम प्रह्लाद के स्थान पर प्रहरण है।

महाकवि पुष्पदन्त-प्रणीत महापुराण में बलदेव और प्रतिवासुदेवों के नाम श्वेताम्बर-मान्यतानुसार ही हैं।

गुणभद्र-रचित उत्तरपुराण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, और वासुदेवों के नाम तिलोयपण्णत्ती के अनुसार हैं। बलदेव और प्रतिवासुदेवों के नाम निम्नांकित है—बलदेव ६ठा—नंदिषेण। प्रतिवासुदेव—३. मधु, ४. मधुसूदन, ५. मधुक्रीड, ६. निशुम्भ, और ७. बलीन्द्र।

ये ही ६३ महापुरुष दोनों सम्प्रदायों (श्वेताम्बर एवं दिगम्बर) मे त्रिषष्टि-शलाकापुरुष के नाम से विख्यात हैं।

तीन तीर्थंकर (१६वें शान्तिनाथ, १७वें कुन्थुनाथ, १८वें अरनाथ ही) क्रमशः पांचवें, छठे और सातवें चक्रवर्ती हैं, अतः देह की दृष्टि से ये ६० होते हैं।

२४वें तीर्थंकर महावीर का ही जीव त्रिपृष्ठ-नामक प्रथम वासुदेव हुआ है, अतः वे जीव की दृष्टि से ५९ होते हैं।

---

१. दलसुख मालवणिया—स्थानांग समवायांग, पृ० ७५३-७५४।

बलदेव बड़ा भाई होता है और वासुदेव छोटा भाई, इसलिये एक ही पिता होने से नौ और उपरोक्त तीनो तीर्थंकर चक्रवर्ती होने से ३, इस प्रकार पिता की दृष्टि से ६३ महापुरुषों के ५१ पिता होते हैं।

तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती होने से, माताओं की संख्या ६० होती है।

इन ६३ नामों में से कई नाम हिन्दू-पुराणों मे भी प्राप्त होते हैं, जैसे—ऋषभ, भरत, सगर, सुभूम, रामचन्द्र, बलराम, कृष्ण, अश्वग्रीव (हयग्रीव), तारक, मधुकैटभ, निशुम्भ, वलि, प्रह्लाद, रावण और जरासंघ आदि। अतएव यदि जैन-पुराण और वैदिक-पुराणों के आधार से इनका तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाय तो निश्चित ही महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं।

इन ६३ महापुरुषों के अन्तर्गत बारह चक्रवर्तियों में प्रस्तुत महाकाव्य का नायक सनत्कुमार चौथा चक्रवर्त्ती है। अतः दोनों सम्प्रदायों में सनत्कुमार चक्रवर्त्ती महापुरुष का कथानक प्राप्त है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुष-सम्बन्धी श्वेताम्बर साहित्य इस प्रकार है—

१. महापुरुषचरित्र (चउप्पनमहापुरुषचरिय[1])—शीलांकाचार्य, र० सं० ६२५, भाषा प्राकृत, श्लोक परिमाण १००००।

आचार्य शीलांक ने ९ प्रतिवासुदेवों को प्रतिनायक एव वासुदेवों द्वारा वध्य होने से इन्हें स्वतन्त्र नहीं गिना है, इसीलिये ६३ के स्थान पर ५४ की प्रमुखता है। कथानक तो वासुदेवों के साथ सबद्ध है ही।

२. महापुरुषचरित्र[2]—अमरसूरि, भाषा प्राकृत, श्लोक परिमाण ८७६०।

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—हेमचन्द्राचार्य[3]।

४. " —विमलसूरि[4], शान्तिनाथ-चरित्र तक अपूर्ण ही प्राप्त है।

५. " —वज्रसेन[5]।

---

१. प्राकृत-ग्रंथ-परिषद्, वाराणसी से प्रकाशित।

२. अनुपलब्ध, जैन-ग्रथावली और बृहट्टिप्पनिका में उल्लेखमात्र प्राप्त है।

३. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित।

४. जैसलमेर-बृहद्ज्ञान-भण्डार में प्राप्त है।

५. जिनरत्नकोश पृ० १६५ में उल्लेख है, किन्तु पत्तनस्थ जैन भाण्डागारीय ग्रथसूची, पृ० ३०० और जैसलमेरुदुर्गस्थ जैन ताडपत्रीय ग्रथ-भण्डार का सूचीपत्र पृ० ६७ मे एक ही प्रशस्ति होने से यह ग्रथ विमलसूरि-प्रणीत ही है। वज्रसेन-रचित-ग्रंथ अनुपलब्ध है। हरि कवि ने कर्पूरप्रकरण मे अपने गुरु वज्रसेनसूरि को 'त्रिषष्टिसारप्रबन्ध' का कर्त्ता कहा है, अतः रचना अवश्य हुई है।

६. त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र—सिद्धसेन[1], गद्य।
७. „ (संक्षिप्त) —मेघविजयोपाध्याय[2]। इत्यादि।

दिगम्बर-साहित्य में भी एतत्सम्बन्धी प्रमुख-प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं—

१. उत्तरपुराण[3]	गुणभद्र	१०वी शताब्दी
२. महापुराण[4]	पुष्पदन्त	भाषा अपभ्रंश
३. „ [5]	मल्लिषेण	सं० ११०४।
४. चामुण्डपुराण[6]	चामुण्डराय	सं० १११५।
५. उत्तरपुराण[7]	सकलकीर्ति	
६. त्रिषष्टिशलाका महापुराण[8]	चन्द्रमुनि	

सनत्कुमार-सम्बन्धी स्वतन्त्र-चरित्र भी प्राप्त हैं जो निम्नोक्त हैं—

१. सनत्कुमारचक्रिचरितम्	जिनपालोपाध्याय
२. सनत्कुमारचरित्र	हरिभद्रसूरि[9]
३. „	श्रीचन्द्रसूरि[10] शिष्य देवेन्द्रसूरि
४. „	अज्ञातकर्तृक[11]

जैन कथा-साहित्य के अन्तर्गत सनत्कुमार-कथा निम्नांकित ग्रन्थों में प्राप्त होती है—

१. पउमचरियं[12]	विमलसूरि
२. वसुदेवहिण्डी[13]	सघदास वाचक गणि
३. उत्तराध्ययनसूत्र 'सुखबोधा' टीका[14]	नेमिचन्द्रसूरि

---

१. जिनरत्नकोश, पृ० १६५।
२. वही, पृ० ३३५।
३. भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित।
४. माणिकचन्द्र दि० जै० ग्रथमाला, बंबई से प्रकाशित।
५. जिनरत्नकोश, पृ० ६३, ३०५।
६. वही, पृ० १२२।
७. वही, पृ० ४२।
८. वही, पृ० १६३।
९. हरिभद्रसूरि-रचित सनत्कुमारचरित्र वस्तुतः नेमिनाथचरित्र का ही अंश है। यह चरित्र डॉ० हर्मन याकोबी द्वारा सम्पादित होकर सन् १९२१ में प्रकाशित हो चुका है।
१०. जिनरत्नकोश, पृ० ४१२।
११. वही, पृ० ४१२।
१२. प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी से प्रकाशित।
१३. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित।
१४. फूलचद खीमचंद, वलाद से प्रकाशित।

४. उपदेशमाला 'कर्णिका' टीका उदयप्रभसूरि
५. आख्यानकमणिकोश टीका।[1] आम्रदेवसूरि
६. कथारत्नकोश देवभद्रसूरि (र० सं० ११५८) प्रभाचन्द्र कथानक के अन्तर्गत 'सनत्कुमारनाटकप्रबन्ध'[2] आया है। इसमें इन्द्र के द्वारा सनत्कुमार की रूप-प्रशंसा से स्वर्गारोहण तक का वृत्तान्त है। भाषा प्राकृत है। बीच-बीच में पार्षदों द्वारा आश्चर्याभिव्यक्ति के रूप में संस्कृत-भाषा का प्रयोग हुआ है। नाटक साहित्य की दृष्टि से यह कृति महत्वपूर्ण है और दूसरी बात यह है कि सनत्कुमार के नाटकों का उस समय प्रचलन होना उसके महत्त्व को प्रकट करता है।
७. मरणसमाधि-प्रकीर्णक पद्य ४११ में उल्लेख प्राप्त है।

कथासार

१. विष्णुश्री-हरण-नामक प्रथम सर्ग—भरतक्षेत्र स्थित काञ्चनपुर नगर में विक्रमयशा नामक राजा राज्य करता है। इस राजा के पांच सौ रानियां हैं। इसी नगर में नागदत्त नाम का श्रेष्ठी निवास करता है जिसकी पत्नी विष्णुश्री अत्यधिक सुन्दरी है। एक समय विक्रमयशा की दृष्टि उस पर पड़ती है और वह उसके सौन्दर्य से मुग्ध एवं कामातुर होकर अपने सेवकों द्वारा विष्णुश्री का अपहरण कराकर अपने अन्तःपुर में ले आता है।

२. नृपप्रत्युज्जीवन-नामक द्वितीय सर्ग—नागदत्त विष्णुश्री के वियोग में पागल होकर घूमता है और इधर राजा विष्णुश्री के प्रेम मे कामान्ध होकर राज्य की तथा अन्तःपुर-स्थित अन्य रानियों की उपेक्षा कर देता है। अन्य रानियाँ इस दौर्भाग्य का कारण विष्णुश्री को ही समझती हैं और इसके फल-स्वरूप कामण-टूंमण करने वाले मान्त्रिकों के सहयोग से विष्णुश्री की हत्या करवा डालती है। विष्णुश्री का मरण सुनकर राजा विक्रमयशा भी मूर्च्छित हो जाता है। अनेक उपचारो के पश्चात् वह पुनरुज्जीवित होता है।

३. नृपनाकलोकगमन-नामक तृतीय सर्ग—विष्णुश्री के वियोग मे विलाप करता हुआ राजा उसके सौन्दर्य की अन्तिम झलक पाने के लिये श्मसान में जाता है। श्मसान में विष्णुश्री के शव से भयंकर दुर्गन्ध आती देखकर, राजा प्रबुद्ध होता है और अपने इस दुष्कर्म पर ऊहापोह करता हुआ वापिस राजभवन में आता है। इन्हीं दिनों काञ्चनपुर में आचार्य सुव्रतसूरि आते हैं।

---

१. प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी से प्रकाशित।
२. पृ० ३५० से ३५२; जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, संस्करण।

आचार्यश्री के उपदेश से, राजा विक्रमयशा वैराग्य-वासित होकर, राज्यवैभव का त्याग कर, महोत्सव के साथ दीक्षा-ग्रहण करता है। उग्र तपश्चर्या करता हुआ आयु पूर्ण करके सनत्कुमार नाम से वह मरणोपरान्त स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है।

४. पाखण्डि-प्रतिभापण-नामक चतुर्थ सर्ग--राजा विक्रमयशा का जीव सनत्कुमार स्वर्गलोक से च्युत होकर रत्नपुर नगर में जिनधर्म-नाम से उत्पन्न होता है। सद्गुरु के उपदेश से सम्यक्त्व-रत्न प्राप्त करता है, श्रावक के द्वादश-व्रत-ग्रहण करता है और मार्गानुसारी गुणों का पालन करता हुआ अपना समय धार्मिक कार्यों में व्यतीत करता है।

इधर श्रेष्ठी नागदत्त अपनी प्रियतमा विष्णुश्री के वियोग में पागल हो जाता है और इसी दशा में मृत्यु प्राप्त कर भृंगि (भौंरा) योनि में उत्पन्न होता है। वहां से च्युत होकर सिंहपुर नगर में निर्धन-कुल में अग्निशर्मा नाम से जन्म लेता है। माता-पिता की मृत्यु से अनाथ होकर, वह त्रिदण्डी (सन्यासी) बन जाता है और तपस्या करता हुआ एक समय रत्नपुर नगर में आता है। रत्नपुर का शैव राजा हरिवाहन अग्निशर्मा त्रिदण्डी को अपनी दो मास की तपस्या की पूर्णाहुति (पारणक) के लिये भक्तिपूर्वक आमन्त्रित करता है। अग्निशर्मा पारणे के लिये राजा की सभा में पहुंचता है और वहां जिनधर्म श्रेष्ठी को देखकर उसके हृदय में पूर्वभव का वैर जागृत होता है। फल-स्वरूप अग्निशर्मा राजा से कहता है कि "राजन्! यदि तुम मुझे इस जिनधर्म सेठ की पीठ पर गरम खीर परोस कर पारणा (भोजन) कराओगे तब ही करूंगा, अन्यथा नहीं।" राजा एवं सभासद उस त्रिदण्डी को समझाते हैं, किन्तु वह अपनी जिद पर अटल रहता है।

५. शक्राभ्युदय-नामक पञ्चम सर्ग—अग्निशर्मा त्रिदण्डी कहता है कि "राजन्! या तो प्रतिज्ञानुसार जिनधर्म की नंगी पीठ पर गरम खीर परोस कर पारणक करवा, अन्यथा मैं भूखा रहकर यहीं पर मर जाऊंगा। इस हत्या का पाप तुझे लगेगा।" राजा हरिवाहन दुविधा में पड़ जाता है। राजा की दुविधा देखकर जिनधर्म इस नीच-कार्य के लिये तत्पर हो जाता है। त्रिदण्डी की इच्छानुसार जिनधर्म की नंगी पीठ पर अत्युष्ण खीर का पात्र रखा जाता है और अग्निशर्मा स्वयं को कृतकृत्य समझ कर, प्रसन्नता अनुभव करता हुआ पारणक करता है। भोजनान्त पायस-पात्र हटाने पर जिनधर्म के पीठ की चमड़ी जल जाती है, हड्डियां और नसें बाहर निकल आती हैं तथा खून बह निकलता है। जनता हृदय में त्रिदण्डी की कदर्थना करती है। श्रेष्ठी जिनधर्म इस दुष्कर्म को अपने पूर्वजन्मों

के पापों का उदय मानता है और राजा तथा परिवार की आज्ञा प्राप्त कर गृह त्याग कर, कलिञ्जर नामक पर्वत पर अनशन कर लेता है। रुधिरसिक्त एवं निश्चल शरीर देखकर गिद्ध उसके शरीर को नोच डालते हैं। समाधि-पूर्वक मरण प्राप्त कर जिनधर्म सौधर्म देवलोक में दो सागरोपम की आयु वाला शक्रेन्द्र-रूप में उत्पन्न होता है और स्वर्गलोक के असीम-सौख्य का अनुभव करता हुआ समय व्यतीत करता है।

६. शक्र-प्रच्यवन-नामक षष्ठ सर्ग—अग्निशर्मा त्रिदण्डी भी अपने दुष्टकर्मों के कारण मरकर सौधर्मेन्द्र के ऐरावत गज के रूप में उत्पन्न होता है। पूर्वभव के वैर के कारण सौधर्मेन्द्र को अपनी पीठ पर बिठाना नहीं चाहता है, किन्तु इन्द्र अपने अंकुश की मार से उसको सीधा करता है। यहां से च्युत होकर त्रिदण्डो का जीव गज, व्यन्तर योनि में प्रकोपन-नामक देव होता है। सौधर्मेन्द्र स्वर्ग के सुखों का अनुभव कर, आयु पूर्ण होने पर चक्री रूप में उत्पन्न होता है।

७ कुमारोदय-नामक सप्तम सर्ग—कुरुजंगल देश की राजधानी हस्तिनापुर में अश्वसेन नामक राजा राज्य करता है। राजा के सहदेवी नामक प्राणवल्लभा है। विक्रमयशा राजा का जीव सौधर्मेन्द्र स्वर्गलोक से च्युत होकर सहदेवी रानी की कुक्षि में उत्पन्न होता है। इस समय रानी सहदेवी अपने आवास-गृह में सोती हुई, अर्द्धनिद्रावस्था में गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला युग्म, चन्द्र, सूर्य, ध्वज, पूर्णकुम्भ, पद्मसर, क्षीरसमुद्र, देवविमान और निर्धूम अग्निशिखा इन १४ स्वप्नों को अपने मुख में प्रवेश करती हुई देखती है। स्वप्नों को देखकर रानी जाग्रत् होती है और अपने स्वामी से इन स्वप्नों का फल पूछती है। राजा अश्वसेन भी स्वप्नों का फल चिन्तन कर कहता है कि—"प्रिये ! तुम्हें चक्रवर्ती पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी।" रानी सहदेवी गर्भ का नियमानुसार अच्छी तरह पालन करती है। यथासमय पुत्ररत्न का जन्म होता है। राजा बधाई सुन कर अतीव हर्षित होता है और एक मास तक पुत्र-जन्म की खुशी में उत्सव करता है।

८. यौवराज्याभिषेक-नामक अष्टम सर्ग—शुभ दिवस में राजा अश्वसेन परिजनों के समक्ष नवजात पुत्र का 'सनत्कुमार' नामकरण करता है। सनत्कुमार लालित-पालित होता हुआ और स्वजनों को अपनी बालोचित क्रीडाओं से लुभाता हुआ, क्रमशः युवावस्था को प्राप्त करता है। समस्त कलाओं में निपुणता प्राप्त करता है। महेन्द्रसिंह सनत्कुमार का अभिन्न मित्र है।

हस्तिनापुर का प्रधानामात्य सूर सनत्कुमार को सर्वगुणों एवं लक्षणों से

परिपूर्ण देखकर राजा अश्वसेन से निवेदन करता है कि—"महाराज ! सनत्कुमार को युवराज-पद प्रदान कीजिये।" राजा अश्वसेन कुमार को अपने समीप बुलाकर-राजनीति का उपदेश देता है और महोत्सव के साथ कुमार का यौवराज्याभिषेक करता है।

९. कुमारापहरण-नामक नवम सर्ग—वसन्त ऋतु के आगमन पर कुमार अपने अभिन्न मित्र महेन्द्रसिंह और अन्य साथियों के साथ क्रीडा हेतु अश्वों पर बैठ कर उद्यान में आता है। हजारों पौर लोग भी वसन्तोत्सव मनाने के लिये उद्यान में आते हैं। मागध (भाट) एवं मागधिका कुमार के सम्मुख सुन्दर उक्तियों द्वारा वसन्त ऋतु का वर्णन करते हैं। कुमार अपने साथियों के साथ दिन भर क्रीडा करते हैं। वह सायंकाल अपने घोड़े पर चढ़कर वापिस नगर की ओर चलता है। लौटते समय अश्व बिगड़ जाता है और कुमार को जंगल की ओर ले भागता है। कुमार के वापिस न लौटने पर राजा चारों तरफ कुमार की शोध करवाता है, पर पता नहीं चलता। इससे राजा, रानी और समस्त पौरवर्ग दुःखी हो जाता है।

१०. मित्रान्वेषण-नामक दशम सर्ग—सनत्कुमार की खोज न मिलने पर महेन्द्रसिंह अतीव दुःखी होता है और प्रतिज्ञा करता है कि "या तो मैं अपने मित्र को ढूंढ कर लाऊंगा अन्यथा वीरपत्नी की तरह चिता में भस्म हो जाऊंगा।" महेन्द्रसिंह प्रतिज्ञा करके कुमार को ढूंढने के लिये जंगल की ओर चल पड़ता है। क्रमशः ढूंढता हुआ महेन्द्रसिंह स्वयं एक राक्षसी के समान भयानक अटवी में पहुँच जाता है। ग्रीष्मऋतु आ जाती है। ग्राम, नगर, जंगल, पहाड़ आदि पर घूमते हुए महीनों व्यतीत हो जाते हैं परन्तु कुमार का पता नहीं लगता।

११. मित्र-समागम-नामक एकादश सर्ग—महेन्द्रसिंह कुमार की खोज में घूम रहा है। वर्षा ऋतु आ जाती है। नदी, सरोवर, बावड़ी द्रोणी आदि स्थानों में खोजते हुए महेन्द्रसिंह को एक वर्ष व्यतीत हो जाता है। अचानक एक सरोवर के निकट सतखण्डा महल देखता है। इसी समय महेन्द्रसिंह के दक्षिण अंग स्फुरित होते हैं। शुभ शकुन मान कर प्रासाद की ओर बढ़ता है। विद्याधर द्वारा गीयमान श्लोकों से 'आश्वसेनि' का नाम सुनकर वह प्रसन्न होता है और सीधा प्रासाद के उपरि भाग में पहुंच जाता है। वहां पर अपने मित्र सनत्कुमार को रति के समान प्रिया के साथ बैठा देख कर महेन्द्रसिंह की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। कुमार को देख कर महेन्द्रसिंह हर्षविभोर हो उठता है।

१२. यक्ष-दर्शन-नामक द्वादश सर्ग—एकाएक अपने सम्मुख अभिन्न मित्र

महेन्द्रसिंह को देख कर कुमार सिंहासन से उठा और महेन्द्रसिंह को गले लगा कर प्रेम से मिला। कुमार ने स्वजनों की कुशल-वार्त्ता पूछी और यहां तक पहुंचने का कारण पूछा। महेन्द्रसिंह ने प्रत्युत्तर में कहा कि तुम्हारे वियोग में न केवल माता-पिता ही अपितु समस्त पौरजन दुःखी है। बारह महीने से मैं तुम्हें ढूढता फिर रहा हूँ। इस प्रकार अपनी-बीती सुनाने के पश्चात् कुमार को आप-बीती सुनाने को कहा। इसी समय कुमार की पत्नी बकुलमती ने प्रज्ञप्ति-विद्या के प्रभाव से कुमार की आप-बीती सुनाते हुए कहा—"वह अश्व बिगड़कर भागता रहा और दूसरे दिन मध्याह्न के समय एक भयंकर अटवी में आकर रुक गया। मैं अश्व से नीचे उतरा। पिपासा के कारण कण्ठ सूख रहा था, इसलिये मैं पानी की खोज में चला, भटकता रहा पर पानी नहीं मिला। व्यथित होकर मूर्छा खा कर जमीन पर गिर पड़ा। इसी समय मेरे पुण्य से एक यक्ष उधर से निकला। उसने शीतलोपचारों से मेरी मूर्छा दूर की।"

१३. असिताक्ष-यक्ष-विजय-नामक त्रयोदश सर्ग—कुमार के सचेत होने पर यक्ष ने कुमार से इस अटवी में आने का कारण पूछा और स्वयं का परिचय देते हुए कहा कि मैं इस सप्तच्छद वृक्ष पर निवास करता हूँ। कुमार को प्यासा देखकर यक्ष ने पीने के लिये स्वच्छ जल प्रदान किया। पानी पी कर कुमार स्वस्थ हुआ। कुमार की स्नान करने की इच्छा देखकर, यक्ष उसे निकट के सरोवर पर ले गया। कुमार ने सरोवर में स्नान किया और प्रसन्नता के साथ सरोवर के किनारे घूमने लगा। इधर असिताक्ष-नामक यक्ष जो अपनी प्रेयसियों के साथ क्रीडा कर रहा था, कुमार को देखकर पूर्वभव में दयिता-हरण-वैर के कारण अत्यन्त क्रोधित हो उठा और कुमार को मारने के लिये दौड़ा। कुमार ने अचानक विपत्ति आती देखकर साहस से काम लिया। यक्ष के साथ कुमार का जमकर भयंकर युद्ध हुआ। आखिर में द्वन्द्व-युद्ध में कुमार ने उसे पूर्णरूप से पराजित कर दिया। मानव की देवों पर विजय देखकर देवांगनाओं ने कुमार का जय-जयकार किया और फूलों की वृष्टि की।

१४. चन्द्रोदय-वर्णन-नामक चतुर्दश सर्ग—यक्ष-विजयानन्तर कुमार ने आगे की ओर प्रस्थान किया। कुछ ही दूर जाने पर, कुमार ने विद्याधरपति भानुवेग की आठ राजकुमारिकाओं को गायन करते हुए देखा। कुमारिकायें अत्यन्त सौन्दर्यवती थीं। कुमारियों ने भी कुमार को देखा। कुमार के रूप-सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो उठीं और कुमार को आग्रह के साथ अपने महल मे ले आईं। चन्द्र की आह्लादकारिणी किरणों के सांनिध्य में कुमार ने रात्रि वही व्यतीत की।

१५. विवाह-मण्डपागमन-नामक पञ्चदश सर्ग— प्रभात होने पर सनत्कुमार शय्या-त्याग करता है और स्नानादि कार्यों से निवृत्त होता है। विद्याधरेश भानुवेग सनत्कुमार को अपने समीप बिठाकर कुशल-वार्ता के पश्चात् कहता है कि, कुमार ! मेरे आठ पुत्रियाँ हैं। इनके वर के सम्बन्ध में अर्चिमाली महामुनि ने कहा था कि असिताक्ष यक्ष पर विजय प्राप्त करने वाला इनका पति होगा। अतः आप इन्हें स्वीकार करे। कुमार की स्वीकृति के पश्चात् विवाह की तैयारियां होती हैं। शुभदिवस में कुमार बड़े आडम्बर के साथ तोरण मारने के लिये आता है और तोरण मारकर विवाह मण्डप (चवरी) में आकर बैठता है।

१६. शरद्वर्णन-नामक षोडश सर्ग—भानुवेग की आठों पुत्रियों का शुभ लग्न मे कुमार के साथ पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न होता है। भानुवेग कुमार को बड़ी ऋद्धि प्रदान करता है। विवाहानन्तर वास-भवन में कुमार अपनी प्रियतमाओं के साथ प्रहेलिका आदि से मनोरंजन करता हुआ सुख-पूर्वक सो जाता है। सोते हुए कुमार को असिताक्ष यक्ष वासभवन से उठाकर भयानक जंगल में छोड़ देता है। प्रातःकाल, निद्रा से उठने पर अपने को जगल में पाकर कुमार आश्चर्यचकित हो जाता है। अरण्य मे शरत्कालीन प्रकृति की मनोरम छटा बिखरी हुई है। कुमार कई दिवस इस अरण्य मे व्यतीत करता है।

१७. सुनन्दा-समागमन-नामक सप्तदश सर्ग—अटवी मे भ्रमण करते हुए कुमार को गिरिशिखर पर स्थित सप्तभ्रम प्रासाद नजर आता है। कुमार इस प्रासाद का अवलोकन करता हुआ देखता है कि एक अतीव सुन्दरी रमणी शोकातुर बैठी हुई विलाप करती हुई, कह रही है कि "अश्वसेन का पुत्र सनत्कुमार ही मेरा रक्षक है।" रमणी के मुख से अपना नाम सुनकर कुमार उससे पूछता है—"तुम कौन हो, दुःखी कैसे हो, और सनत्कुमार कौन है ?"

१८. प्रज्ञप्तिलाभ-नामक अष्टादश सर्ग—रमणी प्रत्युत्तर देती है—"साकेतनगर के भूपति सुराष्ट्र की मैं पुत्री हूँ, मेरी माता का नाम महादेवी चन्द्रयशा है और मेरा नाम सुनन्दा है। एकदा एक नैमित्तिक ने मेरे पिता से कहा था कि आपकी यह पुत्री बड़ी सौभाग्यशालिनी है, स्त्रीरत्न है, असिताक्षयक्ष-विजयी सनत्कुमार उसका वल्लभ होगा। उसी दिन से मै सनत्कुमार को हृदय से वरण कर चुकी हूँ, रात-दिवस उसी का स्मरण करती रहती हूँ। विद्युद्वेग नाम का विद्याधर मुझे हरण कर यहाँ लाया है। वह विद्या-साधन कर रहा है, आज सातवां दिन है, विद्या सिद्ध होते ही वह मेरे साथ जबरदस्ती विवाह करेगा ; इसलिये मैं विलाप कर रही हूँ, मेरा पति तो सनत्कुमार ही है।" इसी समय

विद्युद्वेग विद्या सिद्ध करके वहाँ आता है और कुमार को देखकर, क्रोधित होकर युद्ध करता है। कुमार उसको युद्ध मे मार गिराता है। सुनन्दा हर्षित होकर कुमार का परिचय पूछती है। कुमार अपना परिचय देता है और वहीं पर दोनों का पाणिग्रहण हो जाता है। इसी समय विद्युद्वेग की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रतिशोध की भावना से उसकी बहिन आती है किन्तु कुमार के रूप-यौवनश्री को देखकर मुग्ध हो जाती है और कुमार से विवाह कर लेती है। भविष्य में विग्रह की सम्भावना देख कर विद्युद्वेग की बहिन कुमार को प्रज्ञप्ति-नाम की महाविद्या तीन हजार विद्याओं के साथ प्रदान करती है।

१९. सभाक्षोभवर्णन-नामक एकोनविंशति सर्ग—दोनों प्रियाओं के साथ कुमार मनोरञ्जन करता हुआ बैठा है। इसी समय हरिश्चन्द्र और चन्द्रसेन विद्याधर-पुत्र आते हैं और कहते है कि "हम चण्डवेग और भानुवेग खेचर-नायक के पुत्र हैं। देवर्षि नारद के मुख से रत्नपुराधिपति विद्याधर-नायक अशनिवेग अपने पुत्र की मृत्यु का संवाद सुनकर बहुत क्रोधित हो गया है और उसने आपका तथा आपके समस्त कुल का क्षय करने की प्रतिज्ञा की है।" कुमार इन वाक्यों को सुनकर उपेक्षा कर देता है और कहता है कि "पुत्र की तरह पिता की भी गति होगी।" इधर अशनिवेग ने भानुवेग (कुमार के श्वसुर) की सभा में अपना दूत भेजकर कहलाया कि "अपना भला चाहते हो तो कुमार को हमारे दूत के साथ भेज दो, अन्यथा तुम्हारा भी नाश होगा।" दूत के मुख से सुनकर भानुवेग, उसके पुत्र तथा समस्त सभासद अत्यन्त क्षुब्ध हुए और दूत का तिरस्कार कर, अर्धचन्द्राकार (कण्ठ पकड़कर) देकर, धक्का देकर निकाल दिया।

२०. संकीर्णयुद्ध-नामक विंशति सर्ग—दूत के मुख से तिरस्कारपूर्ण अपमान के वाक्य सुनकर अशनिवेग क्रोधित होकर विशाल सेना के साथ भानुवेग पर आक्रमण करने के लिये प्रयाण करता है। इधर हरिश्चन्द्र और चन्द्रसेन की वाहिनी तथा भानुवेग की सेना के साथ कुमार भी युद्ध-भूमि में पहुँच जाता है। दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध होता है, खून की नदी बह निकलती है।

२१. रिपुविजय-नाम एकविंशति सर्ग—समरांगण में अशनिवेग के श्यालक सदागति, पुत्र महावेग तथा सेनापति चण्डवेग, चित्रवेगादि की मृत्यु देख कर अशनिवेग स्वयं युद्ध का संचालन करता है और भयंकर युद्ध करता है। कुमार पर शक्ति का प्रहार करता है जिसे कुमार तीक्ष्ण बाणों से समाप्त कर देता है। पश्चात् अशनिवेग और कुमार का आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, वायव्यास्त्रादि अस्त्रों के द्वारा भीषण युद्ध होता है; अन्त में कुमार चक्र का प्रयोग करता है

जो अशनिवेग के शिर को पुष्प की तरह भूमिसात् कर देता है। अशनिवेग मारा जाता है। कुमार की विजय होती है। देवतागण तथा देवांगनायें आकाश से पुष्पवृष्टि करती हुई जय-जयकार करती हैं।

२२. गजपुर-प्रत्यागमन-नामक द्वाविंशति सर्ग—रिपुविजय के अनन्तर कुमार ने वैताढ्य पर्वत, सिद्धकूटादि पर विजय प्राप्त की और सुनन्दा के साथ अशनिवेग के नगर रत्नपुर मे प्रवेश किया। राज्योत्सव हुआ। अशनिवेग की पुत्री बकुलमती का सौ लड़कियों के साथ कुमार ने विवाह किया। रोहिणी आदि विद्यायें प्रदान की और भानुवेग ने स्वयं का राज्य भी कुमार को अर्पित कर दिया। कुमार सुनन्दा के साथ क्रीडार्थ इस स्थान पर आये हुये हैं।

इस प्रकार बकुलमती के मुख से कुमार का अपूर्व-चरित्र सुनकर महेन्द्रसिंह प्रमुदित होता है। कुछ समय पश्चात् महेन्द्रसिंह कुमार को माता-पिता की वियोगपूर्ण स्थिति का ध्यान कराता हुआ हस्तिनापुर चलने का आग्रह करता है और कुमार समग्र सेना के साथ माता-पिता के चरणों में पहुँचने के लिये हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान कर देता है।

२३. देवागमन-नामक त्रयोविंशति सर्ग—क्रमशः प्रस्थान करता हुआ कुमार हस्तिनापुर पहुँचता है। बड़े आडम्बर के साथ नगर-प्रवेशोत्सव होता है। कुमार माता-पिता से मिलता है। समस्त लोग कुमार को पुनः प्राप्त कर सुखी एवं प्रसन्न होते हैं।

यथासमय चक्रवर्ती के चौदह रत्न उत्पन्न होते हैं। सनत्कुमार षट्खण्ड पर दिग्विजय कर सार्वभौम चक्रवर्ती-पद धारण करता है।

एक समय चक्री सनत्कुमार तैल-मर्दन करवा रहा था। उसी समय द्वारपाल ने आकर कहा कि दो वैदेशिक ब्राह्मण आपके दर्शनों के इच्छुक हैं। आज्ञा प्राप्त कर दोनों ब्राह्मण आते हैं और सनत्कुमार का रूप और कांति देखकर, हर्षित होकर देहदीप्ति की प्रशंसा करते हैं। अपने रूप की प्रशंसा सुनकर चक्री को अहंकार आता है और कहता है "अभी क्या देखते हो, जब मैं राजसभा में बैठूं तब मेरा रूप देखना।" दोनों ब्राह्मण डेरे पर चले जाते हैं। सनत्कुमार विशेष सज-धज के साथ राजसभा मे बैठकर दोनों ब्राह्मणों को बुलाता है। दोनों आते हैं और सनत्कुमार के शरीर को श्रीहीन देखकर, दुखी होकर शिर धुनने लगते हैं। चक्रवर्ती इन ब्राह्मणों से इसका रहस्य पूछता है तब वे कहते हैं:—

महाराज ! स्वर्गलोक में इन्द्र ने कहा था कि इस समय देवताओं से भी अधिक रूपवान् सनत्कुमार मानव है। हमें वैजयन्तक और जयन्तक दोनों को

विश्वास नहीं हुआ इसलिये ब्राह्मण-रूप धारण करके हम आये। तैलाभ्यंग के समय आपके सौन्दर्य को देखकर, इन्द्र के वचनों पर विश्वास हुआ था, किन्तु इस समय आपके शरीर में अनेको भयंकर रोग उत्पन्न हो गये हैं, देह-दीप्ति नष्ट हो गई है और अब आपकी आयु भी केवल ६ मास शेष रह गई है। वस्तुतः मानव-देह क्षणभंगुर है और शरीर व्याधियों का मन्दिर है। आप अपना आत्म-साधन करें। इतना कहकर दोनों देव चले गये।

सनत्कुमार ने भी दर्पण में अपनी मुख की छाया देखी, श्रीहीन एवं म्लान नजर आई। शरीर की नश्वरता से वैराग्य उत्पन्न हुआ।

२४. शुभफलोदय-नामक चतुर्विंशति सर्ग—वैराग्य उत्पन्न होते ही सनत्कुमार ने समस्त ऐश्वर्य एवं स्वजनों का त्याग कर, विनयंधर नामक आचार्य के पास में दीक्षा ग्रहण करली। सनत्कुमार की रानियां और समस्त परिजन छह मास पर्यन्त इनको वापिस लौटाने के लिये इनके पीछे-पीछे फिरते रहे और अन्त में हताश होकर वापिस लौट गये।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् मुनि सनत्कुमार अत्युग्र तपस्या करने लगे। पारणक में केवल अजातक्र ग्रहण करते थे। इससे इनके शरीर में कुष्ठ, श्वास, उदरशूल आदि ७ भयंकर व्याधियां उत्पन्न हो गईं, किन्तु सनत्कुमार इन व्याधियों की तरफ ध्यान न देकर पूर्ववत् उग्र तपस्या में सलग्न रहे। तपस्या के प्रभाव से स्पर्शौषधि, आमर्षौषधि आदि सात लब्धियां उत्पन्न होती हैं। एक बार पुनः सनत्कुमार के धैर्य की परीक्षा करने के लिये देव वैद्य का रूप बनाकर सनत्कुमार के पास आता है और चिकित्सा करने की इच्छा प्रकट करता है। सनत्कुमार उस वैद्य से कहता है—वैद्य ! तुम शरीर की चिकित्सा करते हो या आत्मा की ? यदि आत्मा की चिकित्सा करते हो तो करो। शरीर की चिकित्सा तो मैं स्वयं भी कर सकता हूँ, यह कहकर अपने हाथ की अंगुली पर अपना थूक लगाकर कंचन के समान बनाकर दिखाते हैं। सनत्कुमार का यह प्रभाव और धैर्य देखकर वैद्यरूपधारी देव अपने स्वरूप को प्रकट करता है, क्षमा मांगता है और मुनि की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ पुनः स्वर्गलोक को चला जाता है।

अन्त में संलेखना तथा पादपोपगमन-अनशन करके, तीन लाख वर्ष की आयु पूर्ण करके, जिनेन्द्र का स्मरण करते हुए मुनि सनत्कुमार स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत कथा में अन्तर

जिनपाल-प्रणीत सनत्कुमारचक्रिचरितं के कथानक में तथा अन्यत्र वर्णित (श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-साहित्य में) कथानक मे जो अन्तर प्राप्त होता है वह निम्नोक्त है:—

श्वेताम्बर-कथा-साहित्य में—

१. विमलसूरिप्रणीत पउमचरियं (रचना-समय चौथी शताब्दी) के २० वें उद्देशक मे पद्य ११२ से १३२ तक में सनत्कुमार का कथानक अतीव संक्षेप रूप में प्राप्त है। इस कथानक में विशेष अन्तर होने से इसका अविकल अनुवाद प्रस्तुत है:—

"इस भरतक्षेत्र मे गोवर्धन नाम का एक गांव है। वहां श्रावक-कुल में उत्पन्न जिनदत्त नाम का एक गृहपति था। सागार तप करके मरने पर उसने अच्छी गति प्राप्त की। उसकी भार्या विनयवती ने उसके वियोग में अति विशाल जिनमन्दिर बनवाया। दृढचित्तवाली वह प्रव्रज्या अंगीकार करके मर गई। उसी गांव में मेघबाहु-नाम का एक गृहस्थ रहता था। वह भद्र, सम्यग्दृष्टि, धीर और उत्साहशील था। जिन-मन्दिर मे विनयवती द्वारा की गई महापूजा उसने देखी। उसे श्रद्धा हुई। मरने पर वह यक्षरूप से उत्पन्न हुआ। जिन-शासन में अनुरक्त तथा विशुद्ध सम्यक्त्व में दृढ भाववाला वह चतुर्विध श्रमण संघ की सेवा-शुश्रूषा करता था। वहां से च्युत होने पर महापुर में सुप्रभ की भार्या तिलकसुन्दरी से धर्मरुचि-नाम का राजा हुआ। वह सुप्रभ-मुनि के व्रत, समिति और गुप्ति से सम्पन्न, शंका आदि दोषों से रहित और अपने देह में भी अनासक्त ऐसा शिष्य हुआ। सघ में श्रद्धा-सम्पन्न, सेवा-परायण और गुणों से महान् ऐसा वह मर करके माहेन्द्र देवलोक में उत्तम देव हुआ। देव-विमान से च्युत होने पर वह सहदेव राजा की पत्नी से गजपुर नगर में सनत्कुमार-नाम का चक्रवर्ती हुआ।"[1]

सौधर्माधिपति से रूप-वर्णन और दीक्षा-ग्रहण तक प्रसंग समान है। व्याधि-चिकित्सा के लिये इसमें देवागमन का उल्लेख नहीं है, केवल यही लिखा है कि —'सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ली और घोर तपश्चर्या करने लगा। अनेक

---

१. पुण्यविजय : पउमचरियं, पृ० १९१, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी।

लब्धियों और सुन्दर शक्तियों से सम्पन्न उसने रोगों को सहन किया। तब मर करके वह सनत्कुमार स्वर्ग में गया।''[1]

२. संघदास गणि वाचक (अनुमानतः विक्रम की छठी शताब्दी)-विरचित 'वसुदेवहिण्डी' प्रथम खण्ड के मदनवेगालम्भक-नामक १४वें लम्भक में वर्णित सनत्कुमार-कथानक में पूर्वभव, सनत्कुमार को जलधिकल्लोल अश्व द्वारा अटवी में ले जाना, सुन्दरियों से विवाह, विद्याधरों से युद्ध आदि के प्रसंग नहीं हैं। सामान्य कथानक एकसा ही है। सुषेणा (मदनवेगा का पूर्वभव) का सनत्कुमार से विवाह अवश्य होता है किन्तु वह अपमानिता है—यह विशेषता है।

३. शीलांकाचार्य-रचित चउप्पनमहापुरुषचरियं' में प्रतिपादित सनत्कुमार चक्री की कथा में केवल सनत्कुमार के पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त नहीं है। कथानक समान है। हां, सनत्कुमार के पिता का नाम अश्वसेन के स्थान पर विश्वसेन का प्रयोग है जो जिनपाल ने भी कई स्थानों पर प्रयोग किया है तथा विनयंधर के स्थान पर विजयसेनाचार्य का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कथानक में कोई भिन्नता नही है।

४. 'उत्तराध्ययन-सूत्र' के १८वां संयती-नामक अध्ययन की गाथा ३७ की 'सुखबोधा' नामक व्याख्या में नेमिचन्द्राचार्य (र०स० ११२९) ने प्राकृतगद्य मे सनत्कुमार की कथा का विस्तार से वर्णन किया है। कथा-सूत्र में कोई अन्तर नहीं है। नामों में यत्किंचित् अन्तर अवश्य है, सुनन्दा के पिता का नाम साकेत का सूरप्रभ है। सनत्कुमार के अनशन का स्थान सम्मेतशिखर तीर्थ लिखा है।

'उत्तराध्ययन-सूत्र' के चित्रसम्भूति-नामक १३वे अध्ययन में सनत्कुमार का उल्लेख अवश्य आया है। सम्भूति का निदान करने का कारण सनत्कुमार की पत्नी (स्त्रीरत्न) का वन्दन करते हुए केशों का स्पर्श कहा गया है।

५. नेमिचन्द्रसूरिरचित 'आख्यानकमणिकोश'[2] के व्याख्याकार आम्रदेवसूरि (र० सं० ११९०) ने पद्य ५२ की व्याख्या में सनत्कुमार का चरित्र १६७ पद्यों में गुम्फित किया है। भाषा प्राकृत है। इस कथा में एक तो पूर्वभवों का वर्णन नहीं है और दूसरी बात बकुलमती के मुख से असिताक्षयक्ष-पराजय तक का ही वृत्तान्त कहलाया गया है। अर्थात् भानुवेग की आठ कन्याओं से विवाह, वज्रवेग, अशनिवेग का हनन, बकुलमती आदि से पाणिग्रहण आदि घटनाओं का उल्लेख नहीं

---

१. पुण्यविजय : पउमचरिय, पृ० १९२।

२. प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी से प्रकाशित पृ० ३६२-३६७।

है। अन्य कथानक एकसा ही है। इसमें हस्तिनापुर के स्थान पर गजपुर और अश्वसेन के स्थान पर विश्वसेन का उल्लेख है। (पद्य ३६ से ७४ तक पुरुष लक्षण (सामुद्रिक शास्त्र) का और पद्य ११९ से ११४ तक द्रव्यव्याधि और भावव्याधि का विस्तार से सुन्दर विश्लेषण किया है—यह वैशिष्ट्य है।

६. हेमचन्द्राचार्यप्रणीत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र', पर्व ४, सर्ग ७ में प्रतिपादित कथानक और प्रस्तुत कथानक में तनिक भी अन्तर नहीं है, केवल कहीं-कहीं पर नामभेद अवश्य हैं जैसे विद्युद्वेग का वज्रवेग आदि।

७. हरिभद्रसूरिरचित 'सनत्कुमार-चरित्र' में पूर्वभवों का वर्णन नहीं है। सनत्कुमार की माता का नाम सुहदेवी है और वसन्तऋतु मे एक दिन सनत्कुमार एक सुन्दरी को देखता है, दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो जाते हैं। इसी बीच भोजराज-पुत्र कुमार को एक जलधिकल्लोल-नामक एक प्रसिद्ध घोड़ा देता है जो कुमार को लेकर उड़ जाता है—इतना विशेष है और बाकी कथानक में समानता है।

८. धर्मदासगणिरचित 'उपदेशमाला' की उदयप्रभसूरिप्रणीत 'कर्णिका' टीका में (र० सं० १२९९) पद्य २८ की व्याख्या में २२२ पद्यों में सनत्कुमार की कथा प्रतिपादित है। कथानक में कोई अन्तर नहीं है। यत्किंचित् नामो में अन्तर तो अवश्य ही उपलब्ध होता है जैसे—महेन्द्रसिंह के पिता का नाम कालिन्दीसूर है।

दिगम्बर-कथा-साहित्य में—

प्रस्तुत महाकाव्य की कथा में और दिगम्बर-साहित्य में प्रतिपादित कथा में विशेष अन्तर है। दिगम्बर-कथाओं में सनत्कुमार की कथा एक सामान्य कथा-मात्र है, चरित्र और घटनाओं में कोई विशेषता नहीं है। न तो सनत्कुमार के पूर्वभवों का वर्णन है, न सुन्दरियों के साथ विवाह और युद्धादि का प्रसंग है तथा न सनत्कुमार की महाव्याधियों का ही वर्णन है। उदाहरणार्थ आचार्य गुणभद्र-रचित 'उत्तरपुराण' ६१ वां पर्व, पद्य १०३ से १३० तक का सारांश द्रष्टव्य है :—

अयोध्यानगरी के सूर्यवंशी राजा अनन्तवीर्य की सहदेवी रानी के सोलहवें स्वर्ग से आकर सनत्कुमार-नाम का पुत्र हुआ। उसने समस्त पृथ्वी को जीतकर अपने अधीन करली थी। चक्रवर्ती था। एक समय सौधर्मेन्द्र ने कहा कि इन्द्र से भी अधिक रूपसम्पन्न सनत्कुमार चक्रवर्ती है। इस बात की परीक्षा के लिये दो देव आते हैं और सौधर्मेन्द्र की उक्ति के अनुसार चक्रवर्ती का सौन्दर्य देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। अपना परिचय देते हुऐ वे कहते हैं—यदि

इस संसार में आपके लिये रोग, बुढ़ापा, दुःख तथा मरण की संभावना न हो तो आप अपने सौन्दर्य से तीर्थंकर को भी जीत सकते हैं—ऐसा कहकर देव चले जाते हैं। सनत्कुमार प्रतिबुद्ध होकर, अपने पुत्र देवकुमार को राज्य देकर, शिवगुप्त जिनेन्द्र के पास दीक्षा-ग्रहण कर लेता है। मुनि-धर्म का पालन कर केवलज्ञान को प्राप्त करता है और अन्त मे मुक्ति को प्राप्त करता है।

इस कथानक मे सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय बात यह है कि सनत्कुमार का केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाना। आचार्य गुणभद्र ने इस बात का उल्लेख किस आधार से एवं कैसे कर दिया ? जब कि गुणभद्र के पूर्ववर्ती दिगम्बर सम्प्रदाय के ही महामान्य आचार्य यति वृषभ 'तिलोयपण्णत्ती' में सनत्कुमार का स्वर्ग जाना स्वीकार करते हैं:—

"अट्ठेव गया मोक्खं बम्ह-सुभउमा या सत्तमं पुढविं।
मघवस्सणक्कुमारा सणक्कुमार गआ कप्पं॥

[चतुर्थ महाधिकार पद्य १४१०]

श्वेताम्बर-साहित्य में तो सनत्कुमार का स्वर्ग जाना प्रसिद्ध ही है। अस्तु।

उपरोक्त ग्रन्थों में सनत्कुमार-कथानक में जो विशेष पार्थक्य है उसका सारांश निम्न प्रकार है:—

१. पूर्वभवों का वर्णन केवल सुखावबोधा, त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र और उपदेशमालाकर्णिका मे ही प्राप्त है, अन्य ग्रन्थों मे नही। 'पउमचरिय' में प्राप्त अवश्य है जिसके अनुसार सनत्कुमार का जीव गोवर्धन गांव निवासी मेघबाहु है, यहां से मरण प्राप्त कर महापुर नगर के राजा सुपुत्र का पुत्र धर्मरुचि होता है और यहां से च्युत होकर सनत्कुमार का जाना ग्रहण करता है।

२. उपरोक्त ग्रन्थों के अनुसार सौधर्म देवलोक से च्युत होकर सनत्कुमार का जन्म धारण करता है, जब कि 'पउमचरियं' के अनुसार माहेन्द्र देवलोक से और उत्तरपुराण के अनुसार १६ वें देवलोक से।

३. हस्तिनापुर या गजपुर के स्थान पर केवल उत्तरपुराण में अयोध्या-नगरी का उल्लेख है।

४. सनत्कुमार के पिता का नाम अश्वसेन या विश्वसेन के स्थान पर पउम-चरियं मे सहदेव और उत्तरपुराण मे अनन्तवीर्य है।

५. जलधिकल्लोल अश्व द्वारा हरण, सुन्दरियों से विवाह, विद्याधरों से युद्ध आदि का वर्णन 'वसुदेवहिण्डी', 'पउमचरियं' और 'उत्तरपुराण' मे नही है।

'आख्यानकमणिकोष' में असिताक्ष-यक्ष-विजय तक का ही उल्लेख है, आगे का अशनिवेगादि के साथ के युद्धो का उल्लेख नहीं है।

६. षट्खण्डविजय, इन्द्र द्वारा रूप-प्रशंसा से लेकर स्वर्गारोहण तक का वर्णन समस्त ग्रंथों में प्राप्त है किन्तु, पउमचरियं और उत्तरपुराण में दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् देवयुगल द्वारा वैद्यों का रूप धारण कर परीक्षण का प्रसंग नहीं है।

७. समग्र ग्रन्थों में सनत्कुमार के शरीर में उत्पन्न ७ महाव्याधियों का उल्लेख मिलता है जब कि मरणसमाधिप्रकीर्णक में १६ महाव्याधियों का उल्लेख है। पउमचरियं और उत्तरपुराण में व्याधियों का उल्लेख नही है।

८. सब कथाओं मे सनत्कुमार मरण-धर्म को प्राप्त कर सनत्कुमार-नामक देवलोक में उत्पन्न होता है। पउमचरियं मे स्वर्गलोक का नाम नहीं है तथा उत्तरपुराण के अनुसार सनत्कुमार मोक्ष प्राप्त करता है।

सनत्कुमारचक्रिचरितं का महाकाव्यत्व

किसी उदात्त-चरित का सविस्तार उदात्तशैली में राष्ट्रीय भावभूमि में प्रस्तुतीकरण प्रबन्ध-काव्य को महाकाव्य-संज्ञा का अधिकारी बना देता है। भारत और पश्चिमी देशों में महाकाव्य के विषय में प्रचलित विभिन्न मतों का सारांश इस वाक्य में आ जाता है। इस दृष्टि से 'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' एक उच्चकोटि का महाकाव्य है।

भारतीय दृष्टिकोण से इसमें महाकाव्य के ये लक्षण प्राप्त हैं :—

(१) यह एक सर्गबद्ध कृति है। इसमे जैनसूत्रों और पुराणों में प्रसिद्ध बारह चक्रवर्तियो में से चतुर्थ सनत्कुमार का चरित २४ सर्गो में निबद्ध किया गया है।

(२) नियमानुसार इसमें प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है और सर्गान्त मे छन्द-परिवर्तन हो जाता है। १३.१४ और १५वें सर्गों में छन्दो-बाहुल्य है।

(३) नायक पुराण-प्रसिद्ध व्यक्ति है। उसके साधनाशील व्यक्तित्व में धीरोदात्त नायक के गुणों का यथोचित समावेश है।

(४) इस महाकाव्य का मुख्य रस शान्त है। शृंगारादि अन्य रस उसी को पुष्ट करते हैं।

(५) इस महाकाव्य का उद्देश्य पुरुषार्थ-चतुष्टय की संसिद्धि है।

(६) इसकी शैली में काव्य-सौष्ठव और काव्य के अन्य समस्त गुण विकसित रूप में मिलते हैं।

(७) कथानक के विस्तार के लिये इसमें विविध प्राकृतिक उपादानों का वर्णन मिलता है।

(८) इस महाकाव्य का कथानक जैन-पुराणेतिहास से सम्बन्ध रखता है। सनत्कुमार का वृत्त लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध रहा है।

डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित के अनुसार घटना-बाहुल्य और उनके कलात्मक संयोजन के कारण इस महाकाव्य में नाटकों के ढंग की सक्रियता मिलती है[1]। उनके मतानुसार नाटक की पांचों कार्यावस्थाएँ इसमें इस प्रकार मिलती हैं—

१. प्रारम्भ—सनत्कुमार के पूर्वभव के वर्णन से लेकर वसन्तक्रीडा के लिये उपवन में जाने तथा अदृश्य होने तक की घटनाएँ। इससे भावी घटनाओं के प्रति औत्सुक्य उत्पन्न होता है।

२. प्रयत्न—वन में मूर्च्छित होने के प्रसंग से लेकर असिताक्ष-यक्ष से युद्ध होने तक की कथा। इसमें कथा तीव्रगति से आगे बढती है।

३. प्राप्त्याशा—सनत्कुमार के भानुवेग की आठ कन्याओं से विवाह करने के प्रसंग से लेकर विद्याधर-भगिनी से प्रज्ञप्तिविद्या प्राप्त करने के प्रसंग तक। इसमें सनत्कुमार के भावी अभ्युदय चक्रित्व-प्राप्ति का विश्वास होता है। साथ ही असिताक्ष द्वारा सनत्कुमार को वन में पहुंचा देने तथा अन्य बाधाओं के कारण आशंका भी बनी रहती है।

४. नियताप्ति—सनत्कुमार की युद्ध-यात्रा, भानुवेग और चण्डवेग का सहयोग आदि घटनाएँ नियताप्ति के अन्तर्गत आती हैं।

५. फलागम—स्वयं चक्रवर्ती बनना, बकुलमती से विवाह करके घर लौटना और राज्यप्राप्ति फलागम हैं। कथानक को यहां समाप्त हो जाना चाहिए, किन्तु कथानक को शान्तरस-पर्यवसायी बनाने के लिये अन्तिम सर्ग में सनत्कुमार द्वारा तीव्र तपस्या करने और मृत्यु के बाद शिवत्व प्राप्त करने का उल्लेख और किया गया है[2]।

वस्तुतः महाकाव्य के नायक को मिलने वाला फल शिवत्व की संसिद्धि ही

१. तेरहवी चौदहवी शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य (शोधप्रबन्ध) पृ० २४४।

२. तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन महाकाव्य (शोधप्रबन्ध) पृ० २४५।

है। इसलिए फलागम की स्थिति शिवत्व प्राप्त करना ही है। सनत्कुमार के सारे प्रयत्न इसी के लिये हैं। चक्रवर्तित्व की संसिद्धि भी शिवत्व की साधना का ही अंग है। अकिंचन का त्याग त्याग नहीं होता। विरह का अनुभव तो साधारण श्रमिक भी करता है, परन्तु भावना की सघनता के लिये अधिक कोमल-वृत्ति के यक्ष की कल्पना कालिदास ने की है। इसी तरह शिवत्व की ससिद्धि तो साधारण साधक की भी हो सकती है, परन्तु इस महाकाव्य का उद्देश्य तो यह दिखाना है कि चक्रवर्ती शिवत्व के लिये कैसे प्रयत्न करता है? इतने ऊँचे स्थान पर पहुंचना और इस लाभ का उपयोग शिवत्व-सिद्धि के लिये करना—यह है काव्य का मुख्य विषय। इसमे सनत्कुमार को एक से अधिक जन्म लगा देने पड़े हैं। इसलिये चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति नियताप्ति की स्थिति मानी जानी चाहिए। इतना ऊँचा पद पाकर कोई निरापद भोगों मे फंसकर अवगति की ओर भी जा सकता है—इस सम्भावना के कारण यहां द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है। प्राप्त्याशा की स्थिति मित्र-समागम-नामक सर्ग में स्वीकार की जानी चाहिए। प्रज्ञप्तिविद्या-प्राप्ति का उल्लेख यहीं अगले सर्ग में हुआ है। यह अश महाकाव्य का लगभग मध्यवर्ती है।

विक्रमयशा के रूप मे श्मशान मे विष्णुश्री को मृतावस्था में देखकर विरक्ति का अनुभव करना—शिवत्व की ओर गति का प्रारभ है। यही ऊर्ध्वमुखी साधना का साधक में बीजारोपण होता है। आगे के प्रयत्न वैराग्य के बिरवे को अभिसिंचित करने की दिशा में है।

योगसाधना का परमावस्था का नाम ही शिवत्व या कैवल्यपद है। इसे ही बौद्ध आर्यों का गोचर, पौराणिक गोलोकधाम और वेदानुयायी गोष्पद, इळस्पद या दिव्य आर्यभूमि कहते हैं जो साधक की उत्कृष्ट मनोभूमि का नाम है। मन का विग्रह वैराग्य और अभ्यास से होता है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'[1], सनत्कुमार मे विरक्ति का भाव विक्रमयशा-भव में श्मशान में जागता है और अभ्यास से मनोनिग्रह का प्रयत्न चलता रहता है। इसी प्रक्रम मे वह चक्रवर्ती बन जाता है; परन्तु इतना ऊचा पद भी उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति से विरत नही कर सका।

डॉ० दीक्षित ने इसमें पंच सन्धियों की योजना को भी खोजा है[2]। इस

---

१. भगवद्गीता।

२. तेरहवी चौदहवी शताब्दी के जैन महाकाव्य, पृ० २४५, २४६।

महाकाव्य का प्रारम्भ परम्परागत ढंग से मंगलाचरण के साथ हुआ है। महाकाव्य का नामकरण इसके नायक सनत्कुमार चक्रवर्ती के नाम से सम्बद्ध है। प्रत्येक सर्ग का नामकरण भी उसमे वर्णित प्रमुख घटना के आधार पर हुआ है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों के अनुसार महाकाव्य की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय होनी चाहिए। इस महाकाव्य में भारतीय सांस्कृतिक-परम्परा का यथोचित निर्वाह किया गया है। निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय की हमारी जातीय-विशेषता का दर्शन इस महाकाव्य में सर्वत्र होता है। अनेक जन्म लेकर कर्म-सस्कारपूर्वक प्रज्ञोपलब्धि इस महाकाव्य का प्रमुख विषय है।

इसमें पौराणिक शैली का मिश्रण भी हुआ है। इसमें मानवता को सर्वोपरि माना गया है। मानव साधना के बल पर इन्द्र पद को भी पा लेते हैं। यही क्यों ? उसे परमसिद्धि—कैवल्यपाने में मार्गविरोध समझ कर चक्रवर्तित्व को त्याग भी देते हैं।

यह महाकाव्य चमत्कार-प्रधान महाकाव्य है; परन्तु इस परम्परा के अन्य कवियों की तरह जिनपाल ने छोटे कथानक को बृहद्रूप नहीं दिया; वरन् विस्तृत-कथा का सुन्दर ढंग से संयोजन किया है। डॉ० दीक्षित ने इसे पौराणिक महाकाव्य माना है[1]। इसका तात्पर्य केवल इतना ही होना चाहिए कि इसका कथानक प्राचीन कथाग्रन्थों (पुराणों) से लिया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से इसके महाकाव्यत्व की सिद्धि हो जाती है।

प्रमुख पात्र और उनकी चारित्रिक विशेषताएँ

पात्रों की कल्पना करना बड़ा सरल है; परन्तु उनमे प्राण-प्रतिष्ठा करना साहित्यकार के कौशल की परीक्षा ही है। राम और कृष्ण को लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले वाल्मीकि और वेदव्यास हैं। इसी तरह इनकी मर्यादा-पुरुषोत्तम और लीला-पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठा तुलसीदास और सूर के द्वारा हुई है। पौराणिक-चरित्रों को महाकाव्य में अपनाकर उनको लोक-प्रसिद्ध करने का काम अनेक महाकवियों ने किया है। जिनपाल उपाध्याय की गणना भी ऐसे ही महाकवियो में की जानी चाहिये। भारतीय आलोचना-शास्त्र की दृष्टि से काव्य में आलोचक वस्तु, नायक और रस—इन तीन तत्त्वों के

---

१. तेरहवी चौदहवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० २४७।

आधार पर आलोचना करता है। यहां पर नायक और उनके सहयोगी अन्य प्रमुख पात्रों के चरित्र पर विचार किया जा रहा है। घटना-बाहुल्य के साथ इस महाकाव्य में पात्र-बाहुल्य भी है। उनमें से प्रमुख पात्र हैं—सनत्कुमार, अश्वसेन, महेन्द्र, भानुवेग, अशनिवेग, बकुलमती आदि।

महाकाव्य का नायक सनत्कुमार—

इस महाकाव्य में सनत्कुमार के अनेक जन्मों की कहानी निबद्ध की गई है। सारा कथानक उसी को केन्द्र बनाकर चलता है, इसलिये वही इसका नायक है। पूर्वभव में विक्रमयशा के रूप में उसके जीवन में उच्छृंखलता के दर्शन होते हैं। आगे उसका चरित्र धीरे-धीरे संस्कृत होता चलता है।

सारे महाकाव्य में एक सनत्कुमार के चरित्र का ही क्रमिक उत्थान देखने को मिलता है। उसके चार पूर्वजन्मों का वर्णन इस महाकाव्य में मिलता है। विक्रमयशा के रूप में वह एक परस्त्री-कामुक के रूप में दिखाई पड़ता है। शासक के रूप में वह अत्यन्त योग्य और कुशल प्रशासक था। कवि ने विक्रमयशा को अत्यन्त गुणवान् और यथार्थनाम कहा है[१]। युद्ध में वह अमोघ-शस्त्र था[२]। वह सदा न्याय में एकनिष्ठ था[३]। विष्णुश्री को देखने के उपरान्त वह पाता है कि राज्य का तो उसके रोम के बराबर भी मूल्य नहीं है[४]। विष्णुश्री के बिना वह स्वयं को इस दशा में पाता है:—

व्याघ्रोऽस्ति पृष्ठे पुरतस्तु दुस्तटो, पार्श्वद्वये ज्वालशताकुलः शिखी।
महाशनिश्चाध्र्वमवोऽन्धकूपकः, क्व संकटे मादृश ईदृशि व्रजेत्[५] ॥

वह सोचता है कि यदि मैं ही अन्यायमार्ग पर चरण-निक्षेप करूंगा तो न्याययुक्त मार्ग पर कौन चलेगा ? यदि समुद्र ही अपनी मर्यादा त्यागेगा तो छोटे-मोटे पोखरे के विषय में कहा ही क्या जा सकता है[६]।

यदि पुण्यशीलता का अंकुर स्वाभाविक रूप से किसी की भावभूमि में नहीं पाया जाता हो तो आगे उसके विकसित होकर शीतलच्छाय-वृक्ष बनने की संभावना नहीं की जा सकती। पूर्वभव में सनत्कुमार में न्याय-पथ पर चलने की

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १–४४।
२. वही, १–४७।
३. वही, १–५८।
४. वही, १–७१।
५. वही, १–८४।
६. वही, १–८१।

ओर सहज-रुचि विद्यमान है। इसलिये आगे चलकर वह अपने जीवन को साधना द्वारा उन्नत बना सका; परन्तु समय और मनःचांचल्य के प्रभाव से वह विष्णुश्री की ओर से स्वयं को विरत न कर सका। कामदेव से क्षतान्तःकरण में विवेक का प्रवेश कैसे हो सकता है[१]? वह विष्णुश्री का हरण करवा लेता है और एकान्त मे उससे प्रणय-निवेदन करता है:—

'अहं हि ते किंकरनिर्विशेषः, क्रीतः कटाक्षैर्भुवनैकसारैः[२]।

विष्णुश्री ने कहा कि राजा तो प्रजा का पिता होता है और सदा प्रजा के रक्षण-कार्य मे तत्पर रहता है। आप राजा होकर कुलवधू के प्रति राग-युक्त वाणी का प्रयोग कैसे कर रहे है[३]? विक्रमयशा पर उसके ऐसे कथन का कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने अनेक उत्पथगामिनी-कथाएँ सुनाकर, विष्णुश्री को सत्पथ से च्युत करके अपनी अंकशायिनी बना लिया। मन्मथकेलिवापी में वह हंसवत् क्रीडा करने लगा,—

तस्यां महामन्मथकेलिवाप्यां, सरोजहंसः कमलावतंसः।
नानाविनोदैरनयद् दिनानि, प्राप्तातुलश्रीरिव सप्रमोदः॥[४]

विष्णुश्री को ईर्ष्यालु रानियों द्वारा कार्मण-प्रयोग द्वारा मरवा दिया गया तब वियोग-सन्तप्त विक्रमयशा को प्रतीत हुआ कि नागदत्त को विष्णुश्री का अपहरण करके उसने जो पीडा पहुचाई वह सहस्र-गुणित रूप में अब उसे मिली है:—

कृतं कुकर्मेह विपाककाले, नानागुणं वेद्यत एवमेतत्।
सहस्रवृद्ध्या नृपतिर्विडम्ब्राद्, यन्नागदत्ते विहितात्तमाप॥[५]

विष्णुश्री के शव को देखकर राजा को वैराग्य हो गया और वह राज्य करते हुए भी राज्यासक्ति से मुक्त हो गया—

तत्रापि वैराग्यविशेषशाली, धाम्नीव दीप्ते स रतिं न लेभे।
सुधारसच्छिन्नतृषो हि पुंसः, सक्तिः कथं पल्वलवारिणि स्यात्॥[६]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरित-महाकाव्यम् २–१।
२. वही, २–१०।
३. वही, २–१६।
४. वही, २–४४।
५. वही, ३–१६।
६. वही, ३–४५।

वैराग्य के कारण उसकी भावनाओं का उदात्तीकरण होता है। सुव्रतसूरि के आने का वृत्तान्त सुनकर वह जलदागम से जैसे मयूर आनन्दित होता है वैसे आनन्दित होता है[1]। इनके उपदेश को सुनकर उसका चित्त निर्मल हो जाता है। वह अब मुक्तिश्री-कामी हो जाता है। उसने महाव्रतों को धारण किया और अन्त मे स्वर्ग को प्राप्त हुआ। त्रिरत्नधारी सनत्कुमार का स्वर्ग में देवाङ्गनाओं ने स्वागत किया, देवताओं ने यश गाया।

स्वर्ग से च्युत होने के उपरान्त विक्रमयशा का जीव रत्नपुर में जिनधर्म के नाम से उत्पन्न हुआ। वह जैनधर्म की साधना मे रत रहता था। उसकी सहनशीलता का परिचय उस समय मिलता है जब अग्निशर्मा (नागदत्त का दूसरे जन्म मे नाम) उसकी पीठ पर गरम खीर रखकर भोजन करता है। मांस-जल जाने पर भी वह विचलित नहीं होता और न इसके लिये किसी को दोषी ही ठहराता है। वह कहता है—

न चान्यदोषेण ममैष दाहो, यदन्यथावृत्ति न जातु कर्म।
वृहस्पति न ग्रसते कदाचिद्, विधुन्तुदश्चन्द्रमसा विराद्धः[2] ॥

अगले जन्म मे जिनधर्म स्वर्ग में सौधर्मेन्द्र और अग्निशर्मा उसका वाहन ऐरावत गज बनता है। सौधर्मेन्द्र अंकुश से ऐरावत को वश में करता है। अन्त में अग्निशर्मा व्यन्तर-योनि में प्रकोपन-सञ्ज्ञक देव बनता है। सौधर्मेन्द्र ने सुधर्म के योग से चक्री-पद प्राप्त किया। उसका सनत्कुमार के रूप में कुरु-जंगल प्रदेश के राजा अश्वसेन के यहां जन्म हुआ।

सनत्कुमार अत्यन्त सुन्दर था। उसे गोद मे लेकर अश्वसेन योगियों-जैसी तल्लीनता को प्राप्त हो जाता था। उसका चुम्बन करके वह मधुव्रत बन जाया करता था। युवावस्था में वह विदग्ध-गोष्ठियों में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करके सर्वातिशायी हो गया। क्षमा, दाक्षिण्य आदि गुण उसमे भरे हुए थे—

दाक्ष्य-क्षमा-न्याय-वशित्वमुख्यास्त शिश्रियुर्धाम गुणा अवृण्यम्।
सर्वे समं स्वीयपदेषु नूनं, प्रत्येकमुत्त्रस्ततयेव युक्ताः[3] ॥

वह कलाओं का अभ्यास करके दक्ष हो गया।

सनत्कुमार महेन्द्रसिंह का सच्चा मित्र था। सनत्कुमार प्रजानुरागी था और

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, ३–५७।
२. वही, ५–२१।
३. वही, ८–३७।

उसमें सभी गुणों का संगम हो गया था[१]। मन्त्रियों ने गुणानुरक्त होकर सनत्कुमार के विषय में कहा है—

नीतिः क्वचित्तत्र भवेन्न शौर्यं, धैर्यं क्वचित्तत्र भवेन्न रूपम्।
विशुद्धनिश्शेषगुणाधिवासः, कुमारवत् कोऽपि न दृश्यते त्र[२] ॥

अपहरण के उपरान्त वह अपने मित्र महेन्द्रसिंह से अत्यन्त औत्सुक्य और स्नेहपूर्वक मिलता है तथा परिवार की कुशलता पूछता है। महेन्द्रसिंह से मिलकर सनत्कुमार को इतना हर्ष हुआ कि उसके सामने स्वर्ग का भोग भी नहीं ठहरता—

तदा समागमेऽपूर्वः सहर्षः कोऽप्यभूत्तयोः।
सुरसाम्राज्यभोगोऽपि यत्तुलां नाधिरोहति[३] ॥

उसने मित्र को अपना आधा आसन देकर सम्मानित किया। ऐसा स्नेह अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

स प्रासाधयदेतेन स्वासनस्यार्द्धमञ्जसा।
व्यज्येत हि परः स्नेहो लोकेऽपि कथमन्यथा[४] ॥

अपना पूर्ववृत्त सुनाने में वह बड़ा संकोच करता है। न तो वह झूठ बोलना चाहता है और न आत्म-प्रशंसा ही करना चाहता है।

वह अत्यन्त पराक्रमी है, निडर है और अध्यवसायी है। उसने असिताक्ष-नामक यक्ष को द्वन्द्व-युद्ध में पराजित कर दिया। वह अत्यन्त धीर और गम्भीर व्यक्तित्व से सम्पन्न है। उसके पराक्रम की देवताओं ने भी प्रशंसा की है। वह अनेक नारी-रत्नों से परिणय-सम्बन्ध स्थापित करके अपने भोग-सामर्थ्य को प्रकट करता है तो वैराग्य होने पर इन सब को त्याग कर, भयानक ७ व्याधियों को सहन करता हुआ, तप करके वह उच्च आध्यात्मिक-बल प्राप्त करने में भी सफल होता है। जिस पराक्रम द्वारा उसने असिताक्ष, विद्युद्वेग, अशनिवेग आदि को जीत कर विजयश्री का लाभ किया, उसका पर्यवसान शम में होता हुआ दिखाना ही कवि का उद्देश्य है। सनत्कुमार का उत्कर्ष दिखाकर अन्त मे उसे पहले माता-पिता के चरणों में झुकता हुआ दिखाया है और फिर धर्म के मार्ग पर

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ८–५७।
२. वही, ८–६०।
३. वही, १२–५।
४. वही, १२–६।

बढता हुआ चित्रित किया गया है। कवि ने सनत्कुमार के चरित्र द्वारा मानवीय प्रवृत्तियों का क्रमशः विकास और विसर्जन दिखाकर अन्त में इनके द्वारा महान् आध्यात्मिक-सिद्धि की आधार भूमि तैयार करवाई है जिसके फलस्वरूप कैवल्य-पद प्राप्त होता है।

महेन्द्रसिंह—

महेन्द्रसिंह, अश्वसेन के मंत्री सूर का पुत्र और सनत्कुमार का सच्चा मित्र था। वह सौजन्य, शौर्य आदि गुणों का निधि कहा गया है—

सौजन्यशौर्यावनिरुत्तमानां, निधिर्गुणानां भुवि राजवीजी[1] ।

सनत्कुमार के प्रति उसमे सर्वातिशायी अनुराग था। युद्ध में छाया की तरह वह सदैव उसके साथ रहता था। सौम्य होते हुए भी वह तेज का सदन था। कलाओं का विशेषज्ञ था। वह अकेला ही असंख्य-गुणों का आश्रय था—

वेदग्धवन्धुः सदन कलानां, कौलीन्यसिन्धुः पदमिन्दिरायाः ।
एकोऽपि योऽसंख्यगुणाश्रयोऽभूत्, पटो यथाऽऽच्छादितविश्वगुह्यः[2] ।।

प्रेक्षागृह, गोष्ठीगृह आदि में वह सर्वत्र सनत्कुमार का अनुगमन करता था। वनविहार से लौटते समय, सनत्कुमार का अपहरण कर लिये जाने पर, महेन्द्रसिंह क्रुद्ध होकर राजा अश्वसेन से बोला कि—कुमार को किसी ने अपहृत नही किया। वस्तुतः मेरा भाग्यवृक्ष आज मूलोच्छिन्न हो गया है[3] । वह प्रतिज्ञा करता है कि "या तो वह मित्र को ढूंढ लायेगा अन्यथा चिता में जलकर भस्मीभूत हो जायेगा[4] ।" वह मित्र को ढूंढने के लिये भयानक अटवी में भी प्रवेश करता है। कवि उसके स्नेह के विषय में कहता है—

अहो स्नेहः पद सर्वमहाव्यसनसप्ततेः ।
यन्मित्रायाविशदयं यमस्यास्य महाटवीम्[5] ।।

उसने मित्र को गिरिगह्वरों, वृक्षकोटरों, भिल्लपल्लियों, शवरसेनाओं आदि में भी देखा। न तो उसे जलाने वाली ग्रीष्म बाधा पहुंचा सकी और न मार्गावरुद्धकारिणी वर्षा। पत्तन, नगर, परिषत्, नदी, वापी, निर्झर, द्रोणी आदि में कहां-कहां उसने खोज नही की। वह अन्य लोकों में भी खोज करने को तत्पर

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ८४०।
२. वही, ८–४४।
३. वही, ६–५६।
४. वही, १०–१७।
५. वही, १०–४०।

हो गया। शुभ-शकुन उसे आश्वस्त करते है और अन्त में वह मित्र को पा ही लेता हैं। मित्र को पाकर उसे जो आनंद हुआ उसके विषय मे कवि ने लिखा है—

आनन्दाश्रुप्रवाहेण प्लाविताखिलविग्रहः।
वनभ्रमणखेदोत्थं श्रमवारि क्षरन्निव ॥
मुखे विकासं बिभ्राणः प्रातःपद्माकरो यथा।
सर्वेन्द्रियेषु युगपद् भजन्निव परं सुखम्[1] ॥

दोनों मित्रों का मिलन ऐसा हुआ जिसके सामने देवलोक का साम्राज्य भी हेय है—

तदा समागमेऽपूर्वः, सहर्षः कोऽप्यभूत्तयोः।
सुरसाम्राज्यभोगोऽपि, यत्तुलां नाधिरोहति[2] ॥

सनत्कुमार के जीवन की घटनाओं को प्रज्ञप्ति-विद्या के द्वारा बकुलमती से जानकर वह बड़ा प्रभावित होता है और अन्त में समय देखकर सनत्कुमार को पुनः याद दिलाता है कि उसके वियोग की अग्नि में किस प्रकार सारे नगर-वासी, परिजन, उसके माता-पिता आदि जल रहे हैं ? अन्त मे सनत्कुमार को लेकर अपने नगर की ओर चल देता है।

महेन्द्रसिंह इस काव्य में एक सच्चे मित्र के रूप में चित्रित हुआ है। लोका-तिशायी स्नेह के बिना कोई भी उतना कष्ट उठाने को तैयार नहीं हो सकता जितना महेन्द्रसिंह ने सनत्कुमार को खोजने में उठाया है। सनत्कुमार के चक्रवर्ती के रूप में व्यक्तित्व के विकास में निश्चय ही महेन्द्रसिंह का योगदान कम नही है। सच्चा मित्र मिल जाना संसार में सब से बड़ी उपलब्धि है और सनत्कुमार यह लाभ पाकर निश्चय ही निर्द्वन्द्वतापूर्वक अपने जीवनोद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है और अन्त में इसमें सफलता पा लेता है।

अश्वसेन—

अश्वसेन हस्तिनापुर का प्रजापालक राजा और सनत्कुमार का पिता है। उसके राज्य करते हुए प्रजा को कभी भी शत्रुज-व्यथा अनुभव करने का अवसर नहीं आया—

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ११–७६, ८०।
२. वही, १२–५।

यस्मिन् प्रजा शासति चण्डशासने, नैवान्वभूवन्प्रतिपक्षिजव्यथाः ।
स्युः स्फूर्तिमन्मांत्रिकरक्षितेषु किं, भयानि भोगिप्रभवानि कर्हिचित्[१] ॥

वह बड़ा पराक्रमी था । याचकों को वह प्रभूत दान दिया करता था । वह बड़ा सुन्दर था । पौरांगनाएँ स्मराकुल होकर उसके सौन्दर्य-सिंधु का नेत्र-कमलों से पान करती हुई शोभा को द्विगुणित कर देती हैं[२] । शत्रुओं को निशित असिधारा और उनकी अंगनाओं को नेत्रों में अश्रुधारा प्रदान करके वह अपनी कीर्त्तिलता को परिवृद्ध करता था । वह नीति-अंगना का आलिंगन करने वाला था । अकीर्त्ति-लक्ष्मी तो उसकी ओर कटाक्ष करने में भी समर्थ नहीं हुई—

नीत्यङ्गनालिङ्गनलोलमूर्त्तिर्नाकीर्त्तिलक्ष्म्याऽपि कटाक्षितो यः ।
किं भद्रजातीयमतं गजेन्द्रं, वशास्वजं चुम्बति कोलकान्ता[३] ॥

उसने अराति करीन्द्र के कुम्भस्थल की मुक्तावली को आकाश में प्रकाशित कर दिया और रणोत्सव मे जयश्री के लिए वरमाला तैयार कर दी[४] ।

उसके राज्य में बन्धन, काठिन्य, अभिघात, छल, प्रवाद, विष्कंभशूल आदि का नितान्त अभाव था—

केशेषु बन्धस्तरलत्वमक्ष्णोः, काठिन्यलक्ष्मीकुचमण्डलेषु ।
सम्भोगभंगिष्वदयाभिघाता, मृगीदृशामेव यदीयराज्ये ।
प्रवादिजल्पे छलजातियोगः, सकण्टकत्वं वनकेतकेषु ।
विष्कम्भशूले खलु योगजाते, न जातु लोकस्य तु यस्य राज्ये[५] ॥

वह अत्यन्त समर्थ, क्षमाशील, शीलवान् और दानी था ।

अश्वसेन एक पुत्र-वत्सल पिता है । सनत्कुमार का जन्म होने पर वह प्रफुल्लित होकर अमित दान देता है और सारे नगर में उत्सव मनाता है । नागरिकों को उसने वस्त्राभूषण के साथ ताम्बूल प्रदान किया—

ताम्बूलदानं वसनैर्न हीनं, हासेन शून्यं न विलेपनं च ।
तत्राऽभवत्प्रीतनरेन्द्रवर्गप्रकल्पितं नागरसत्तमानाम्[६] ॥

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ७–३६ ।
२. वही, ७–३६ ।
३. वही, ७–४१ ।
४. वही, ७–४२ ।
५. वही, ७–४४, ४५ ।
६. वही, ७–१०२ ।

सर्वांगसुन्दर पुत्र सनत्कुमार को गोद में लेकर अश्वसेन योगियों-जैसी तन्मयता को प्राप्त हुआ—

पुत्रस्य सर्वाङ्गमनोरमस्य, तस्याननाम्भोरुहमीक्षमाणः।
योगीन्द्रगम्यां समवाप काञ्चिन्मुदं निजोत्संगगतस्य भूपः[1] ॥

उसने पुत्र के मुखकमल को ऐसे चूमा जैसे वह मधुव्रत हो—

तदास्यपद्मं परिचुम्बतोऽस्य, मधुव्रतस्येव बभूव तत्र[2] ।

वह यौवराज्याभिषेक के समय सनत्कुमार को हितकर उपदेश देता है। वह स्वयं प्रजापालक है और ऐसा ही होने के लिये पुत्र को उपदेश देता है। वह राजधर्म का आधार काम-क्रोधादि अरि-षड्वर्ग को जीतना मानता है।

पुत्र के अपहरण कर लिये जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल होकर मन में अनेक प्रकार की शकाएँ करने लगा। उसकी समानता कवि ने रामवियोगी दशरथ से की है—

स प्राह रामवत्प्राप्ते वनं तज्जनकाकृतिम् ।
त्वयि तत्पितरौ पूर्णमधत्तां शोककीलितौ[3] ॥

पुत्र के वियोग की अग्नि में वह तब तक तड़फता रहा, जब तक महेन्द्रसिंह उसे लेकर लौट नही आया। पुत्र के आने पर उसके जीवन मे लोकोत्तर सुख का उदय हुआ[4]। राजगृह में पुत्र के प्रविष्ट होने पर उसने महोत्सव का ही अनुभव किया[5]। सनत्कुमार ने नीति-निपुणता में पिता का ही अनुकरण किया। अश्वसेन एक वत्सल-पिता, प्रजापालक राजा और न्यायप्रिय शासक के रूप मे इस काव्य में प्रस्तुत किया गया है।

सहदेवी—

सहदेवी, सनत्कुमार की माता और कुरु-जंगल प्रदेश के राजा अश्वसेन की राजमहिषी है। वह गीतविद्या के समान विशुद्धजन्मा, आन्वीक्षिकी-विद्या के

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ८–२।
२. वही, ८–४।
३. वही, १२–१४।
४. वही, २३–३।
५. वही, २३–२४।

समान प्रथित प्रमाणवाली और त्रयीविद्या के समान सुव्यक्त-वर्णसंस्था कही गई है[1]। वह लक्ष्मी के समान कान्तकामा, शची के समान सौभाग्यवती और यशोमती, ज्योत्स्ना के समान विश्वदर्शनीया और सीता के समान पतिव्रता है—

लक्ष्मीरिवोन्मीलितकान्तकामा, शचीव सौभाग्ययशोनिधानम् ।
ज्योत्स्नेव विश्वेक्षणसौधधारा, बभूव सीतेव पतिव्रता या[2] ॥

वह केवल अनुपमित सौन्दर्यशीला ही नहीं है, गुणों में भी वह सर्वोपरि है। वह सत्यभाषिणी है और 'नृरत्नसू' है[3]। वह सौम्यमूर्ति है, स्वर्णवर्णा है, अलसगामिनी है—

सुसौम्यमूर्त्तिद्विषणाभिरामा-प्यनङ्गसङ्गिन्यपि राजकान्ता ।
या स्वर्णवर्णा महिषीति वित्ताप्यासीदमन्दाप्यलसप्रयाता[4] ॥

उसे पुण्यसुवासरसी कहा गया है। चक्रवर्ति-लक्षण-युक्त पुत्र को उत्पन्न कर के वह राजा अश्वसेन से बहुमान प्राप्त करती है। वह वात्सल्यमयी माता है। अपने पुत्र को वह अंगुली पकड़कर चलना सिखाती है[5]।

पुत्र का अपहरण हो जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल होती है। उसकी दशा जल से निकाली हुई मीन के समान हो गई है। वह सनत्कुमार के वियोग की आग में अहर्निश जला करती है। उसको तभी सन्तोष होता है जब महेन्द्रसिंह उसे वापिस स्वदेश लौटा लाता है।

पुत्र के चरित्र को माता की आशा-आकांक्षाओं का विकास ही माना जाता है। इस दृष्टि से सनत्कुमार के शील और सौजन्य का विकास माता सहदेवी के प्रभाव से ही माना जा सकता है।

अन्य पात्र—

'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' काव्य में कुछ अन्य पात्र भी आये हैं। उनके चरित्र की एक झांकी-मात्र काव्य मे प्रस्तुत की गई है। ये सारे पात्र नायक सनत्कुमार के चरित्र के विकास में योग देते है। ऐसे पात्रों में विष्णुश्री और नागदत्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ७–४७।
२. वही, ७–४६।
३. वही, ७–५३।
४. वही, ७–५४।
५. वही, ८–६ ।

विष्णुश्री नागदत्त की प्रिय पत्नी है। उसका अद्वितीय सौन्दर्य विक्रमयशा पर जादू-सा कर देता है। उसे वह स्वर्ग से उतरी हुई रम्भा के समान अथवा कामदेव से वियुक्त रति के समान, अथवा लक्ष्मी वा पार्वती के समान प्रतीत हुई। विक्रमयशा द्वारा हरण कर लिये जाने पर वह कांपती और विलाप करती हुई उससे मुक्ति की प्रार्थना करने लगी। शील से परिच्युत होकर वह राज्य-प्राप्ति को भी कुत्सित मानती है। वह इस गुरूपदिष्ट-मार्ग की अनुयायिनी है कि कुलांगना के लिये पति ही नित्य माननीय है, जैसे कुमुदिनी को कलंकधामा और तुषारवर्षिणी होने पर भी चन्द्ररश्मि ही मान्य होती है[1]। वह राजा के प्रणय-निवेदन करने पर कहती है कि ऐसा कुण्डल-धारण करने से क्या, जिससे कान ही लम्बा होकर छिद जाय[2]? सतीत्व में विश्वास करने वाली होने पर भी वह अन्त में राजा द्वारा दिये हुए प्रलोभनों के सामने पराजित हो जाती है और उस की अंकशायिनी बन जाती है। विक्रमयशा को वह अपने सौन्दर्य से अभिभूत कर लेती है। वह आत्मसमर्पण कर देती है[3] —

प्रत्याबभाषे तमिति स्मरार्त्ता, त्वदेकतानाहमिति प्रतीहि।

लीला-उपवन में राजा उसके साथ क्रीडा करने लगा। उसकी सारी इन्द्रियों की वृत्तियाँ त्वगिन्द्रिय में ही प्रविष्ट हो गईं[4]। राजा उससे क्षण भर भी वियुक्त होना नहीं चाहता था। विष्णुश्री के ऐसे सौभाग्य को देखकर अन्तःपुर की रानियाँ ईर्ष्या से जल-भुन गईं। उन्होने अन्त में कार्मणप्रयोग द्वारा उसे मरवा दिया। विष्णुश्री के चरित्र से सनत्कुमार के पूर्वभव की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। प्रथमतः, उसकी रागात्मकवृत्ति का परिचय मिलता है और अन्त में उस के उसी के शव को देखकर उसके मन में वैराग्य का उदय होता है।

युवा विलासी नागदत्त विक्रमयशा का मित्र है। उसकी सुन्दरी पत्नी विष्णुश्री पर विक्रमयशा मुग्ध हो जाता है। विष्णुश्री का अपहरण किये जाने पर वह प्रिया-वियोग में अत्यन्त सन्तप्त होकर करुण विलाप करने लगता है—

हा हंसगामिन्यधुना न कुर्युः, कस्या गतिं मे गृहकेलिहंसाः[5]।

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् २–२३।

२. वही, २–२६।

३. वही, २–३६।

४. वही, २–४६।

५. वही, २–५३।

विलाप करते हुए कृशकाय वह मृत्यु को प्राप्त हो गया और दूसरे जन्म में भृंग बना। वहां पर पेड़-पौधों पर यत्र-तत्र भटकता रहा। अन्त में तीसरे जन्म मे अग्निशर्मा-नामक वेदपाठी ब्राह्मण हुआ। पूर्वजन्म के वैर का स्मरण करके उसने जिनधर्म से बदला लेना चाहा। उसने राजा हरिवाहन से कहा कि 'यदि उसे जिनधर्म की पीठ पर गरम खीर परोसी गई तो वह भोजन करेगा, अन्यथा नहीं।' धर्मभीरु राजा ने अग्निशर्मा के कथन को स्वीकार कर लिया। इससे जिनधर्म की पीठ का मांस जल गया। इस घटना से जिनधर्म (सनत्कुमार) की सहनशीलता और धर्मनिष्ठा का परिचय मिलता है।

गुणाढ्य-सुव्रतसूरि का उल्लेख भी इस काव्य में हुआ है। पैशाची प्राकृत में बृहत्कथा की रचना करने वाले गुणाढ्य का नाम साहित्य में प्रसिद्ध है, परन्तु न तो यह कृति ही प्राप्त है और न गुणाढ्य के विषय में ही प्राचीन साहित्य में अधिक जानकारी ही मिलती है। पुराणों में ऐसे अज्ञात-प्रसिद्ध पात्रों पर साम्प्रदायिक रग चढ़ाने की प्रवृत्ति बहुधा दिखाई पड़ती है। ऐसा ज्ञात होता है कि यहां गुणाढ्य और बृहत्कथा[1] का उल्लेख भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। वस्तुतः सुव्रतसूरि के वर्णन में यहां मुद्रालंकार से गुणाढ्य और बृहत्कथा की ओर संकेत माना जा सकता है। सुव्रतसूरि का भी इस महाकाव्य मे अवतरण सनत्कुमार के चरित्र का विकास दिखाने के लिये हुआ है। पूर्वभव मे सनत्कुमार (विक्रमयशा) ने सुव्रतसूरि की देशना से ही जैनधर्म की साधना का मार्ग अपनाया था।

आचार्य विनयन्धर सनत्कुमार के दीक्षागुरु है। उन्होंने सनत्कुमार के सारे भ्रम दूर कर दिये और उसे वैराग्य-भावित उत्कृष्ट तप के लिये प्रेरित किया।

बकुलमती विद्याधरी सनत्कुमार की सुन्दरी पत्नी है। उसने प्रज्ञप्ति-विद्या से सनत्कुमार के अपहरणोपरान्त वृत्त को महेन्द्रसिंह को सुना दिया। साकेत के राजा चन्द्रयशा की पुत्री सुनन्दा सनत्कुमार की पत्नी (स्त्रीरत्न) है। वह सनत्कुमार से अत्यधिक प्रेम करती है और कुमारी अवस्था से ही उसकी प्राप्ति की कामना करती रही है। विद्युद्वेग के मार दिये जाने पर वह सनत्कुमार से विवाह-बन्धन में वध जाती है। सनत्कुमार, भानुवेग की आठ पुत्रियों, बकुलमती की १०० सहेलियों, विद्युद्वेग की बहिन आदि सुन्दरियों से भी विवाह करता है। ये सब परिणीताएँ उसके दाक्षिण्यभाव के विकास में सहायक बनती हैं।

सनत्कुमार गृहस्थ जीवन बिताते हुए इन सभी से अत्यधिक स्नेहपूर्ण व्यवहार करता है। उसी के चारित्रिक प्रभाव से इनमें कभी भी सपत्नी-डाह उत्पन्न

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ३-६१।

नही हुआ। विद्युद्वेग की बहिन से वह प्रज्ञप्ति-विद्या भी प्राप्त करता है। अन्त में सनत्कुमार मे वैराग्य जागता है और वह सब को छोडकर तप में प्रवृत्त हो जाता है। भोगों में प्रवृत्ति ही निवृत्ति को जन्म देती है। इस दृष्टि से ये सभी सनत्कुमार की पत्नियाँ उसके भोग-सामर्थ्य की साक्षी बनकर अन्त में भोगोपशमन में सहायक हुई हैं।

असिताक्ष सनत्कुमार का प्रतिद्वन्द्वी है। पूर्वभव के विष्णुश्री-दयिता-हरण के वैर के[1] कारण वह सनत्कुमार को रोषपूर्वक मारने के लिये दौड़ता है। उसके भयंकर आक्रमण का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

> आवर्त्तरावर्तनानि प्रयच्छन्, शैलानामप्युल्वणैस्तं कुमारम्।
> निन्ये भ्रान्ति सत्वरं चक्रभंग्या, स प्रोन्मीलन्मण्डलीवात उग्रः॥[2]

सनत्कुमार ने बिना किसी भय से उसका सामना किया और अन्त मे उसे पराजित कर दिया। असिताक्ष की उपस्थिति काव्य में नायक सनत्कुमार के पराक्रम और निर्भय-भाव को सूचित करने में सहायक हुई है।

विद्युद्वेग, अशनिवेग चण्डवेग, चित्रवेग आदि अनेक विद्याधरों से सनत्कुमार को युद्ध करना पड़ता है। वे सभी उसके द्वारा पराजित होते हैं। इससे एक ओर तो वह विद्याधर-चक्रवर्ती बनने में सफल होता है, दूसरी ओर इन घटनाओं से उसकी चारित्रिक दृढ़ता, निर्भयता आदि गुणों की व्यंजना होती है।

विद्याधर नरेश भानुवेग सत्नकुमार से मित्रता स्थापित करके अपनी आठ पुत्रियों का विवाह उससे कर देता है। वह अशनिवेग से युद्ध करते समय सनत्कुमार की सेना द्वारा सहायता करता है। सनत्कुमार के स्वदेश लौटने पर विद्याधरों का शासक भानुवेग बना दिया जाता है। सनत्कुमार की अज्ञात स्थान पर सहायता करके उसने उसके चारित्रिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

वस्तु-वर्णन

'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' के कवि ने घटना-बाहुल्य पर विशेष ध्यान दिया है, परन्तु वह कवि-परम्परा में भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि का अनुयायी है, कालिदास, भवभूति आदि का नही। श्रीहर्ष तक पहुंचते-पहुचते इस परम्परा मे वैदुष्य-प्रदर्शन की भावना तीव्रतम हो गई थी। उपाध्याय जिनपाल को

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १३।३८।

२. वही, ७।२७।

परम्परा का वही रूप काव्य-रचना के लिए मिला। एक ओर परम्परा का आग्रह और दूसरी ओर साम्प्रदायिक दर्शन और आचार का स्वरूप प्रस्तुत करने की अभिलाषा--इन दो किनारों के बीच मे इस कवि की प्रतिभा भाव-तरंगिणी की सृष्टि करती है। इसमे निर्बल और सबल विम्बों की लहरियाँ भी उठती हैं और कल्पना-पवन के झोंके जीवन-रस को किनारों के ऊपर छलकाने की स्थिति भी उत्पन्न करते हैं।

कवि की भावुकता कल्पना और औचित्य के समन्वय मे होती है। भावुक कवि वह होता है जो वस्तु के मार्मिक स्थलों की पहचान करके उनको रसपेशल-शैली में समुपस्थित कर सके। वह इन स्थलों के गजरे से बनाकर ऋजु-सूत्र में पिरो देता है। अगर ऐसा न कर सके तो मार्मिकता की पहचान करने पर भी कवि प्रवन्ध-काव्य के क्षेत्र में सफल नही हो पाता।

'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' में घटना-बाहुल्य है इसलिए कवि की प्रतिभा का कौशल दो ही दृष्टियों से परखा जा सकता है—प्रथमतः कवि की दृष्टि मार्मिक स्थलो पर कितनी रही है और द्वितीयतः कवि औचित्य की रक्षा कहाँ तक कर सका है? इन दोनो ही दृष्टियों से उपाध्याय जिनपाल एक भावुक और यथोचित कल्पनाशील कवि है। उसे एक सफल कवि कहा जा सकता है।

भावना-जगत् के आनन्द-कानन मे कल्पना का कोमलकान्त-अंकुर कालिदास, भवभूति जैसे कवियों में लहलहाता है तो भारवि, माघ, श्रीहर्ष प्रभृति विचित्र-मार्गी कवियों में वह विराट् वृक्ष का रूप लेता है। जिनपालोपाध्याय ने इस कल्पनावृक्ष को औचित्य की ज्योत्स्ना में स्नात निराला ही बनाकर प्रस्तुत किया है।

प्रभात-वर्णन—

जिनपालोपाध्याय ने प्रभातकालीन सौन्दर्य का वर्णन १५वें सर्ग में १९ छन्दों मे किया है। संस्कृत-कवियों ने प्रातर्वर्णन में विशेष रुचि दिखाई है। माघ ने प्रात:कालीन दृश्यों के संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किये हैं। एक चित्र के अनुसार बालसूर्य उदयाचल-शिखररूपी आंगन में खेलता हुआ, कमल-मुखों से हंसती पद्मिनियों को देखते-देखते कोमल-कर फैलाकर, पक्षियों के कलरव के व्याज से पुकारती हुई आकाशरूपी माता की गोद मे लीलापूर्वक जा गिरता है—

उदयशिखरिश्टङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिंगन्,
स कमलमुखहासं वीक्षित: पद्मिनीभि:।

विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः,
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥

एक अन्य सरस दृश्य है— चतुर्थ प्रहर समाप्तप्राय है। पहरे का सिपाही अपने जोड़ीदार को बार-बार जगाता है, किन्तु वह निद्रा के कारण अस्पष्ट स्वर मे उत्तर देता हुआ भी जाग नहीं रहा है—

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः,
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां,
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥

कहीं कल्पना की खींचतान भी है, परन्तु ऐसे कल्पना-प्रधान दृश्य भी अपने ही ढंग के हैं। एक श्लोक में कहा गया है कि चारों ओर फैली हुई मोटी रश्मियों के समान किरणों द्वारा खींचा जाता हुआ कलश-तुल्य सूर्य दिशारूपी नारियों द्वारा समुद्र के जल से निकाला जा रहा है—

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः, कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तायतेऽर्कः ॥[१]

नैषधीयचरित मे श्रीहर्ष ने भी अनेक सुन्दर, भावपूर्ण कल्पनाओं का आश्रय लेकर प्रभातकालीन शोभा का वर्णन किया है। एक श्लोक में तीन दृश्यों पर एक साथ कवि ने दृष्टि-निक्षेप किया है। वे हैं—छोटे-छोटे तारों का लुप्त होना, परस्पर होड़ लगाते हुए किरणों का गगन-प्रांगण में पहुंचना और रात भर अन्धकार से संघर्ष करने के कारण चन्द्रमा का क्लान्त व क्षीणतेज होना—

अमहतितरास्तादृक्तारा न लोचनगोचरा-
स्तरणिकिरणा द्यामञ्चन्ति क्रमादपरस्पराः।
कथयति परिश्रान्ति रात्रीतमस्सह युध्वना-
मयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितास्त्विषाम् ॥[२]

प्रातःकाल में कुशा पर ओस की बूदे पड़ी हुई हैं, वे कवि को ऐसी प्रतीत होती हैं मानों लोहे की सुइयो पर छेद करने के लिये मोती रखे हुए हैं—

१.
२. नैषधीयचरितम् १६-४।

रजनिवमथुप्रालेयाम्भ:कणक्रमसम्भृतैः ,
कुशकिशलयास्यच्छैरग्रेशयैरुदविन्दुभिः ।
सुपिरकुशलेनाय:सूचीशिखांकुरसंकरं ,
किमपि गमितान्यन्तमुक्ताफलान्यवमेनिरे ॥[1]

जिनपालोपाध्याय ने प्रभात-वर्णन में कवि-परम्परा का अनुसरण करने के साथ-साथ अपनी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय भी दिया है। रात्रि बीत जाने पर परिरम्भ-विनोद समाप्त हुआ। कुमुद की दुर्दशा देखी नहीं जाती। अन्धकार के साथ चन्द्रमा वारुणी दिशा को चला गया। ऐसे भाव तो स्वाभाविक रूप से आ जाते हैं। कवि ने प्राकृत-दृश्यों का चित्रण करते हुए जीवन के गम्भीर सत्यों का उद्घाटन भी किया है। जैसे—कलंकी, स्नेहीजनों के प्रति भी सुमनस्क नहीं होते—

सकलां रजनीं परिचुम्बितां, मुञ्चति नित्यरमापतिर्लक्ष्मीम् ।
शशभृत्यथवा क्व कलङ्किनां, स्नेहपरेऽपि जने सुमनसस्त्वम्॥[2]

एक संश्लिष्ट चित्र में नदियोंरूपी नायिकाओं के कमलरूपी स्तनों के प्रिय (सूर्य)-समागमजन्य-हर्ष से विकसित होने का उल्लेख है—

उच्छ्वसितानि मनाक् कमलानि, स्तनसुभगानि सरोरुहिणीषु ।
संदवतीषु वधूष्विव नूनं, निकटनिजप्रियसङ्गमहर्षात् ॥[3]

दिनेश के उदय होने से सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं किन्तु उल्लू हतदृष्टि हो जाते हैं। सच है—दुष्टों पर साधु-पुरुषों का संग भी असर नहीं कर पाता—

दुष्टजनस्य हि साधुविषङ्गेऽप्यफल इतीव दिशत्यनुविश्वम् ।
सर्वपदार्थविभासि दिनेशोदयहतदृष्टिनि कौशिकवृन्दे ॥[4]

कवि प्रात:कालीन वातावरण का चित्रण करते हुए चकवा-चकवी, कुक्कुट, भ्रमरकुल, पक्षिगण आदि का उल्लेख किये विना नहीं रह सका। आकाश-सरोवर में कन्दुकलीला का यह दृश्य कितना मनोरम है—

---

१. नैषधीयचरितम् १९-६।
२. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १५-५।
३. वही, १५-१४।
४. वही, १५-१६।

कोकनदच्छविमभ्रसरोऽन्तेऽरुणतिलकाकृतिमिन्द्रदृशोऽपि ।
काञ्चनविभ्रमकन्दुकलीलां, सकलहरिच्छिशुमुग्धवधूनाम् ॥[1]

सन्ध्या-वर्णन—

सन्ध्या और रात्रि का वर्णन कवि ने बड़े ही मनोयोगपूर्वक किया है। प्रताप नष्ट हो जाने पर सूर्य मन्दज्योति होकर अस्ताचल की गुहा मे आश्रय-ग्रहण करता है[2]। रक्तिम सूर्य को पश्चिम दिशा की ओर जाता हुआ देखकर अन्य दिगंगनाएँ ईर्ष्या से कृष्णमुखी हो गईं; पति का विरोधी-पक्ष की ओर जाना बड़ा दुस्सह होता है—

सुरक्तसूर्यमभिवीक्ष्य पश्चिमा-मीषद् ध्रुवं श्याममुखास्तदेर्ष्यया ।
सद्यो बभूवुः सकला दिगङ्गनाः, पत्युर्विपक्षानुगमो हि दुस्सहः ॥[3]

प्राची की तरह पश्चिम दिशा को दिवाकर द्वारा रागशालिनी बना दिये जाने पर अन्धकार महारोषपूर्वक वन में फैल गया है।[4] सूर्य के लोकान्तर-प्रस्थान करने पर पक्षीगण व्याकुल होकर पेड़ो की ऊंची चोटियों पर बैठकर क्रंदन करने लगे[5]। आसन्न वियोग से आहत हृदय के घाव से निकले हुए रक्त-रूपी जलवाली नदियाँ सन्ध्याभ्र-प्रतिच्छाया को बार-बार चूमती है[6]। कहीं आकाश नीला है तो कहीं पाटल-वर्णन का। वह फूटे हुए आम का विभ्रम उत्पन्न करता है—

नीलं क्वचित् क्वापि सपाटलं नभो, निष्पिच्यमानाम्रफलस्य विभ्रमम् ।
दधौ नृणां कालविशेषनिर्मितां, दशां विचित्रां प्रतिपादय ध्रुवम्[7] ॥

चन्द्रोदय-वर्णन—

सूर्यास्त के उपरान्त रात्रि में फैले हुए अन्धकार और चन्द्रोदय का भी कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। चन्द्रमा का सान्निध्य प्राप्त करने की इच्छावाली प्राची-दिशा के सौन्दर्य का वर्णन देखिये—

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १५-१७।
२. वही, १३-११६।
३. वही, १४-३३।
४. वही, १४-३४।
५. वही, १४-३५।
६. वही, १४-३७।
७. वही, १४-३६।

मितं दधच्छक्रदिगङ्गनायाः, सुधारुचेः सङ्गसमुत्सुकायाः ।
मुखं रुचां जालमलञ्चकार, कर्पूरपारीपरिपाण्डुमूर्त्तिः ॥[१]

कलाधर की कलाएँ विविध साध्य सिद्ध करने मे समर्थ हैं—

चकोरदयिताननेष्वमृतबिन्दुवृन्दश्रुतिं,
ततान हसनश्रियं कुमुदकोशगर्भेष्वलम् ।
जगद्विजयपाटवं मकरकेतुबाणेष्वहो,
कलापि हि कलावतो विविधसाध्यसिद्धिक्षमम् ॥[२]

ऋतु-वर्णन—

जिनपालोपाध्याय ने इस काव्य में कतिपय ऋतुओं का वर्णन बड़े ही भाव-पूर्ण ढंग से किया है। ऋतुवर्णन मे कवि ने परम्परागत शैली का ही अनुकरण किया है, परन्तु भाव-प्रकाशन में कहीं-कहीं मौलिकता का परिचय भी दिया है। कवि ने वसन्त को कामुक के समान आया हुआ बतलाया है—

उज्जृम्भिताम्भोरुहचारुवक्त्रो, नानासुगन्धिप्रसवाभिरामः ।
वनप्रियाकूजितकान्तगीति-रथागमत् कामुकवद् वसन्तः ॥[३]

नानाप्रकार के पुष्पों की पराग उड़ रही है मानों कामदेव संसार को जीतने के लिए जा रहा हो और इस कारण धूल उड़ रही हो—

नानाप्रसूनोच्छलितैः परागैरुद्धूलितं काननमद्य भाति ।
जगज्जयायोद्यमिनः स्मरस्य, नृपस्य नूनं बलरेणुपूरैः ॥[४]

वसन्त-वर्णन में कवि सहकार, कोकिल, कुरवक, भृंगावली, पलाशराजि आदि में से किसी को भी नहीं भुला पाया है। गीत, कुसुम, दोलाविलासादि से वन अत्यन्त मनोज्ञ हो गया है—

गीतैः सपानैः कुसुमौघहासैः, काव्यैः कथाभिः सुविलासिभोगैः ।
दोलाविलासैश्च वनं मनोज्ञैः, कान्ति जयत्येतदहो ! दिवोऽपि ॥[५]

वसन्त के वाद ग्रीष्म का वर्णन है। भीषण ग्रीष्म ऋतु में महेन्द्रसिंह अपने

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १४–४७।
२. वही, १४–५४।
३. वही, ९–४।
४. वही, ९–२१।
५. वही, ९–३९।

मित्र सनत्कुमार को ढूंढ रहा था। उस समय भयानक गरमी से सब जल रहे थे, राहगीर व्यथित हो रहे थे और जलाशय सूख कर मृगतृष्णा में कारण बन रहे थे[1]। छायादार वृक्षों को उखाड़ता हुआ उत्ताल वायु चल रहा था[2]।

ग्रीष्म का रोमाञ्चकारी चित्र इन पंक्तियों मे द्रष्टव्य है—

मण्डलीपवना उच्चैरावर्तितरजोदलाः।
नृत्यन् मूर्तमहाभूतलीलां दधति यत्र च॥
मरुतो यत्र सध्वाना भ्रमन्तोऽयोन्यसंहिताः।
भूतेन्द्रा इव लक्ष्यन्ते रासकक्रीडितस्पृशः॥
मध्याह्ने घर्मसंत्रस्ता वने चित्रगता इव।
निसर्गचापल हित्वा यत्र तिष्ठन्ति वानराः॥[3]

× × ×

लोलजिह्वागलद्वारिसिक्तसन्तप्तभूमयः।
यत्र छायास्वपि स्वास्थ्य लभन्ते न मृगारयः॥[4]

सनत्कुमार को ढूंढते हुए महेन्द्रसिंह को पर्याप्त समय बीत गया। वर्षा आ गई है। वर्षा का एक सश्लिष्ट चित्र देखिये—

धाराम्भः सायकौघ क्षिपति सरभसं यत्र योधानुकारे,
प्राणश्यन् मानशत्रुश्चकित इव मनोमन्दिरान्मानिनीनाम्।
किं चात्यन्तं दिदीपे सरलविरहिणां मानसेऽनङ्गवह्नि-
स्तेनापूर्वेन्धनेनाचिररुचिरिव सुध्यातकान्ताकुचानाम्॥[5]

इस समय आदित्य के समान महातेजस्वी राजा भी कान्तालिङ्गन-लोलुप होकर रण-यात्रा नही करते[6]। यूथिका, मौलिश्री, कुटज, केतकी आदि इस समय विशेष रूप से खिले है। इन्द्र-धनुष की शोभा अलग ही है। रात्रि में खद्योत चमकते हैं, दिन में मयूर नृत्य करते हैं और प्रोषित-भर्तृकाएँ नित्य आँसू बहाती

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १०–५४–५६।
२. वही, १०–५६।
३. वही, १०–६२–६४।
४. वही, १०–६६।
५. वही, ११–३।
६. वही, ११–७।

रहती हैं[१] । वर्षा-ऋतु मे पाचों इन्द्रियों के आमोद की सामग्री एकत्र संचित रहती है[२] ।

कवि जिनपाल ने १६वे सर्ग में शरद्-ऋतु का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। वर्षा के बाद शरद् की निर्मलता का एक प्रशस्त चित्र द्रष्टव्य है:—

यत्रासंख्यानि वीक्ष्यामलमधुरपयःपूर्णलीलासरांसि,
प्राणिन्दन्नल्पकालाश्रयमपनिकटं मानस राजहंसाः।
आकृष्येव प्रणादश्रियमसितगलेभ्यो जगुस्तानि नूच्चैः,
कूजव्याजेन पक्षोन्नमनविनमनैः खे प्रवृत्ताः प्रमोदात् ।।[३]

वर्षा से वियुक्त होकर अत्यन्त शोक से पयोद पाण्डुर वर्ण के हो गये हैं। वनान्तभाग ने शारदीश्री के प्रभाव से इन्दीवर-समूह की शोभा को धारण कर लिया है[४] ।

शरद्-ऋतु में अगस्त्य-तारा उदित होता है। इस विषय में कवि कहता है कि शारदीश्री की रमणीयता को देखने के लिए कुम्भज ऋषि भी आये है। वीतरागियों के मनों को हरण करने वाला सौन्दर्य और ही होता है—

रम्यामिवालोकयितुं शरच्छ्रियं, कुम्भोद्भवो यत्र मुनिः समुद्ययौ।
रम्यस्य रम्यत्वदशा हि साऽपरा, वीतस्पृहाणामपि या मनोहृतिः ।।[५]

शरद्-वर्णन करते समय कवि गुंजार करते हुए मधुकरों, हिरणों, कारण्डवों, सारसों, हाथियों आदि को भी नही भूला है। कामीजनों के लिए तो शरद् ने प्रिया-आलिगन का सुखद अवसर उत्पन्न कर ही दिया है—

हृदयमिव खलानामुग्रकार्कश्यपात्रं,
कुटिलतरमितीव स्व रुरुः शृङ्गमैज्झत्।
विमलशशधरांशोः सज्जनस्येव संगाद्,
ध्रुवममितमदाढ्यो यत्र कान्तोपगूढः ।।[६]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ११–१४।
२. वही, ११–१५।
३. वही, १६–६३।
४. वही, १६–६५।
५. वही, १६–७६।
६. वही, १६–७५।

अमृतकिरणमूर्त्ति चन्द्रमा शरद्-ऋतु में सारे विश्व का मित्र बन जाता है[1]। इसे सब लोग आनन्दित होकर व्यतीत करते हैं।

सौन्दर्य-वर्णन—

'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' काव्य में रीति-ग्रन्थों में रूढ शैली का नखशिख वर्णन नही पाया जाता, परन्तु प्रसंगवश अनेक स्थानों पर पात्रों के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन हुआ है। १५वें सर्ग में भानुवेग की पुत्रियों का सौन्दर्य इन शब्दों में वर्णित हुआ है—

अमृतमधुरगिर इभपतिगमनाः, परिगतसुखकरनृपसुतवचनाः।
प्रतिपदमधुरिह मुदमतिसुभगा, निजजनकसदसि नृपखचरसुताः[2] ।।

विवाहार्थ प्रस्थान करते समय सनत्कुमार के सौन्दर्य का वर्णन देखिए—

आरुह्य मङ्गलसितद्विरदं कुमारोऽसंख्यैर्नभश्चरबलैरनुगम्यमानः।
छत्रप्रसाधितशिराः सुमनाः प्रतस्थे, शक्रो यथा त्रिदशकोटिशतानुयातः ।।[3]

उसके आगे नृत्य करती हुई रमणियां उसके सौन्दर्य का आँखों से पान कर रही थी और नगर की स्त्रियां उसको देखकर मोहित हो गई थीं।

सहदेवी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

लावण्यकिञ्जल्कचिते यदास्य-पद्मे विलासाक्षिमधुव्रताली।
रसावमग्ना न ततः शशाकोन्मंक्तुं घनाज्जीर्णगवीव पङ्कात् ।।[4]

सहदेवी ने क्षीरसिन्धु के उन्मथन से दुग्धच्छवि को प्राप्त लक्ष्मी की कीर्त्ति को जैसे अपने सौन्दर्य से निरस्त कर दिया—

निजप्रभास्तोमपरीतमूर्तिर्या दुग्धसिन्धून्मथनोल्लसन्त्याः।
क्षीरच्छटाव्याप्ततनोर्हि लक्ष्म्याः, कीर्तिं समग्रां परिलुम्पतिस्म ।।[5]

चन्द्रमा यदि मधुपाली से युक्त हो जावे अथवा कमल यदि शिखण्ड-भार को धारण करे तो उसके श्यामला-वेणीयुक्त चन्द्रमुख से उनको उपमा दी जा सकती है—

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १६-८०।
२. वही, १५-३१।
३. वही, १५-५२।
४. वही, ७-४८।
५. वही, ७-५१।

शशी यदि स्यान्मधुपालियुक्तः, शिखण्डभारोद्धुरमम्बुजं वा।
तेनोपमीयेत यदाऽऽस्यचन्द्रः, स्निग्धायतश्यामलवेणिदण्डः ॥[१]

अन्तर्वत्नी सहदेवी आकाश-लक्ष्मी के समान सौन्दर्य से विभूषित हुई

क्रमेण च क्षीरविपाण्डुगण्डा, सुनिर्मलश्वेतमयूखभूषा।
आकाशलक्ष्मीरिव सा विरेजे, मन्दयती वेश्मनि दन्तिनीव ॥[२]

कवि ने सनत्कुमार के सौन्दर्य का सर्वांग विवेचन किया है। इसे परम्परागत नखशिखवर्णन की शैली में माना जा सकता है। सनत्कुमार के कण्ठ, नेत्र, ललाट, गण्डस्थल, नासा, ओष्ठ, श्मश्रु, स्कन्ध, कर्ण, वक्षःस्थल, बाहुदण्ड, ऊरू, पद, जंघा आदि विविध अंगों का अलंकृत वर्णन किया गया है। ओष्ठ और श्मश्रु का वर्णन द्रष्टव्य है—

ओष्ठोऽप्यभाच्छोणमणिप्रकाशः, श्मश्रुश्रिया प्रापितकान्तकान्तिभिः।
प्रवालविच्छेद इवेन्द्रनील-स्थलीनिवेशेन विशेषदीप्तः ॥[३]

वक्षःस्थल का सुन्दर वर्णन इन पंक्तियों में हुआ है—

वक्षःस्थले हेमकपाटकान्तौ, श्रीवत्सराट् तस्य विनीलरोमा।
सुमेरुविस्तीर्णशिलोपविष्ट-सकृष्णसारश्रियमाचकर्ष ॥[४]

उसके सौन्दर्य को देखकर रमणियां स्वेद-स्नात हो जाया करती थीं।

वसन्त-ऋतु में भ्रमण के लिए निकले हुए सनत्कुमार के अश्व के सौन्दर्य का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

उच्चैःश्रवाः किं भुवमागतोऽयं, शक्रेण भक्त्या प्रहितः कुमारे।
सूर्यस्य रथ्यः किमु वाङ्गरौक्ष्यलोभेन नेत्रक्षणदोऽवतीर्णः ॥[५]

सुनन्दा के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

उत्कीर्णरूपामिव चन्द्रबिम्बतः, समुद्धृताङ्गीमिव पद्मगर्भतः।
विभिद्य चारोहणमुत्थितामिव, प्रभाजलोत्तालतरङ्गवाहिनीम् ॥[६]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ७–५२।
२. वही, ७–७६।
३. वही, ८–१६।
४. वही, ८–२०।
५. वही, ९– ९।
६. वही, १७–११

कवि ने उसके विविध अंगों का अलंकृत वर्णन किया है। शिर पर धारण किये हुए अंशुक के विषय में कवि का कहना है—

ज्योत्स्नागुणव्यूतमिवाघनं सितं, शिरोंऽशुकं दर्पणकीर्त्तितस्करम्।
दधाति सर्वावयवप्रकाशनादियं जगल्लोचनमोदचंद्रिका ।।[1]

उसके ललाट पर लगा हुआ तिलक कामदेव के सज्जीकृत शस्त्र का भ्रम उत्पन्न करता है[2]। सविलास नर्त्तन करने वाली भौंहें कुटिलता में कामदेव के धनुष के समान होने पर भी उससे विशेष प्रतीत होती हैं[3]। सुपक्वबिम्बाफल के समान पाटल प्रभा वाले उसके होठ अत्यन्त सुन्दर हैं—

सुपक्वबिम्बीफलपाटलप्रभः, प्रभासतेऽस्या रुचिरो रदच्छदः।
रागेण सर्वाङ्गगतात्मरूपतः, सर्वस्वनिर्यास इवावतारितः।।

अयं भवेत् किं रतिवल्लिपल्लवः, प्रवालखण्डः किमु कामवारिधेः।
नानीदृशो येन कथञ्चिदीक्षणादपि प्रकुर्याद् विकृतं जगन्मनः।।

निवेशितोऽत्रैव सुधारसः सुरैर्नूनं यदस्मै स्पृहयन्ति कामुकाः।
विहाय माधुर्यभृदिक्षुशर्कराखण्डादिवस्तूनि विहस्तमानसाः ।।[4]

नगर मे प्रवेश करते हुए सनत्कुमार के सौन्दर्य को देखने के लिए उत्सुक पुराङ्गनाओं की सुन्दरता का वर्णन कवि ने बड़े ही औचित्यपूर्ण ढंग से किया है[5]।

तैलमर्दन के समय सनत्कुमार के सौन्दर्य को देखकर आगन्तुक देवरूप ब्राह्मण बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने उसकी शारीरिक-कान्ति की प्रशंसा भी की, परन्तु अहंकार के कारण शीघ्र ही सनत्कुमार का शरीर कान्तिहीन हो गया। वस्तुतः मनःप्रसाद ही सौन्दर्य का कारण है। उसके बिना वह नष्ट हो जाता है। सनत्कुमार ने जराजीर्ण शरीर को तप द्वारा अभिनव सौन्दर्य से विभूषित किया। ऐसा सौन्दर्य कवि के अनुसार शरीर नष्ट हो जाने पर भी अविनाशी बना रहता है।

बाललीला-वर्णन—

कवि ने सनत्कुमार की बाललीला का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है।

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १७–१९।
२. वही, १७–२१।
३. वही, १७–२२।
४. वही, १७–३६–३८।
५. वही, २३– ६–१६।

बालक सनत्कुमार के मुख को चूमकर पिता अश्वसेन मधुव्रत के समान तल्लीन हो जाता था[१]। पिता के कान में उसके तुतले शब्द अमृत की वर्षा कर देते थे[२]। माता या पिता की अंगुली पकड़ कर चलता हुआ बालक सनत्कुमार नवोदित चन्द्रमा के समान उनकी दृष्टि को आकृष्ट कर लेता है—

स्खलत्पदं क्रामति मन्दमन्द, शिशाववष्टब्धकराङ्गुलीके।
धात्र्या धरित्रीपतिराबबन्ध, दृष्टिं नवे चन्द्र इवोदयस्थे ॥[3]

उसने काकपक्ष धारण कर रखे हैं। चन्द्रमा की कलाओं के समान बढ़ता हुआ वह शीघ्र ही पूर्णकला-सम्पन्न हो गया[४]। उसने कुमारभाव से अनिरुद्ध को जीत लिया, शारीरिक-सौन्दर्य में कामदेव को जीतने मे समर्थ हो गया—

जितानिरुद्धोऽपि कुमारभावे, वपुःश्रिया पुष्पशर जिगीषुः।[५]

घटना-बाहुल्य के कारण यद्यपि काव्य में बाल-चेष्टाओं का अधिक वर्णन सम्भव नहीं था, फिर भी कवि ने भावुकता का परिचय देते हुए सनत्कुमार की बाललीला के वर्णन के लिए अवसर निकाल लिया है। इससे अश्वसेन और सहदेवी की सन्तान-विषयक राग को वात्सल्य रस के रूप में परिणत होने का अवसर मिल गया है। ऐसे रुचिकर मार्मिक स्थलों की खोज और उनका यथोचित चित्रण सिद्धहस्त कवियों का ही काम होता है।

नगर-वर्णन—

जिनपालोपाध्याय ने कुरुजांगल-प्रदेश की शोभा का वर्णन वरते हुए उसे सब दिशाओं का मण्डन कहा है। उसमें अनेक देवालय व बड़े-बड़े सरोवर हैं। सारे निवासी धर्मसेवी हैं। उसमें अनेक चक्रवर्ती उत्पन्न हुए जिनके द्वारा दुर्भिक्ष, रोग, व्यसनादि को समाप्त कर दिया गया। वहां की भूमि पर पुष्पकाननों के विस्तार ने स्वर्ग के नन्दनवन की शोभा को भी तिरस्कृत कर दिया है—

सौरभ्यलुभ्यन्मधुपालिनाद-व्याजेन पुष्पोत्कटकाननानि।
अधिक्षिपन्तीव वनं सुराणां, प्रत्यब्दमुद्यत्कुसुमानि यत्र ॥[६]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् ८–४।
२. वही, ८–५।
३. वही, ८–६।
४. वही, ८–७।
५. वही, ८–८।
६. वही, ८–९।

एकावली अलंकार का प्रयोग करते हुए कवि कहता है कि नगर युवतियों से संकुलित हैं, युवतियां अद्भुत रूपवती हैं और रूप युवकों का मन चुरा लेता है जिससे उनका मुख म्लान हो जाता है:—

पुराणि योषाकुलसंकुलानि, योषाकुलान्यद्भुतरूपभाञ्जि ।
रूपाणि यूनां मनसां हि चौराश्चौरा: परिम्लानमुखाश्च यत्र ।।[१]

ऐसा ही वर्णन मदवर्षी-गण्डस्थल पर मंडराते हुए भ्रमरों के समूह का है—

न दन्तिनो दानविहीनगण्डा, न दानमप्युज्झितगन्धवासम् ।
गन्धोऽपि नैवासुरभिर्व्यधत्त, कलत्क्वणां यत्र मधुव्रतालीम् ।।[२]

मर्त्यलोक में भी यहां नित्य उत्सव मनाये जाते रहते हैं । इसलिए यह पृथ्वी पर ही स्वर्ग की शोभा को उपस्थित करता है । इस प्रदेश में हस्तिनापुर है जिसके विषय में कहा गया है—

हर्म्याणि रम्यस्फटिकोपलद्युतिच्छटाजलक्षालितदिङ्मुखान्यलम् ।
क्षपास्वखण्डक्षणदापतिप्रभाचितानि यत्राऽऽपुरलक्ष्यमूर्त्तिताम् ।।[३]

केलिवनों, सरोवरों आदि का वर्णन द्रष्टव्य है—

कीर्णानि कर्णामृतकेकिकेकापिकस्वनैः केलिवनानि यत्र ।
भंगाय मानस्य मनस्विनीनामलं समाधेश्च समाधिभाजाम् ।।
सत्सारसोदीरितमध्यमस्वरव्यामिश्रबर्हिस्फुटषड्जगीतिभिः ।
सरांसि पान्थाय वनैः समं सदा, प्रातर्गतौ यत्र दिशन्ति मङ्गलम् ।।[४]

हस्तिनापुर की समृद्धि के विषय मे कवि का कहना है कि वहां की रत्नराशि को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नाकर तो नाममात्र का ही रत्नाकर है—

यस्मिन्मणीनामवलोक्य राशीन्, सख्यातिगान्यन्यपथे प्रतीयुः ।
जनाः पयोधिं हृतसर्वसारं, नाम्नैव रत्नाकरकीर्त्तिभाजम् ।।[५]

संसार की सारभूता उस पुरी को देखकर इन्द्र अपनी पुरी को भी हीन समझता है—

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, ७–१९, २० ।
२. वही, ७–९ ।
३. वही, ७–१२ ।
४. वही, ७–१६ ।
५. वही, ७–२६ ।

संसारसाराखिलवस्तुपात्रं, यद्भूरिभिः सद्गुरुभिः कवीन्द्रैः ।
प्रसाधितं वीक्ष्य सहस्रनेत्रो, न बह्वमंस्ताऽऽत्मपुरीं गुणज्ञः ।।[१]

सनत्कुमार के जन्म के समय नगर के मार्गों को कुंकुम-मिश्रित जल से सींचा गया, कर्पूर-धूम से सुवासित किया और ऐसा कर दिया जिससे उच्छृंखल नृत्य करते समय भी नर्त्तकी को धूलि-कण न लगे—

मार्गा असिच्यन्त च कुँकुमाम्बुभिः, सान्द्रैः सधूपैर्घनसारमिश्रितैः ।
तथा यथोच्छृंखलनर्त्तनेष्वपि, स्त्रीणां बभूवुर्न लसद्रजःकणाः ।।[२]

प्रत्येक घर सिन्दूर-रंजित था, मंगल-वैजयन्ती-मालाएँ वायु से हिल रही थीं[३] । गलियों में पुष्प बिखरे हुए थे, जिन पर भौंरे मंडरा रहे थे और वेणु एवं वीणा के नाद के साथ किन्नरों की कला प्रकट हो रही थी—

रथ्यासु पुष्पप्रकरे रणद्भिस्तारं द्विरेफैः सहसाऽऽश्रियन्त ।
कलाः प्रभूता अपि किन्नराणां, सवेणुवीणाध्वनयोऽपि नादाः ।।[४]

सनत्कुमार के अपने नगर में प्रवेश करते समय नागरिक लोग उसकी सुन्दरता का नेत्रों से पान करते नहीं अघाते ।

अटवी-वर्णन

कवि ने भयानक राक्षसी के समान अटवी का वर्णन भी किया है जिसमें विभीतक के पेड़ उगे हुए हैं, काक-समूह बोल रहा है; फूलों से लदे हुए पलाश हवा से कांप रहे हैं और कई सूखी लताएं भी दिखाई पड़ रही हैं—

तालो हिन्तालता तालो कोटिशो यत्र दृश्यते ।
रूक्षा पत्रदरिद्रा च किं राज्ञां सन्ततिर्यथा ।।[५]

पद-पद पर मृगों की ध्वनि और किल-किलारव सुनाई पड़ता है । क्रूर मृगाधिपति को देखकर मृग शीघ्र भाग जाते है । यमराज के किंकर के समान

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १०–२३ ।
२. वही, ७-३३ ।
३. वही, ७–६२ ।
४. वही, ७–६३ ।
५. वही, ७–६६ ।

सब प्राणियों का वध करने वाले धनुर्धर किरात भी अटवी में दिखाई पड़ते हैं। वृक्षों पर रंग-बिरंगे बर्हों वाले मयूर दिखाई पड़ रहे हैं[1]।

शमीवृक्ष के फल खा लेने से अतिसार-ग्रस्त गीदड़कुल मांस के लिए भी नहीं दौड़ पाता[2]। ऐसा वर्णन कवि सूक्ष्म-निरीक्षण-पूर्वक ही कर सकता है।

उस अटवी में उल्लू घूघारव करता है एवं उसे और भी भयानक बना देता है। काले सर्पों का समूह चूहों के पीछे दौड़ता है। अटवी की भीषणता का चित्र कवि ने तदनुकूल भाषा अपना कर ध्वन्यालङ्कार द्वारा प्रस्तुत किया है—

यत्रामिषरसोन्मत्ताः स्फारफेत्कारफेरवाः।
जयन्त्यट्टध्वनिप्रौढान्नक्तं नक्तञ्चरानपि ।।[3]

वहां अनेक वराह मारने वालो को वराह अपने दंष्ट्रास्त्र से घायल कर देते हैं[4]। मित्र-स्नेहवश महेन्द्रसिंह ऐसी अटवी मे भी गया।

युद्ध-वर्णन

जिनपालोपाध्याय ने युद्ध के तीन प्रसंग अपने काव्य में प्रस्तुत किये है। युद्ध-प्रसंग में कवि ने वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत और बीभत्स रसों का चित्रण यथोचित रूप में किया है। भाषा भी तदनुरूप ओजपूर्ण और चित्रोद्भासिनी है। असिताक्ष के भयानक आक्रमणों और सनत्कुमार के निर्भीक प्रत्याघातों का वर्णन १३ वें सर्ग में है। समान बल के योद्धाओं का रणकौशल दर्शनीय उत्सव बन गया है। विजय अवश्य सनत्कुमार की होती है, परन्तु असिताक्ष यक्ष भी अमितबल होने से प्रशंसा का अधिकारी है। द्वन्द्व-युद्ध मे रत सनत्कुमार यक्ष के विषय में सोचता है कि, यह शृङ्गहीन वृषभ है अथवा कोई लोकविश्रुत चक्री है[5]। एक बार तो उसके प्रहार से वह विसंज्ञ तक हो जाता है—

मूर्च्छनापगमनात् समुदस्थात्, सुप्तबुद्ध इव केसरिपोतः।
क्रोधवाडवपयोनिधिराजो, राजसूनुरपहस्तितबाधः ।।[6]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १०–२३।
२. वही, १०–१६–२८।
३. वही, १०–२६।
४. वही, १०–३४।
५. वही, १०–३५।
६. वही, १३–१०६।

इस युद्ध का अन्त विजयी सनत्कुमार पर देवों की पुष्पवर्षा से होता है[१]।

सनत्कुमार का दूसरा युद्ध विद्युद्वेग से हुआ। वीरवर कुमार ने उसे मुष्टि-प्रहार से ही व्यथित करके समाप्त कर दिया—

मुष्टिप्रहारैर्जितवज्रघातैस्तं प्राहरद् वीरवरः कुमारः[२]।

विस्तार से युद्ध का वर्णन २०वें और २१वें सर्ग में हुआ है। यह वर्णन कवि-परम्परासिद्ध है। इसमे कवि को चित्रभाषा का प्रयोग करके पाण्डित्य प्रदर्शन करने का भी पर्याप्त अवसर मिला है। कहीं-कहीं अर्थ निकालने में खींचातानी करनी पड़ती है। बौद्धिक-व्यायाम इसे भले ही कहा जाय परन्तु काव्य की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का विशेष महत्व नहीं होता।

२०वें सर्ग में उभय पक्षों की सेना के प्रयाण का रोमांचकारी वर्णन है। शत्रुपक्ष की सेना कुमार को तो वैसे ही प्रतीत हुई जैसे सिंह को मृगवाहिनी—

दूरादथ कुमारस्य, चक्षुषो विषयं ययौ।
मृगादनस्येव मृगीवाहिनी सचलाचला॥[३]

युद्ध में सिर तो कट-कट कर ऐसे गिरने लगे जैसे मत्त हाथी कपित्थ-फल गिरा रहा हो—

शिरांसि शस्त्रलूनानि पेतुस्तत्र सहस्रशः।
कपित्था तूत्फलानीव स्कन्धे मत्तेभताडितात्॥[४]

रक्त की नदी में शरीर बहने लगे—

मूढघातैः परासूनां शरीराणि शरीरिणाम्।
वहन्त्यसृग्महानद्यां यादांसीव रयाद् बभुः॥[५]

आवेश में कई वीर अपने शस्त्र फेंक कर, क्रुद्ध होकर अपने प्रतिद्वन्द्वी से केशखींचते हुए युद्ध करने लगते है—

प्रक्षेपे सर्वशस्त्राणामयुध्येतां स्फुरत्क्रुधौ।
केशाकेशि भृशं कौचिदहो क्रोधः सुदुर्धरः॥[६]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् १३-१०६।
२. वही, १३-११५।
३. वही, १३-१२३।
४. वही, १८-६३।
५. वही, २०-२५।
६. वही, २०-८४।

२१वें सर्ग में अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग देखे जा सकते हैं। अपने सेनानियों के मर जाने पर अशनिवेग महान् अमर्ष से भर कर समर में स्वयं उतरा—

महामर्षभरः सोऽपि विवेश समरे स्वयम्।
भीमं यमस्य वेश्मेव मुमूर्षुरिव साहसी ॥[1]

गोमूत्रिका, खड्ग, मुशल, धनु, हल, शक्ति, क्षुरिका, कलस, निश्रेणिका आदि बन्धों का चमत्कार-पूर्ण प्रयोग करते हुए कवि ने युद्ध का रोमांचपूर्ण वर्णन कया है। आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र आदि का प्रयोग भी युद्ध में हुआ है। वारुणास्त्र का वर्णन द्रष्टव्य है—

सस्मार वारुणं मन्त्रं राजबीजी जयावहम्।
येन सद्यो गजश्यामैर्व्यानशे व्योम वारिदैः ॥[2]

इस युद्ध में सनत्कुमार विजयी हुआ। उसकी प्रशंसा सर्वत्र की गई।

चित्रकाव्य मे युद्ध का जैसा वर्णन जिनपाल ने किया वैसा माघ और श्री-हर्ष भी नही कर पाये। चित्रकाव्य को चाहे काव्यशास्त्री अधम काव्य मानते हों, परन्तु उसमे दक्षता पा लेना भी कम महत्त्व की बात नहीं है।

राजनीति-वर्णन

अश्वसेन ने सनत्कुमार को व्यावहारिक राजधर्म की शिक्षा दी है। वह कहता है कि राजाओं का प्रथम धर्म प्रजापालन है—

वत्स ! प्रजापालनमेव धर्मः, क्षोणीश्वराणां प्रथमः प्रतीतः।[3]

दुष्टों को क्षमा न करना और नीतिमान् होना, दोनो राजनीति के अंग हैं—

दुष्टाक्षमित्वं नयशालिता च, द्वयं तदङ्गं सहजं च तत्ते।
सर्पाशनं प्रावृषि नर्त्तनं चानुशिष्यते केन नवः शिखण्डी ॥[4]

काम दुर्वार्य पिशाच है, क्रोध मदमत्त बलवान् योद्धा है[5]। राजाओं को इन

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् २१–३४ (इस श्लोक में क-च-ट-तवर्ग का परिहार किया गया है।)

२. वही, २१–६२।

३. वही, ८–६३।

४. वही, ८–६६।

५. वही, ८–७०।

पर विजय प्राप्त करना चाहिए। राजा के वास्तविक शत्रु काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ आदि ही हैं। इनको जीते बिना अन्धकार मे प्रकाश भानु भी नही कर सकता[1]। इन्द्रियाँ घोड़े के समान उच्छृंखल होती हैं। उनको सयत करना भी आवश्यक है। कौटिल्य ने भी राज्य का मूल इन्द्रिय-जय माना है। पर-स्त्री की कामना लंकेश्वर की तरह समूल नष्ट करने वाली है। यहां उस धारणा का खण्डन हो जाता है जिसके अनुसार विक्रमयशा यथा-तथा अपने जीवन की रक्षा करना दण्डनीति का आधार मानता है—पर-स्त्री का हरण करके भी—

यथा तथाऽऽत्मा परिरक्षणीयः, इत्याह तावन्ननु दण्डनीतिः।[2]

प्रजा मे अनुराग बढ़ाकर राजा चिरकाल तक राज्य भोगने में सफल होता है। न्यायनिष्ठ होने से राम की तरह राजा प्रजानुरागी होता है।[3] राजा को धीर, क्षमाशील, विनम्र होने के साथ ही पराक्रमी होना चाहिए। उत्तम गुणों से ही राजा प्रजा का पालन करने मे समर्थ होता है। अश्वसेन के इस उपदेश की तुलना कादम्बरी के शुकनासोपदेश और दमयन्ती-कथा-चम्पू के सालंकायनोपदेश से की जा सकती है।

वस्तु-वर्णन में अलङ्कारों का प्रयोग

अलकृति काव्य-शरीर के शोभा-वर्द्धन मे कारण बनती है। लोक का अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि अलकारो की ओर रुचि मनुष्य-मात्र की सहज प्रवृत्ति है। यही प्रवृत्ति कला को जन्म देती है, परन्तु काव्य-कला में इनके प्रति अतिशय आग्रह अरुचि का कारण भी बन जाया करता है। संस्कृत के अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य अलकार को मानव की सहज-रुचि का सहजात होना स्वीकार करते हैं और इसी रूप में काव्य की आत्मा मानते हैं, परन्तु विचित्र-मार्गीय भट्टि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवि अलंकार को इस रूप मे स्वीकार नही करते थे। जिनपाल भी इसी परम्परा के कवि हैं और उन्होने अलकारों का उपयोग अपनी कृति में महाकाव्योचित गरिमा और उदात्तता का समावेश करने के लिये किया है।

कवि ने शब्दालंकारो और अर्थालंकारों—दोनों का ही उपयोग अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, परिसख्या,

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, ८–७२।
२. वही, १–८६।
३. वही, ८–८७।

एकावली, असंगति, संदेह, उदाहरण, विषम, मुद्रा आदि अलंकारों का काव्य में यथोचित प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारों का भी कहीं-कहीं बड़ा ही स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। यथा, अनुप्रास का प्रयोग—

वसतिः कालकेलीनां रौद्रतायाः परं पदम्।
दुःखानामाकरो धात्रा चक्रे या कौतुकादिव ॥[1]

श्लेष, यमक और वक्रोक्ति का भी अनेक स्थलों पर यथोचित स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों पर कवि को अपने उद्देश्य में सफलता मिली है। अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग के उदाहरण अन्यत्र आ चुके हैं।

जहां कवि ने खींचतान कर के अलंकारों का प्रयोग करने की चेष्टा की है[2] वहां कवि के उद्देश्य की हानि ही हुई है।

२१वें सर्ग में कवि ने शब्द-प्रयोग के माध्यम से चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की है। कहीं उसने विशेष वर्ग के वर्णों का परिहार किया है। यथा—

(१) क-वर्ग-परिहार—

महीयांसो भवन्त्येव महद्भ्योऽपि हि भूतले।
श्रोतुना नास्यते बर्ही यदाशीविषवृन्दहा ॥[3]

(२) क-च-वर्ग-परिहार—

तेन तत्र तथा तेने घनश्रोः शरसन्ततिः।
यथाऽऽसीदास्यचन्द्रस्य ग्रासच्छाया दिने ह्यरेः ॥[4]

(३) क-च-ट-वर्गत्रय-परिहार—

आदधेऽथ यशःशेषा भूरिसेनाः स शात्रवीः।
सुसंहता अपि ततो रत्नसूरिव तामसोः ॥[5]

(४) क-च-ट-तः वर्ग-चतुष्क-परिहार—

सभायामसुरेशोऽपि यशः समरसम्भवम्।
यस्योरुरोषभीमस्य ववार शशिप्रभम् ॥[6]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, १०–३८।
२. द्रष्टव्य पूरा २१वां सर्ग।
३. वही, २१–७।
४. वही, २१–१२।
५. वही, २१–२१।
६. वही, २१–३७।

(५) पंचवर्ग-परिहार—

आहवेऽवसरः सार साहसे हावराऽशिषाम् ।
वीरराशेरिहाऽस्याऽसल्लीलावार सरो रवेः ।।[१]

(६) तालव्य-वर्ण-परिहार—

आददे नम्रता साधु वरबाहुप्रसाधनम् ।
स धनुः सद्गुणोपेतं कान्तागात्रमनोहरम् ।।[२]

इसी सर्ग मे गोमूत्रिका, खड्ग, मुशल, धनु, हल, शक्ति, शर, क्षुरिका, चामर, कलस आदि बन्धों का प्रयोग हुआ है। चक्रबन्धों में 'सनत्कुमारचक्रिचरितमिदं'[३] 'जिनपालगणिवचनमिद'[४] वाक्यगर्भित छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। इन प्रयोगों से यही व्यक्त होता है कि कवि का भाषा पर असाधारण अधिकार है।

वस्तु-वर्णन में छन्द का उपयोग

छन्द अर्थ को प्रकाशित करने वाली सुनिश्चित पद-योजना को कहते हैं। छद ही सघनता और विरलता से काव्य को बन्ध या मुक्त बनाता है। छोटे से छोटे 'श्री' छन्द से लेकर ९९९ अक्षर के बड़े दण्डक-छन्द तक लिखने की काव्य-परम्परा विद्यमान है। विषय और शैली के अनुसार विशिष्ट छन्दों का प्रयोग होता रहा है। कुछ छन्द तो विशिष्ट काव्य-परम्परा के लिए रूढ हो गये है।

छन्द-शब्द को व्युत्पत्ति 'छदिर् ऊर्जने, छदि सवरणे, चदि आह्लादने दीप्तौ च, छद संवरणे, छद अपवारणे' आदि धातुओ से सम्भव है[५]। वेद में छंद को आच्छादन के अर्थ में प्रयुक्त माना गया है[६]। छान्दोग्योपनिषद् की एक कथा के अनुसार मृत्यु से डर कर देवगण त्रयोविद्या में प्रविष्ट होकर छन्दों से छादित हो गये। आच्छादन करने से ही छन्दों का छन्दत्व है[७]। ऐतरेय-आरण्यक के अनुसार स्तोता को आच्छादित करके छन्द पापकर्मो से रक्षित करते हैं[८]।

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, २१-४२।
२ वही, २१-५१।
३. वही, २१-१०४।
४ वही, २१-११२।
५ वैदिक छन्दो-मीमासा—पं० युधिष्ठिर मीमासक, पृ० ११-१३
६. यास्क—निरुक्त, ७-१२
७. छान्दोग्योपनिषत, १-४-२
८. ऐतरेय:आरण्यक, २-२

शरीर का आयतन सप्त-छन्दों से निर्मित होता है[1] । उनका काम शरीर को मर्यादित करना होता है। वही काम छन्द करता है। साहित्य में छन्द का अपना महत्त्व होता है। कात्यायन के अनुसार सारा वाङ्मय ही छन्दोरूप होता है—'छन्दो मूलमिदं सर्व वाङ्मयम्[2] ।' छन्द के बिना दुर्गाचार्य के अनुसार, वाक् उच्चरित नहीं हो सकती[3] । केवल पद्य में ही नहीं, गद्य में भी छन्द का अनुशासन रहता है। छन्द तो शब्द की अर्थ-लय की घोषणा करने वाला होता है। इसलिये कोई शब्द छन्द-रहित नही होता[4] । यह अक्षरों का नियामक होता है। कात्यायन के अनुसार यही छन्द का प्रमुख कार्य है – यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः[5] वस्तुतः भावों को आच्छादित करके अपने मे सीमित करने वाली शब्द-सघटना को साहित्य में छन्द कहते हैं। अर्थ को प्रकाशित करके अर्थचेता को आह्लादयुक्त करने मे भी छन्द का छन्दत्व प्रकट होता है[6], महाकाव्य तो प्रबन्ध-सज्ञा का अधिकारी ही छन्दो से बनता है। छन्दो की तेजस्विता का चरमरूप मुक्तक-काव्य में प्रकट होता है।

महाकाव्य में छन्द अर्थ-मर्यादा में ही कारण नहीं बनता, उसका काम कथा-प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखना भी होता है। छन्दों के पद-पद पर परिवर्तन से कहीं यह प्रवाह टूट न जाय—इस आशका के कारण महाकाव्य के लक्षणकारों ने यह नियम बना दिया है कि एक सर्ग में एक ही छन्द प्रयुक्त होना चाहिए। हां, कथा में आपेक्षिक नाटकीयता लाने और घटना को मोड़ देने के लिए सर्गान्त में छन्द बदला जा सकता है। कवियों ने बहुधा इस नियम का निर्वाह अपनी कृतियो मे किया है, परन्तु चमत्कारप्रिय महाकवियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होने छन्दों को भी चमत्कार-प्रदर्शन का साधन बना लिया। हिन्दी के कवि केशव को यह प्रवृत्ति संस्कृत के कवियो से मिली है। जिनपालोपाध्याय उन संस्कृत-कवियों में से हैं जिन्होने चमत्कार-प्रदर्शन के इस उपाय को अपना कर आगे के कवियों के लिए प्रेरणा देने का कार्य किया। उन्होने 'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' मे ७६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इतने छन्दों का कुशलता-

---

१. स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता और स्वराज्य—डॉ० बद्रीप्रसाद पचोली
२. ऋग्यजुप् परिशिष्ट ५
३. 'नाच्छन्दसि वागुच्चरति इति' निरुक्त..र्गांवस्ति. ७–२
४. 'छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति' नाट्यशा०
५. ऋक्पर्वानुक्रमण
६. म. विनयसागर—वृत्तमौक्तिक

पूर्वक प्रयोग कर पाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का छन्दशास्त्र पर भी असाधारण अधिकार है. काव्य में प्रयुक्त छन्दों के नाम सर्ग-क्रम से इस प्रकार है—

१. सर्ग मे—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १४ भेद—कीर्त्ति, वाणी, माला, शाला, हंसी, माया, जाया, बाला, आर्द्रा, भद्रा, प्रेमा, रामा, ऋद्धि, बुद्धि—,वसन्ततिलका और अन्त मे शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयाग हुआ है।

२. सर्ग में—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति १३ भेद, वंशस्थ इन्द्रवंशा, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के १० भेद और अन्त में मालिनी छन्द का प्रयोग हुआ है।

३. सर्ग में—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १४ भेद, शार्दूलविक्रीडित और मालिनी छन्दों का समावेश हुआ है।

४. सर्ग में—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १४ भेद, इन्द्रवंशा, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के ९ भेद और अन्त में शार्दूलविक्रीडित छन्द का उपयोग हुआ है।

५. सर्ग मे—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १३ भेद, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के ७ भेद और अन्त में मालिनी छन्द का प्रयोग हुआ है।

६. सर्ग मे—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १३ भेद, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति का १ भेद, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्द का व्यवहार हुआ है।

७. सर्ग में—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १४ भेद, वंशस्थ, इन्द्रवंशा, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के ११ भेद, वसन्ततिलका और मालिनी छन्द का समावेश हुआ है।

८. सर्ग मे—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १४ भेद, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति का १ भेद, अन्त में शार्दूलविक्रीडित छन्द का उपयोग हुआ है।

९. सर्ग में—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ९ भेद, आर्या, अनुष्टुप्, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति का १ भद, वसन्ततिलका, स्रग्विणी, मालिनी, पृथ्वी और स्रग्धरा का प्रयोग हुआ है।

१०. सर्ग में—अनुष्टुप्, आर्या, मालिनी, पृथ्वी और अन्त मे हरिणी छन्द का व्यवहार हुआ है।

११. सर्ग मे—अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के २ भेद, वसन्ततिलका, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्द का समावेश हुआ है।

१२. सर्ग में—अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ३ भेद और अन्त में स्रग्धरा छन्द का उपयोग हुआ है।

१३. सर्ग मे—आर्या, गीति, पादाकुलक, युग्मविपुला, द्विपदी, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, तोटक, रथोद्धता, मालिनी, विद्युन्माला, हरिणी, भ्रमरविलसिता, भुजगशिशुसृता, दोधक, प्रमाणिका, स्वागता, वसन्ततिलका, चण्डवृष्टिप्रपातदण्डक, हरिणप्लुता, वेगवती, विषमवृत्त, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ३ भेदों का प्रयोग हुआ है।

१४ सर्ग में—अर्णदण्डक, अर्णवदण्डक, व्यालदण्डक, मालिनी, प्रहर्षिणी, रुचिरा, अपराजिता, शिखरिणी, पृथ्वी, हरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १० भेद, इन्द्रवशा, वंशस्थ, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के ६ भेदों का व्यवहार हुआ है।

१५. सर्ग मे—मणिगुणनिकर, वाणिनी, स्रग्विणी, ऋषभगजविलसित, वसन्ततिलका, मालिनी, उपचित्र, द्रुतमध्या, वेगवती, केतुमती छन्द का समावेश हुआ है।

१६. सर्ग में—वंशस्थ, इन्द्रवशा, वशस्थेन्द्रवशोपजाति के १४ भेद—वैरासिकी, रताख्यानिकी, इन्दुमा, पुष्टिदा, उपमेया, सौरभेयी, शीलातुरा, वासन्तिका, मन्दहासा, शिशिरा, वैधात्री, शखचूडा, रमणा, कुमारी—, आर्या, उपगीति, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ४ भेद, मालिनी, हरिणी, पृथ्वी और स्रग्धरा छन्द का उपयोग हुआ है।

१७. सर्ग मे—वशस्थ, इन्द्रवशा, वशस्थेन्द्रवंशोपजाति के १४ भेद, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ३ भेद एवं स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है।

१८. सर्ग में—वंशस्थ, इन्द्रवंशा, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के १४ भेद, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ६ भेद, शार्दूलविक्रीडित तथा स्रग्धरा का व्यवहार हुआ है

१९. सर्ग में—अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ५ भेद,

वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति का १ भेद, मालिनी एवं हरिणी छन्द का समावेश हुआ है।

२०. सर्ग मे—अनुष्टुप् और अन्त में स्रग्धरा का उपयोग हुआ है।

२१. सर्ग में—अनुष्टुप्, आर्या, इन्द्रवंशा, उपेन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित और अन्त मे स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है।

२२. सर्ग में—रथोद्धता और स्रग्धरा छन्द का व्यवहार हुआ है।

२३. सर्ग मे—रथोद्धता और अन्त मे मालिनी छन्द का समावेश हुआ है।

२४. सर्ग में—रथोद्धता, बाला, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा और मालिनी छन्द का उपयोग हुआ है।

प्रशस्ति—इन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के ६ भेद, इन्द्रवंशा, वंशस्थेन्द्र-वंशोपजाति के २ भेद, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, आर्या, स्रग्धरा और मालिनी छन्द का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार इस काव्य मे मात्रिक छन्द ७, वर्णिक छन्द ६२, अर्द्धसम वर्णिक छन्द ५ और विषम छन्द २, कुल ७६ छन्दों का कवि ने प्रयोग किया है। इन प्रयुक्त छन्दो का वर्गीकरण एव लक्षणों पर द्वितीय परिशिष्ट में विस्तार से प्रकाश डाला गया है, द्रष्टव्य है।

कवि ने २०, २२, और २३वे सर्ग मे महाकाव्य के इस लक्षण का निर्वाह किया है कि एक सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए और सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन होना चाहिए। अन्य सर्गों मे अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। अधिकतर सर्गों मे इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति, अनुष्टुप् और रथोद्धता छन्दो का प्रयोग हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि के ये प्रिय छन्द हैं।

सब से अधिक छंदो का प्रयोग १३, १४, १५, १६, १७ और १८वे सर्ग मे हुआ है। जहाँ अपभ्रंश-साहित्य के प्रभाव से कवि ने पादाकुलक, द्विपदी आदि छंदो का प्रयोग किया है वहाँ पाण्डित्य-प्रदर्शन की दृष्टि से चण्डवृष्टिप्रपात, अर्ण, अर्णव और व्याल आदि दण्डक छंदों का तथा अपराजिता, ऋषभगजविलसित, मणिगुणनिकर आदि अल्प-प्रचलित वृत्तों का भी समावेश किया है। रसानुकूल छंदो का चयन एवं प्रयोग करने में कवि सिद्धहस्त प्रतीत होता है।

जहाँ तक कथा-प्रवाह का प्रश्न है, निश्चय ही छंदोवैविध्य से वह टूटा है, परन्तु काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इसमे कोई व्याघात नही आ पाया है। ऐसा प्रतीत

होता है कि कवि का मन जब वस्तु-वर्णन करते करते भावाभिभूत हो जाता है तो वह अपने मन के उल्लास को अनेक छन्दों के माध्यम से व्यक्त करने लगता है। जहां चमत्कार-प्रदर्शन की भावना से ऊपर उठ कर कवि ने इस रूप में छन्दों का उपयोग किया है वहां सचमुच ही कवि अपने कविकर्म में सफल हुआ है।

रस-चित्रण

काव्यानन्द का दूसरा नाम रस है। जो आनन्दधारा काव्य में आद्योपान्त प्रवाहित होती है और जिसका आस्वादन सहृदय किया करते हैं, उसी को रस कहते है—रस्यते इति रसः। तैत्तिरीयोपनिषद् में रस को ब्रह्म से अभिन्न आनन्द-स्वरूप माना गया है—रसो वै सः, रस ह्येवायं लब्वानन्दी भवति[1]। रस काव्य-पुरुष की आत्मा है। अलंकार, रीति, छन्द आदि इसके बाह्य उपकरण हैं। वामन रस को कान्ति-गुण का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं—'दीप रसत्वं-कान्तिः'। जिनपालोपाध्याय ने अपने पूर्ववर्ती माघ, भारवि, श्रीहर्ष आदि की परम्परा में अपने काव्य में कान्ति को लाना आवश्यक समझा। यह कान्ति औचित्य से आती है। शब्द और अर्थ का औचित्य काव्य में कान्ति को जन्म देता है और यही कान्ति रस बन जाती है। कान्ति-विहीन कविता नीरस और निःस्पन्द हो जाती है—

> एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः,
> सम्यक्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
> यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं,
> काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत॥

ऋग्वेद के अनुसार काव्य में रमणीयता, प्रियता, मधुर-मादकता तथा चारुता मुख्य होती है[2]। इसका मूल रस है। इसलिए इस रस पर विचार करना वस्तुतः काव्य की आत्मा की खोज करना है—उसकी रमणीयता का प्रत्यक्ष दर्शन करना है।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है कि सनत्कुमारचक्रिचरित-काव्य का मुख्य रस शान्त है। शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र आदि अन्य रस इसी को पुष्ट करते

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, ११।७।१

२. डॉ० फतहसिंह—भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, पृ. ७३

है। शृंगार-रस काव्य की रागात्मिका-वृत्ति का मुख्य आधार होता है। साहित्य-दर्पण के अनुसार शृग या कामोद्रेक के आगमन का हेतु शृंगार कहलाता है। वह उत्तम प्रकृति का होता है—

शृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार उच्यते।

शृंगार में मन की कोमल सौन्दर्य-भावना को प्रमुखता मिलती है और इसके माध्यम से दो मनोभूमियों का एकत्र आध्यात्मिक-योग प्रदर्शित किया जाता है। लौकिकता और अलौकिकता का अद्भुत मिलन शृंगार में देखने को मिलता है। इसलिए कवि ने इस काव्य में अपूर्व चारित्रिक-दीप्ति के विकास में शृंगार का उपयोग किया है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सन्तुलित चित्रण इस काव्य में देखा जा सकता है।

प्रथम सर्ग मे ही विष्णुश्री के उद्दीपक-सौन्दर्य का चित्रण है। उसके दर्शन-मात्र से विक्रमयशा काम-सन्तप्त हो जाता है। उसकी दशा का वर्णन इन शब्दों में देखा जा सकता है—

इमां विना तु क्षणमप्यलं न, प्राणानवस्थापयितुं समर्थः।
ग्रीष्मोष्मसन्तप्तशिलातलस्थः, सरश्च्युतो मत्स्य इवातिदीनः॥[1]

विष्णुश्री के साथ विताये उसके कामोद्दीप्त-क्षणों का चित्रण कवि ने बड़े ही संयत ढग से किया है। इसके लिए उपयुक्त प्रतीकों का प्रयोग किया है। यह कहा जा चुका है कि शृंगार का चित्रण कवि ने एक विशिष्ट उद्देश्य से किया है। इसीलिए वह बीच-बीच में कामुकता को धिक्कारने से नहीं चूकता—

धिक् कामुकत्व जनवाच्यतासुहृत्, सद्गौरवोल्लुण्ठनपश्यतो हरम्।[2]

तथा—

न कामुकः पांसुरिवादधाति, स्थितिं गुरूणां यदि चन्द्रबिम्बे।
यतोऽस्य मालिन्यभृतः कुसंस्थैः, समं भवेत् सन्ततमैत्रीमत्र॥[3]

विष्णुश्री के 'किं तेन सुकुण्डलेन यत्त्रोटयत्यद्भुतलम्बकर्णम्'—इस कथन में कवि ने लोकोक्ति का बड़ा ही सुन्दर और उपयुक्त प्रयोग किया है।

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, १–८२।
२. वही, २–६।
३. वही, २–८।

विक्रमयशा विष्णुश्री से क्षण भर का भी वियोग नहीं चाहता था—

यथेन्दुमौलिः सततानुरागाद्, गिरीन्द्रपुत्र्या क्षणमप्ययोगम् ।
त्रिस्रोतसो वा सलिलाधिनाथस्तस्यास्तथा नैच्छदसौ क्षितीशः ॥[1]

संयोग में वियोग की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता ।

नागदत्त की वियोगावस्था का वर्णन भी काव्य में बड़ा ही सुन्दर और औचित्यपूर्ण हुआ है । विष्णुश्री के गुणों का बखान करने वाली अभिसारिका के वचनों को सुन कर वह व्याकुल हो जाता है—

प्रियागुणस्मृत्यभिसारिकाभि-र्वाचालितोऽसौ विललाप दीनम् ।
हा !! हंसगामिन्यधुना न कुर्युः, कस्या गतिं मे गृहकेलिहंसाः ॥[2]

वह चित्रलिखिता-प्रिया को देखकर उन्मत्तवत् हो जाता है—

चित्रार्पितामप्यवलोक्य कान्तां, दूरोन्नमद्बाहुरधावदेषः ।[3]

उधर विष्णुश्री की मृत्यु हो जाने पर राजा की दशा भी बिगड़ गई । वह बड़ी देर मे होश में आया । अन्त में वह विरक्त हो गया और साधना द्वारा स्वर्ग को प्राप्त हुआ ।

नागदत्त और विक्रमयशा की वियोगावस्था के चित्रण में करुण-रस की व्यंजना भी देखी जा सकती है ।

वियोग-वर्णन ९वें सर्ग में भी हुआ है । सनत्कुमार के वियोग में उसके माता-पिता और पुरवासी सन्तप्त हैं ।

असिताक्ष और उसकी प्रेयसियों की सरोवर-केलि मे शृंगार का यथेष्ट चित्रण देखा जा सकता है । सनत्कुमार के विविध-विवाहादि के अवसर पर भी शृंगार-रस का चित्रण हुआ है ।

काव्य में कई युद्ध के प्रसंग भी हैं । इनमें वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स और भयानक रसों का यथोचित चित्रण हुआ है ।

प्रहेलिका आदि के प्रसंग में हास्य और व्यंग्य का प्रयोग भी हुआ है ।

इन सब से क्रमशः परिपुष्ट होता हुआ शान्त-रस उदय होता है । २३वें सर्ग में सनत्कुमार अपने जरारोग-ग्रस्त श्रीहीन शरीर को देख कर निर्वेद को

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, २–५० ।
२. वही, २–५३ ।
३. वही, २–६० ।

स्थिति में वैराग्य धारण करता है। यह वैराग्य उग्र तपस्या में परिणत हुआ। यहीं सनत्कुमार के धीर और उदात्तचरित्र की चरमावस्था देखने को मिलती है। वह शान्ति-पथ का पथिक हो जाता है।

काव्य की आत्मा रस के माध्यम से कवि ने अपने काव्य को चिन्तन के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इसमें शृङ्गार उदात्त अवस्था को प्राप्त होता हुआ अन्त मे स्वयं शान्त में परिणत हो जाता है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रसों का यह एकीभूत प्रवाह 'सनत्कुमारचक्रिचरित' काव्य को उच्चकोटि के महा-काव्य के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है।

काव्य में लोक-चित्रण

कवि पर सम-सामयिक जीवन का प्रभाव अवश्य पड़ता है। चाहे उसकी काव्यकला अतीत को अपना विषय बनाकर चलती हो, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उसके काव्य के इतिवृत्त में से झाँकता हुआ वर्तमान सामने आये बिना नहीं रहता। जिनपालोपाध्याय ने प्रस्तुत काव्य मे तत्कालीन समाज का सांगोपांग चित्रण किया है। सारे काव्य को पढ़ने के उपरांत इसमें कोई सदेह नहीं रहता कि कवि लोक का निकट से अध्ययन करने में सफल हुआ है। उसकी कला, न किसी राज-दरबार की शोभा का हेतु बनी है और न उसका जीवन ही किसी सीमित क्षेत्र में विकास को प्राप्त हुआ है। जिनपाल का क्षेत्र लोक है और उसी का सच्चा प्रतिबिम्ब इस काव्य में देखने को मिलता है! यद्यपि जिनपाल श्रमण-परम्परा के अनुयायी हैं परन्तु उनकी दृष्टि संकुचित न होकर लोक-व्यापिनी है।

विक्रम की तेरहवीं शती में कवि के आँखों के सामने ही पृथ्वीराज चौहान एवं हिन्दू-साम्राज्य का अन्त हो चुका था और भारत मे अफगानों का शासन सुदृढ हो गया था। भारतीय विचार-परम्परा में इस समय परिवर्तन आना स्वाभाविक था। यद्यपि जिनपाल द्वारा इस काव्य में चित्रित समाज विशुद्ध हिन्दूकालीन समाज है और सम्भव है पुराण का आधार लेकर उन्होने कुछ ऐसी बातो की ओर भी सकेत किया हो जो उस समय प्रचलन में न हों, तो भी इस काव्य मे समाज में आता हुआ परिवर्तन व्यंजित हुए बिना न रह सका।

वर्णाश्रम

काव्य में वर्णाश्रम-धर्म के माने जाने की ओर संकेत मिलता है, परन्तु

समाज में आई हुई शिथिलता से वह प्रभावित हुए विना न रह सका। विक्रम-यशा के चरित्र से पता चलता है कि राजा विवेकशील शासक हुआ करता था, परन्तु वह वासना की क्षणिक उत्तेजना को संयत करने में असमर्थ हो जाता था। अब राजनीति आत्म-रक्षा तक ही सीमित रह गई थी—

यथा तथाऽऽत्मा परिरक्षणीयः, इत्याह तावन्ननु दण्डनीतिः[1]।

यह मान्यता प्रचलित थी कि राजा प्रजा का रक्षक पिता होता है[2], परन्तु वह समय के प्रभाव से अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गया था और अपनी प्रजा में से सुन्दर स्त्रियों का अपहरण करने से भी न चूकता था। स्त्री-हरण की घटनायें प्रायः सभी रासो ग्रन्थों में भी मिलती हैं। इसलिए यह समाज की साधारण घटना हो गई थी।

राजा की धर्मभीरुता का उदाहरण हरिवाहन के चरित्र में देखा जा सकता है। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार राजा का कर्त्तव्यच्युत होना समाज में मर्यादाहीनता को जन्म देता है। समाज की ऐसी दशा का वर्णन काव्य में सांकेतिक ढग से हुआ है।

नागदत्त वैश्य-वर्ण का प्रतिनिधि है। वह सत्यवक्ता, प्रियंवद और याचकों को सन्तुष्ट करने वाला है, किन्तु विलासी युवा है।

अग्निशर्मा नैष्ठिक वेदपाठी ब्राह्मण है। उसका जन्म सिंहपुर में हुआ जहाँ यज्ञ-धूम से सूर्य आच्छादित रहता था, सभी दिशाएँ वेद-ध्वनि से गुंजायमान रहती थी। उषःकाल में जहां मृगशावक केलि करते हुए मन को आकृष्ट कर लिया करते थे; परन्तु साथ ही जहां वारविलासिनियों के कलगान की ध्वनि भी सुनाई पड़ती रहती थी[3]। अग्निशर्मा स्वयं बड़ा क्रोधी था[4]। वह जिनधर्म की पीठ पर गरम खीर रखवा कर उसे पीड़ा पहुंचाने से भी नही चूकता।

द्विजों के ऐसे चरित्र को देख कर शूद्र की क्या स्थिति होगी—इसकी कल्पना की जा सकती है। समाज की इस दशा को देख कर लेखक का ध्यान मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित्र की ओर आकृष्ट होता है। कदाचित् पद-पद पर अप्रस्तुत योजना में राम का उल्लेख[5] इसी कारण से हुआ है। समाज को

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, १–८६।

२. वही, २–१६।

३. वही, ४–६०–६१।

४. वही, ४–६४।

५. वही, ४–८५।

असमंजसता में मर्यादापुरुषोत्तम की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस संकेत से जिनपालोपाध्याय के समय रामभक्ति का प्रादुर्भाव होना भी सिद्ध होता है।

वर्ण-व्यवस्था की तरह आश्रम-व्यवस्था मे भी शिथिलता आ रही थी। इस समय के तान्त्रिक ग्रंथ गृहस्थ और संन्यास दो ही आश्रम प्रचलन में मानते हैं। इस महाकाव्य में भी इन्हीं आश्रमों की ओर सकेत है। त्रिदंडो शब्द से सन्यास की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। गृहस्थ-जीवन का आधार दाम्पत्यभाव है। इस समय समाज में व्याप्त विलासिता की प्रवृत्ति के कारण नारी-जीवन अरक्षित होता जा रहा था और इस प्रकार गृहस्थ-आश्रम के आधार-सूत्र निर्वल होते जा रहे थे। दूसरी ओर सन्यास-जीवन को मर्यादाए भी समाप्त-प्राय थीं। 'सर्वभूतहितरत:' संन्यासी अव कार्मण-प्रयोग करने मात्र के लिए रह गए थे।

इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था में शिथिलता आ गई थी।

विवाह

काम-जीवन को समाज-सापेक्ष और संयत वनाने का साधन विवाह है। जिनपाल के समय सतीत्व में विश्वास बना हुआ था। पति को नारी के लिए माननीय माना जाता था[१]। कामुकता धिक्कार की वस्तु मानी जाती थी[२]।

प्रस्तुत काव्य में विवाह-सम्बन्धी रीति-रिवाजों की बड़ी ही सुन्दर झांकी प्रस्तुत की गई है। इससे कवि के व्यावहारिक ज्ञान पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। लोग सिद्ध-पुरुषों की वाणी में विश्वास करते थे। गणितज्ञ वर-कन्या के गुण-दोषों पर विचार करते थे। शुभग्रह, प्रशस्त लग्न आदि देखे जाते थे[३]। विवाह-मंगल के उपरान्त पाणीग्रहण की विधि सम्पन्न होती थी[४]। भानुवेग ने विवाह के अवसर पर स्वर्ण राशि दान दी थी, जैसे वह सब पुरवासियों को अपने समान बनाने के लिए कृतसंकल्प हो[५]। कन्याओं के मंगल-स्नान के उपरान्त चार सुहागिनों ने उन्हें कपड़े पहनाए। उन पर गुरुजनों ने लाजा बरसाए।[६] महावर

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, २–२३।
२. वही, २–६।
३. वही, १५–३२।
४. वही, १५–३३।
५. वही, १५–३४।
६. वही, १५–४०।

लगा कर चरणों को, चन्दन की पत्रवल्ली बना कर मुख को, अंजन से नेत्रों को, कास्तुरिकी-पत्रवल्ली से स्तनों को और स्वर्णाभूषणों से समस्त अंगों को सजा कर कन्याओं को दुलहिन के रूप मे सजाया गया था[1]। कन्याओं की कुल-स्त्रियों ने कुमार के शरीर का सस्कार किया था[2]।

सनत्कुमार ने हाथी पर बैठ कर तोरण मारा और मणि-सज्जित मण्डप में प्रवेश किया[3]। वेदी पर मधु, आज्य, घृत, अक्षतादि से जातवेदा को प्रदीप्त किया गया। अग्नि की सप्त-शिखाओं की वर-वधुओं ने प्रदक्षिणा की। राजा ने अयुत कोटि काञ्चन प्रदान किया। साथ में अनेक बरतन, वस्त्र, आभूषण आदि प्रदान किये[4]। सायकाल वधुओं से समागम के समय प्रश्नोत्तर के रूप में विदग्धगोष्ठी का आयोजन हुआ। आज भी लोक में वधू-पक्ष की स्त्रियां वर-से प्रहेलिकाये आदि पूछती हैं। जिनपालोपाध्याय ने विदग्धगोष्ठी के आयोजन को बात लोक की इस परम्परा से ही ग्रहण की होगी। उदाहरणार्थ एक सलाप द्रष्टव्य है—

प्रश्न—

का प्रार्थ्यते विश्वजनेन सादरं ? का वा विजेया बत चक्रवर्तिनाम् ?
कीदृग् नृपः स्यान्नः पराभवास्पदं ? भात्यम्बरे वन्दनमालिकेव का ?

उत्तर संकेत—

अथोक्त्वा तातताततीरूपां काचित् ततावलीम्।
दयितालोकयामास, सस्मेरं वल्लभाननम्॥

उत्तर—

प्रिये किमत्र वक्तव्यं प्रसिद्धा सारसावली।
नर्मणा पुनरप्याह, सैव भग्यन्तरेण तत्[5]॥

यहां प्रिया ने चार प्रश्न पूछे—१. विश्व भर के पुरुषों द्वारा किस की याचना की जाती है ? २. चक्रवर्ती द्वारा क्या जीती जाती है ? ३. कौनसा राजा पराभूत नही होता ? तथा ४. आकाश में बन्दनवार-सी क्या सुशोभित होती है ?

---

१. सनत्कुमारचक्रचरितमहाकाव्यम्, १५-४१-४६।
२. वही, १५-४७।
३. वही, १५-५९-६०।
४. वही, १६-४-२०।
५. वही, १६-३०-३२।

ऐसा कह कर प्रिया ने पति को उत्तर का संकेत 'तातततातती' ततावली के रूप में दिया। इस अक्षर-क्रम के अनुसार सनत्कुमार ने 'सारसावली उत्तर दिया। इस में उपर्युक्त चारों प्रश्नों के उत्तर भग्वन्तर-पूर्वक आ जाते हैं। यथा क्रमशः १. सा (स्त्री), २. रसा (पृथ्वी), ३. बली (बलवान्) तथा ४. सारसावली।

यह मनोरंजन के लिए तो आयोजन था ही, साथ ही इसके द्वारा बुद्धि-परीक्षा भी हो जाती थी। इससे यह भी पता चलता है कि पुरुष के साथ स्त्रियां भी सुशिक्षिता होती थीं।

आठ प्रकार के विवाहों में गान्धर्व, आसुर, पैशाच आदि विवाहों का प्रचार भी था। विष्णुश्री का हरण करना क्षत्रियों द्वारा कन्याहरण करके विवाह करने से सर्वथा भिन्न कृत्य है। इसे पैशाचिक कृत्य माना जा सकता है। विवाह प्रथा को धार्मिक स्वीकृति के रूप में ग्रहण न करके इस प्रकार स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति का अपनाया जाना समाज की ह्रासोन्मुखी गति को सूचित करता है।

वस्त्राभूषण

काव्य में विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों का उल्लेख पाया जाता है। स्त्रियां सिर पर अंशुक धारण करती थीं। स्तनों को सांप की कंचुली के समान मसृण वस्त्र की चोलिका ढकती थी। ऊपर से प्रावरक लटकता था। वस्त्र शरीर की माप के होते थे, ढिले-ढाले नहीं। विवाह के समान भानुवेग की पुत्रियों को श्वेत परिधान में सजाया गया था। उन्हें विविध आभूषणों से सजाया गया था। भाल पर चूडामणि, कान में कर्णफूल, कण्ठ में मुक्ताहार, कटि में रशना, पैरों में नूपुर आदि कुछ प्रसिद्ध आभूषणों के नाम प्रयुक्त हुए हैं। कंकण, हार, कुंडल आदि पुरुष भी पहिनते थे। सनत्कुमार के नगर प्रवेश के समय स्त्रियों ने अपने आभूषण अन्यान्य अंगों में पहन लिए थे। आभूषणों का प्रलोभन देकर विक्रमयशा ने विष्णुश्री को अपने वश में कर लिया था। पुत्र-जन्मोत्सव के समय अश्वसेन ने वस्त्र और आभूषण प्रजाजनों को भेंट दिए थे।

प्रसाधन

नारी के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने वाले अनेक प्रसाधन प्रचलित थे। केशों में पुष्प-रचना की जाती थी। पत्र-रचना ललाट, गण्डस्थल और स्तनों

पर की जाती थी। इसके लिये कस्तूरी का उपयोग भी होता था। हथेली और पदतल में अलक्तक का प्रयोग होता था। भाल का तिलक नारी-सौन्दर्य को अनेक गुना बढ़ा दिया करता था। आँखों में अंजन लगाया जाता था। पुष्प-पराग का उपयोग शरीर-प्रसाधन के लिये किया जाता था। उबटन लगा कर शरीर-संस्कार करने की प्रथा भी प्रचलित थी। 'शरीर-संस्कार' शब्द से यह व्यंजित होता है कि प्रसाधन विलासिता के साधन नहीं थे, वरन् शरीर-शुद्धि के नित्य-प्रति व्यवहार मे आने वाले साधन थे। विलासिता के साधन के रूप में शरीर को कुंकुम व कस्तूरी से चर्चित किया जाता था। प्रसाधनों का प्रयोग शुभ मूहूर्त्त में किया जाता था।

नारी-जाति की स्थिति

समाज में बहुविवाह प्रथा का प्रचलन था। इसलिये नारी का स्थान समाज में गिर गया था। या तो उसे भोग की वस्तु समझा जाता था अथवा उसे धर्मकार्य-बाधक मानकर त्याज्या ठहरा दिया गया था। सतीत्व में विश्वास किया जाता था[1]। सती और पुत्र-प्रजनन करने वाली स्त्री का समाज मे सम्मान होता था। अन्तर्वत्नी होने पर उनकी सब इच्छाएँ पूरी करके दोहद-क्रिया सम्पन्न की जाती थी। कामुकता निन्दनीय थी[2], परन्तु समाज में इसकी व्याप्ति असंदिग्ध रूप से मानी जा सकती है। स्त्रियों का हरण कर लेना साधारण बात थी।

विवाह मे प्रहेलिका आदि पूछे जाने से निश्चित है कि स्त्रियों को शिक्षा देकर योग्य बनाया जाता था, परन्तु कार्मण प्रयोग के उल्लेख[3] से पता चलता है कि उनमें अन्ध-विश्वास बढ़ रहे थे। साधारण प्रलोभन देकर उनके सतीत्व-भंग करने का प्रयत्न भी किया जाता था। यह विश्वास आमतौर से चल गया था कि विचक्षण होने पर स्त्रियों में स्थिरता नहीं होती—

स्थैर्यं क्व वा स्त्रीषु विचक्षणास्वपि[4]।

कवि ने इस काव्य के नारी-पात्रों के लिये जिन उपमानों का प्रयोग किया है उनको देखते हुए यह मानना होगा कि स्त्रियों को लक्ष्मी, शची, पार्वती, सीतादि

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, २–२३।
२. वही, २–६।
३. वही, २–७६।
४. वही, २–३३।

के समान पवित्र माना जाता था, किन्तु उनका सामाजिक महत्त्व निरन्तर गिरता जा रहा था। कवि ने जितने मनोयोग से नारी-पात्रों के सौन्दर्य का चित्रण किया है उतने ही मनोयोग से वह उनके गुणों और सहज मानवीय आचरणों का वर्णन नहीं कर सका। यह युग-प्रभाव को सूचित करता है।

समाज की सामान्यदशा

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय समाज ह्रासोन्मुख हो गया था। राजा प्रजा का पिता और पालक समझा जाता था[1] परन्तु ऐसे प्रजापालक राजा बहुत कम थे। अन्धविश्वास समाज में बढ़ते जा रहे थे। यह विश्वास तो था कि धर्म के मार्ग पर जन्म सफल होता है[2]। पुण्यों की विजय होती है[3] और पापात्मा को उसके उग्र पाप शीघ्र पतित कर देते हैं[4], परन्तु धर्म अब भय की वस्तु रह गई थी। जीवन के उत्सव के रूप में ही समाज में वह स्थायी व्यवस्था और चारित्रिक-शील के विकास में सहायक होता है। इस समय यह स्थिति समाप्त हो गई थी और केवल भय धर्म को समाज का प्रेरक-स्रोत नहीं बना सकता।

समाज का विकास महदुद्देश्य के लिये आत्मविसर्जन करने वाले चरित्रों से होता है[5]। जिनपालोपाध्याय के काल में ऐसे उदार-चरितों की समाज में कमी आती जा रही थी। स्त्रियों के प्रति अविश्वास उत्पन्न होता जा रहा था।

कुल मिलाकर देखें तो सनत्कुमारचक्रिचरितम्' में हारी हुई जाति के चिंतन के ही दर्शन होते हैं। जैसे प्राणरक्षा करना जीवन का आधारभूत सिद्धांत बन गया था—

यथा तथाऽऽत्मा परिरक्षणीय:[6]

उन्नत समाज में जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण नहीं होता। पूर्णायु प्राप्त करना तो सभी का अभीष्ट हो सकता है, परन्तु वीर-पुरुष स्वतन्त्र और अदीन होकर जीवित रहने में ही विश्वास करते हैं।

---

१. पिता भवेत् भूमिपति: प्रजानाम्। वही, २-१६।
२. वही, ३-६२।
३. जयन्ति पुण्यानि जनस्य सर्वथा। वही, ३-८८।
४. वही, ३-१७।
५. डॉ० पंचोली—शिक्षा का उद्देश्य: आत्मविसर्जन, भारतीय शिक्षा फरवरी १९६७।
६. सनत्कुमारचक्रिचरितम्, १-८६।

सांस्कृतिक एवं वैचारिक पृष्ठ-भूमि

भारतवर्ष में जनजीवन का विकास दो धाराओं में हुआ। वे धारायें हैं— लोक और वेद। पूर्ण जीवन की व्याख्या में क्या वैदिक, क्या श्रमण, दोनों परम्पराओं ने लोक और वेद का आश्रय लिया और सर्वत्र दोनों के समन्वय पर बल दिया। लोक-संग्रह जीवन का सर्वोपरि धर्म बन गया। जीवन की इस दृष्टि का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा।

मध्यकाल में अनेक सन्त कवि हुए। उनके काव्य में मर्यादावाद का स्वर सर्वोपरि है। इस प्रकार के कवियों में गोस्वामी तुलसीदास अग्रणी कहे जा सकते है। 'रामचरितमानस' को छोड़ कर ऐसे बहुत कम काव्य होंगे जिनमें मर्यादावादी विचार-धारा के साथ काव्य-सौष्ठव भी यथावत् विद्यमान रहा हो, इसका कारण यह है कि उपदेशात्मक काव्य प्रायः नीरस हो जाया करता है या यों कहना चाहिए कि वह ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार की प्रतीति का कारण मनोवैज्ञानिक है। मानव स्वभावतः स्वच्छन्द उत्पन्न हुआ है। वह न तो विधानों के बन्धन में रहने को तैयार होता है और न उसकी प्रवृत्ति उपदेश सुनने में ही होती है। वह राज्यादेश के प्रति विद्रोह कर उठता है तो धर्मोपदेश से उसको विरति हो जाती है। साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने मानव की इस प्रवृत्ति को भली प्रकार समझ लिया था, इसीलिए मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में काव्य के उद्देश्य बतलाते हुए कहा—

कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'[1]।

स्पष्ट है कि काव्य में प्रियस्त्री की तरह मनभावन उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। कान्ता के उपदेश राजा और धर्माचार्य की तो बात ही क्या, मित्र से भी अधिक आत्मीयता-पूर्ण एवं प्रभावशाली होते हैं। कालिदास के काव्यों और नाटकों मे ऐसी शैली में प्रभावपूर्ण प्रेरणासूत्र विद्यमान हैं। उनके काव्य में सर्वत्र लौकिक-प्रेम का चित्रण है। यहां तक कि शिव और पार्वती के दिव्य-प्रेम को भी लौकिक आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है। वह शृंगार और लालित्य का कवि माना जाता है फिर भी उसे भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च व्याख्याता कहा गया है। इसका कारण यह है कि उसने सांस्कृतिक आदर्शों को काव्य की ललित योजना की सीमाओं में बांधने की चेष्टा की है और इसमें उसे सर्वाधिक सफलता मिली है।

---

१. काव्यप्रकाश १।२

भारत के किसी भी महाकाव्य को परखने के लिए यहां की उस दृष्टि को ध्यान में रखना आवश्यक है जो कालिदास के काव्यों में सर्वत्र विद्यमान रही है। कालिदास के काव्य में प्रेम का क्रमशः उदात्तीकरण दिखाया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलनाटक का प्रारम्भ कवि ने श्रृंगारिक वातावरण के वर्णन से किया है—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि[1] ॥

इस वातावरण में सारे परिषद् चित्तवृत्ति के एकाग्र होने से चित्र लिखे से हो जाते हैं—'अहो ! रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव विभाति सर्वतो रङ्गः[2] । स्पष्ट है कि यह श्रृंगारिक वर्णन चित्त को एकाग्र करने के उद्देश्य से किया गया है। नाटक के प्रारम्भ में पता चलता है कि प्रेमी दुष्यन्त, राजा दुष्यन्त के सामने सभा में अपराधी होकर खड़ा है और राजा दुष्यन्त उसे दुर्विनय से निवारित करता है। आगे प्रेमी दुष्यन्त के संयत होने की कहानी है। अन्त में प्रेमी दुष्यन्त और राजा दुष्यन्त एक दूसरे में अपना व्यक्तित्व खो देते हैं और महाप्रतापी भरत के पिता के रूप में स्वर्ग तक मानवी-कीर्त्ति को विस्तृत करता हुआ श्रद्धा वित्त और विधि से समवेत दुष्यन्त श्रेयो-मार्ग का पथिक बन कर हमारे सामने आ उपस्थित होता है। वह कहता है—'भगवन् यथाशक्ति: श्रेयसि यतिष्ये। इस प्रकार स्वच्छन्दता से प्रारम्भ होकर क्रमशः संस्कृत होते हुए जीवन का चित्र इस कृति में है, जिसने कालिदास को भारत का सर्वश्रेष्ठ महाकवि बना दिया है।[3]

कालिदास द्वारा प्रदर्शित मार्ग परवर्ती कवियों के लिये आदर्श बन गया। बौद्धकवि अश्वघोष ने अपने सौन्दरानन्द काव्य में प्रेम का उदात्तीकृत रूप कालिदास के अनुकरण पर ही प्रस्तुत किया है। जैन कवियों ने भी ऐसा ही किया। धार्मिक-परम्पराओं के प्रति प्रतिबद्ध होने पर भी इन कवियों ने अप काव्य को उपदेशात्मक मात्र नहीं बनने दिया। उन्होंने यह दृष्टिकोण अपना कर सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से मौलिकता का परिचय ही नही दिया, वरन् अपने काव्य मे मनोवैज्ञानिक असंगति न आने देने की सावधानी भी बरती।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १-४।
२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १-४।
३. डॉ० पंचोली—अभिज्ञान शाकुन्तल का नायक, वैदिक धर्म, अक्टूबर १९६६।

प्रसिद्ध काव्य 'धर्मशर्माभ्युदय' में १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित वर्णित है। उसमें पुत्र को गोदी मे लेने से प्राप्त आनन्द का वर्णन इन शब्दों में हुआ है—

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो, न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां, कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥

ऐसे वर्णनों में कवि लोकदर्शन से प्रभावित हुआ है। यद्यपि इस काव्य का मुख्य रस शान्त है, परन्तु शृङ्गार, वात्सल्य आदि मन को रंजित करने वाले रसों से उसे पुष्ट किया गया है। 'जयन्तविजय' काव्य का उद्देश्य धर्म-प्रचार होने पर भी उसका कथानक शान्तरस-पर्यवसायी नही है[1]। पद्मानन्द-महाकाव्य में आदिजिन (ऋषभदेव) के चरित का वर्णन है। इसमें ऋषभदेव के पूर्वभवों के वर्णन में शृंगारिकता देखी जा सकती है। 'मुनिसुव्रत' महाकाव्य के प्रारंभ में मगध, राजगृह, राजा सुमित्र और रानी पद्मावती का वर्णन है। 'नलायनम्' महाकाव्य में जैन-परम्परानुमोदित नलदमयन्ती की कथा वर्णित है। 'शान्तिनाथ-चरित' में युद्ध और प्रेम के प्रसग भरे पड़े हैं। पौराणिक महाकाव्यों में भी कवियों का दृष्टिकोण अन्य महाकाव्यों के समान ही रहा है। इन सभी काव्यों में पाठक को लौकिकता में अलौकिकता का, राग के माध्यम से विराग का, शृंगाररस के माध्यम से शान्त का, आसक्ति में अनासक्ति का और प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का विकास देखने को मिलता है।

जहाँ पर कवि को अवसर मिला, उसने कालिदास की तरह लौकिक प्रेम का वर्णन करते हुए, मन को स्थिरता प्रदान करते हुए उसमें प्रेम के उदात्तीकृत रूप को विकसित होते हुए दिखाया। जहाँ ऐसा अवसर नहीं मिला वहाँ उसने अपने आदर्श चरित-नायक या नायिका के पूर्वभव का आधार लेकर लौकिक प्रेम आदि के वर्णन का अवसर निकाल लिया। धर्म के गम्भीर तत्त्व का विवेचन ऐसे वातावरण का निर्माण करके किया और एक सीमा तक धार्मिक उपदेश देने की प्रवृत्ति को काव्य का सुन्दर आवरण पहनाने की किसी ने सफल और किसी ने असफल चेष्टा की। धर्म का विवेचन करते समय अप्रस्तुत के रूप में लोकजीवन के रसात्मक क्षणों को लाकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

प्रस्तुत महाकाव्य के कथानक को देखने से यह बात भली भांति प्रकट हो जाती है कि इस काव्य की रचना में भी कवि ने अपने पूर्ववर्ती व समकालीन कवियों का अनुकरण किया है।

---

१. डॉ० श्यामशकर दीक्षित—तेरहवी चौदहवीं शताब्दी के जैन महाकाव्य, पृ० ३०५।

जिनपालोपाध्याय ने इस महाकाव्य में शृंगार के लौकिक पक्ष को स्थान देने के लिये सनत्कुमार के पूर्वभवों का आधार लिया है। शृंगार का स्थायीभाव रति है। जन्म लेते ही बालक का भूमि से सम्पर्क हो जाता है। इसलिये गर्भ में धारण करने वाली माता और भूमि रति के सर्वप्रथम आलम्बन हैं। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का उद्घोष इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करता है। जिनपालोपाध्याय ने सर्वप्रथम काव्य-जननी भारती का वन्दन किया। तदुपरान्त भावभीने स्वर मे जम्बूद्वीप में जाह्नवी और सिन्धु से सिंचित भारतभूमि का यशोगान किया है। आगे काव्य के प्रथमांश की आधार-भूमि काँचनपुर की शोभा का वर्णन है। नगर का उत्कट शृंगारिक वर्णन सोद्देश्य हुआ है। राजा विक्रमयशा ५०० सुन्दर पत्नियों में रमण करता हुआ भी नागदत्त श्रेष्ठी की सुन्दरी पत्नी विष्णुश्री की ओर आकृष्ट होता है। विष्णुश्री के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन उद्दीपन विभाव का उत्कृष्ट उदाहरण है। कवि विष्णुश्री के विषय मे कहता है—

> रम्भा किमेषा त्रिदिवावतीर्णा, किं वा रतिः प्रोज्झितभर्तृसंगा।
> लक्ष्मीरुताहो! हरिविप्रयुक्ता, शम्भौ सकोपा किमु पार्वती वा[1]॥

उसके सौन्दर्य से अभिभूत विक्रमयशा सोचता है—

> इमां विना तु क्षणमप्यलं न, प्राणानवस्थापयितुं स्मरार्त्तः।
> ग्रीष्मोष्मसन्तप्तशिलातलस्थः, सरश्च्युतो मत्स्य इवातिदीनः[2]॥

इसी प्रसंग में 'यथा तथाऽऽत्मा परिरक्षणीयः'[3] विचारसूत्र आया है जो लोकधर्म का आधार है। यही सोच कर वह विष्णुश्री का हरण करवा लेता है। वासना विवेक को अवरुद्ध कर देती है। विवेकहीन राजा राज्य और पारिवारिक जीवन को तिलाञ्जलि देकर विष्णुश्री में आसक्त हो जाता है। रानियां अपने दौर्भाग्य की कारणभूता विष्णुश्री को मरवा देती हैं और श्मसान में विष्णुश्री के शव को देखकर वियोगसन्तप्त राजा को विरक्ति हो जाती है। आगे वह सन्मार्ग का पथिक होकर कठोर तप द्वारा अपने जीवन को सार्थक बनाता है और स्वर्गलोक मे यशस्वी होता है।

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितम्, १–७०।

२. वही, १–८२।

३. वही, १–८६।

सनत्कुमार के जीवन-चरित की पृष्ठभूमि पूर्वभव के रूप में उपस्थित करके कवि ने प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। विक्रमयशा के जिनधर्म-नामक दूसरे जन्म का उल्लेख भी इस महाकाव्य में हुआ है जिसमें विरही नागदत्त अग्निशर्मा के नाम से जिनधर्म से पूर्वजन्म का बदला लेता है।

इसके पहले नागदत्त भ्रमरयोनि में जीवन धारण कर चुका था। प्राचीन साहित्य में भ्रमर मन की चंचल प्रवृत्तियों का प्रतीक रहा है और इस प्रकार साधना के मार्ग में साधक की उल्लसित चेतना के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वर्णित किया जाता रहा है। सांस्कृतिक कवि कालिदास ने कण्वाश्रम मे शकुन्तला के ऊपर मँडराने वाले भ्रमर की प्रतीक-योजना द्वारा काम-संयम की ओर सकेत किया है। लोकगीतों में भ्रमर के अभिधान प्रिय को बुलाने की बात बहुधा आती है[1]। वहाँ प्रिय को सौन्दर्यलिप्सु के रूप में ही स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत चरित में भी सनत्कुमार के पूर्वभव के प्रतिद्वन्द्वी भ्रमर की योजना प्रतीकात्मक है और उसके माध्यम से चंचल मनोवृत्तियों के ्मश: अपनयन और प्रज्ञोपलब्धि की ओर संकेत किया गया है।

साधक जिनधर्म तप करके शक्र-पद प्राप्त कर लेता है। नागदत्त उसका वाहन ऐरावत गज बनता है। वहाँ से च्युत होकर वह प्रकोपन-नामक देव बनता है और शक्र के रूप में आयु पूर्ण हो जाने पर जिनधर्म कुरुजांगल प्रदेश मे हस्तिनापुर में अश्वसेन के राजकुमार के रूप में उत्पन्न होता है। यही राजकुमार सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप में विख्यात होता है।

सनत्कुमार असिताक्ष-नामक यक्ष को पराजित करके भानुवेग विद्याधर-राज की आठ पुत्रियों से विवाह करता है। यक्ष ऋतुकर्म की प्रेरणा देने वाले मन की संज्ञा है। यहाँ सकेत है कि सनत्कुमार यक्ष-मन की तामसी (असित) शक्ति को जीत कर सात्विक आठ शक्तियो को प्राप्त करता है। समय पाकर असिताक्ष फिर सनत्कुमार को जंगल में छोड़ देता है। वहाँ वह विद्युद्वेग को मार कर सुनदा का वरण करता है। विद्युद्वेग मन की राजसी वृत्ति का नाम ज्ञात होता है, जिसे समाप्त करके सनत्कुमार सुनन्दा (आह्लादिनी शक्ति) पत्नी रूप में और प्रज्ञप्ति (प्रज्ञा) को प्राप्त कर लेता है।

सनत्कुमार विद्युद्वेग के पिता अशनिवेग को पराजित करके उसकी पुत्री

---

१. यथा—'भँवर म्हारा बागां में आज्यो जी'—राजस्थानी लोकगीत की पंक्ति।

बकुलमती का पाणिग्रहण भी कर लेता है। अंत मे वह दिग्विजय करके चक्रवर्ती बनता है और रोग एवं जरा से ग्रस्त शरीर होने पर वैराग्य और तप द्वारा जीवन को साथक करके स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि सनत्कुमार के जीवन की सभी घटनायें उसकी अध्यात्म साधना की ओर संकेत करती हैं।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है कि सुन्दर फूल को देख कर उस फूल को धारण करने वाले वृक्ष का स्वरूप जानने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी तरह कला, शिल्प, काव्य आदि मे सुन्दर कृति को देख कर भारत की सस्कृति के अश्वत्थ-वृक्ष को खोजना चाहिए। सनत्कुमारचक्रिचरितम् भारतीय सस्कृति को समझने की एक विशिष्ट दृष्टि जगाने का काम करता है। जैन-कथा-साहित्य मे सनत्कुमार चक्रवर्ती के चरित का वर्णन मिलता है, परन्तु ज्ञानलोक मे प्रवेश करने के लिए नवीन खिड़की खोलने का काम यह महाकाव्य करता है, जैन पुराण नही। कारण स्पष्ट है—महाकवि जिनपाल की प्रतिभा का ही यह चमत्कार है।

इस काव्य मे निवृत्ति-मार्ग की निःश्रेयस-परकता का प्रतिपादन किया गया है। भारतीय संस्कृति का आधार धर्म अथवा आचार है और जीवन का परम उद्देश्य निःश्रेयस है। अर्थ और काम का संस्कार ही धर्म और निःश्रेयस मे प्रतिफलित होता है। भारत के सस्कृति-वैभव के प्रतीक सभी काव्यों में अर्थ और काम का क्रमिक संस्कार ही प्रतिपादित किया गया है। काव्य के माध्यम से आचार का प्रतिपादन करने का उद्देश्य लेकर चलने वाले अश्वघोष आदि बौद्ध और हरिश्चन्द्र, जिनपाल आदि जैन महाकवियों को भी भारत की यही सास्कृतिक दृष्टि मिली है। जिनपालोपाध्याय ने अपने प्रस्तुत महाकाव्य में इस सास्कृतिक उत्तरदायित्व का निर्वाह बड़ी ही सफलतापूर्वक किया है।

धर्म और दर्शन

जिनपालोपाध्याय ने इस काव्य की रचना ही धर्मसिद्धि के लिए की है। इसीलिए उसमे सदाचार के प्रति आग्रह, असामाजिक आचरण की निन्दा, विधिमार्ग[1] प्रतिपादित आचार के लिए प्रेरणा और जीवन के प्रति निःश्रेयसी दृष्टि

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितम्, ५।५१। जिनवल्लभसूरि प्रतिपादित विधिमार्ग खरतरगच्छ का ही पर्याय है।

के समन्वित रूप का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए हैं। इनमें धर्म मोक्ष की आधार भूमि है जिसका निर्माण अर्थ और काम के यथोचित प्रयोग से होता है। अर्थ का सञ्चय, रक्षण और व्यय जीवन को अन्यथाकर्त्तव्यता में व्यस्त बनाये रखता है। इन सब के मूल में कामवृत्ति निहित है। ये दोनों धर्म से अविरुद्ध होने पर निःश्रेयस्-परकता धारण कर लेते हैं। इस महाकाव्य मे अर्थ और काम को निःश्रेयस्-परक बनाने के लिये सांकेतिक रूप से प्रेरणा दी गई है।

कामुकता को धिक्कारते हुए[१] जिनपाल ने असयत काम को निन्द्य ठहराया है। कवि का विश्वास है कि पापात्मा के उग्र पाप उसे तत्काल पतन के मार्ग पर ढकेल देते हैं[२] और धर्म के मार्ग पर चलने से जीवन सफल होता है[३]। कवि सुन्दरता के माध्यम से सत्य को जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहता है, इसलिए वह विक्रमयशा को सन्मार्ग मे दीक्षित करने के लिये सुव्रतसूरि (गुणाढ्य) द्वारा बृहत्कथा सुनाने की बात कहता है[४]। कथा के माध्यम से ही सुव्रतसूरि कहते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर विवेकी को विधि धर्म-मार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए। वीतराग-अर्हत् की विधि पूर्वक अर्चना करनी चाहिए। कल्याण की कामना करने वालों (शिवमीहमानैः) को सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य आदि का सेवन करना चाहिए[५]। उत्तम दृष्टिपूर्वक भयकर भोगों के पापास्रव से पलायन करना चाहिए[६]। विषय विष के समान हैं! ऊपर से वे रमणीय प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः दुःखदायी प्रमाणित होते हैं। साधना किये बिना मुक्तिश्री की सिद्धि नही होती[७]। इन्द्रियों के विषयों से विराम ले लेने पर विशुद्ध भावों के अमृत से सिंची हुई अनुभूति प्राप्त होती है।

विक्रमयशा आचार्य के उपदेशानुसार वैराग्यवासित होकर, जिनेन्द्रगृह में विधिप्रपूर्ण अष्टाह्निका अर्चना कर दीक्षा ग्रहण करता है[८]।

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, २–६।
२. वही, ३–१७।
३. वही, ३–६२।
४. वही, ३–६१।
५. वही, ३–६२–६४।
६. वही, ३–६५।
७. वही, ३–७१।
८. वही, ३–७७।

जिनधर्म की धार्मिकता और उसके धर्मकृत्यों के अंकन में कवि ने उपासकों के आचार का विशदता के साथ चित्रण किया है[१]। जिनधर्म मार्गानुसारी[२] गुणों का धारक है, इसने सद्गुरु के पास सम्यक्त्वरत्न[३] स्वीकार कर, अनायतन[४] चैत्यों तथा श्राद्धविधान, होम, पिण्डप्रदान[५] आदि का त्याग कर दिया है। वह द्वादशव्रत-धारक है[६]। षडावश्यक का अनुष्ठानक है[७]। इसने जिनचैत्य का निर्माण कर सिद्धान्त-विधानानुसार आचार्य से प्रतिष्ठा करवाई है[८]। यहाँ जिनपाल ने अनायतन का अर्थात् चैत्यवासि-आचार्यों द्वारा अधिकृत चैत्यों की हेयता का संकेत कर विधिमार्ग-स्वगच्छीय परम्परा की अनुष्ठान-पद्धति की ओर प्रेरणा की है।

जिनधर्म के साथ अग्निशर्मा का व्यवहार नृशंसतापूर्ण है। ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रसंग मे कवि जैनधर्म की प्रशंसा और वैदिक-परम्परा की हीनता की ओर सकेत करना चाहता है; परन्तु काव्यात्मक दृष्टिकोण से यह प्रतीति नितान्त असंगत है। कवि का उद्देश्य अपने कथानायक का चारित्रिक उत्कर्ष प्रकट करना है और ऐसा तभी सम्भव हो सका है जब उसने उसकी सहनशीलता को उसके विरोधी के क्रूर-स्वभाव के साथ आनुपातिक ढंग से प्रस्तुत किया। अग्निशर्मा के स्वभाव में जितनी बदले की भावना, क्रूरता और कठोरता मिलती है, जिनधर्म में उतनी ही अधिक सहनशीलता, सहजता और कोमलता के दर्शन होते हैं। वह अंग-भंग को सहजभाव से स्वीकार कर लेता है और इसके लिए किसी को भी दोष नहीं देता। इसके विपरीत अपना ही दोष स्वीकार करता है—

न चान्यदोषेण ममैष दाहो, यदन्यथावृत्ति न जातु कर्म।
बृहस्पतिं न ग्रसते कदाचिद्, विधुन्तुदश्चन्द्रमसा विराद्धः॥[९]

---

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, ४–१६–५५।
२. वही, ४–१८।
३. वही, ४–२०।
४. वही, ४–१९।
५. वही, ४–२३–२४।
६. वही, ४–३०।
७. वही, ४–५३।
८. वही, ४–५०।
९. वही, ५–२१।

इन्हीं भावनाओं से ओतप्रोत होकर जिनधर्म विधिचैत्यों[1] की यथाविधि अर्चना कर, संघ का समादर कर और अर्थीजनों को दान देकर गृह-त्याग कर देता है। सौधर्मेन्द्र के रूप में जिनेश्वरों के पाँचों कल्याणकों के समय ऐश्वर्य के साथ वस्त्रादि-महोत्सव भी करता है।[2]

सनत्कुमार चक्रवर्ती भी प्रबुद्ध होने पर राज्य में अभय-घोषणा[3] (अमारी पटह) करवाता है और जिनगृहों में आठ दिनों तक महोत्सवपूर्वक अर्चना करवा कर प्रव्रज्या-ग्रहण करता है।

सनत्कुमार-चक्रिचरितम् में मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का यथोचित विवेचन तो हुआ ही है साथ ही उसका उदात्तीकृत रूप भी काव्य का विषय बना है। सतत साधनारत रह कर आत्मसंयम, श्रद्धा और तप द्वारा शिवत्व की संसिद्धि ही इस काव्य का प्राण है।

संस्कृत के महाकवियों में जिनपलोपाध्याय का स्थान

संस्कृत-साहित्य की महाकाव्य-विधा अत्यंत प्रौढ और विकसित है। जितने महाकाव्य मिले हैं उनसे अनुमान किया जा सकता है कि कई अन्य महाकाव्य भी रहे होंगे। आक्रान्ताओं ने कई को नष्ट कर दिया होगा; कई कालक्रम से वैसे ही नष्ट हो गए होंगे। केवल कुछ अतिप्रसिद्ध महाकाव्य ही शेष रह गए हैं प्राप्त महाकाव्यो मे 'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' का स्थान बहुत ही ऊंचा है। यद्यपि वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा में वर्गीकरण करके महाकाव्यों का अध्ययन करना वैज्ञानिक नहीं है; परन्तु ऐसे वर्गीकरण से एक सीमा बन जाया करती है अध्ययन करने और तुलना करने के लिए।

संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यो में रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् और नैषधीयचरितम् के नामों का उल्लेख प्रमुखतया किया जाता है। यदि धार्मिक और दार्शनिक आग्रह की बात को छोड़ दिया जाय तो यह महाकाव्य उपर्युक्त प्रमुख काव्यों की शृंखला की अगली कड़ी बन सकती है। वैसे विषय व वर्णन की दृष्टि से इस काव्य को क्षेमेन्द्र के पौराणिक इतिवृत्तात्मक काव्य 'दशावतारचरित', बोधिसत्त्वावदानकल्पलता' आदि के समकक्ष

१. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्, ५–५१।
२. वही, ६–१७।
३. वही, २४–१।

रखा जा सकता है, अंतर इतना ही है कि कल्पना के चमत्कार की ओर क्षेमेन्द्र की दृष्टि नहीं थी। इस विशेषता में जिनपाल भारवि, माघ और श्रीहर्ष के अनुगामी हैं।

काव्य की रागात्मिका वृत्ति का उपयोग धार्मिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए करने वाले कवियों की परम्परा में जिनपालोपाध्याय अश्वघोष, शिवस्वामी (दोनो बौद्ध); रत्नाकर, मंखक (दोनों शैव), धनेश्वरसूरि, वाग्भट (दोनों जैन) के अनुयायी हैं। अश्वघोष कालिदास के 'सुकुमारमार्ग' के सफल महाकवि हैं। उनके 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' महाकाव्य अपनी प्रसादगर्भित गरिमा में अनुपम हैं। शिवस्वामी के 'कप्फिणाभ्युदय' में धर्म के प्रति आग्रह भी है और विचित्रमार्गीय विस्तार के साथ कल्पना-प्रियता के दर्शन भी होते हैं। इनका यह काव्य 'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' से तुलनीय है। रत्नाकर का 'हरविजय' अपनी बृहत्कायता के कारण संस्कृत-साहित्य में बेजोड़ है। 'श्रीकण्ठचरित' में मंखक की काव्य-जगत् के प्रति बहुमुखी दृष्टि को देखा जा सकता है तो सनत्कुमार-चक्रिचरितम् घटनाबाहुल्य में इनसे आगे है।

जैन महाकवियों मे जिनपालोपाध्याय का स्थान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। इनको काव्य की सुपुष्ट परम्परा मिली थी। शब्द-चमत्कार अधमकाव्य के रूप में भले ही स्वीकार किया जाय; परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषा पर असाधारण अधिकार प्राप्त किये बिना ऐसे चमत्कार की सृष्टि नहीं की जा सकती। इसलिए विचित्रमार्गी कवियों के प्रयत्न को बिना सराहे नहीं रहा जा सकता। जिनपाल ने भी चमत्कार-प्रदर्शन में रुचि दिखाई है। यह युग का प्रभाव तो है ही, साथ ही कवि के भाषा पर असाधारण अधिकार का प्रमाण भी है। हेमचन्द्रसूरि (त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र), धनेश्वरसूरि (शत्रुञ्जय-माहात्म्य), वाग्भट (नेमिनिर्वाण), अभयदेव (जयन्तविजय), अमरचन्द्रसूरि (बालभारत) आदि जैन महाकाव्यकार जिनपाल की समानता नहीं कर पाते। भाषा, भाव और भावप्रकाशन में जिनपाल की तुलना इन्हीं के समकालीन हरिश्चन्द्र से की जा सकती है। उसका 'धर्मशर्माभ्युदय' संस्कृत के जैन महाकाव्यों में माघकाव्य के समान महत्त्वपूर्ण माना जाता है तो जिनपाल का सनत्कुमारचक्रि-चरितम् 'नैषधीयचरितम्' के समान सम्मान पाने का अधिकारी है। जिनपाल की कृति विस्तार मे ही 'धर्मशर्माभ्युदय' से अधिक नही है अपितु वह गुणों की दृष्टि से भी आगे है।

जिनपाल पहले से चली आई हुई परम्परा को पुष्ट करने में ही सफल नहीं हुए,

वरन् उन्होंने परवर्ती केशव आदि चमत्कार-प्रेमी कवियों के लिये प्रेरणा का कार्य भी किया है।

इस कृति मे न तो घटना-बहुलता के कारण कहीं शिथिलता आने पाई है, न काव्यगत असंगतियां ही दिखाई पड़ती हैं। प्रस्तुतीकरण में नाटकीयता का समावेश होने के कारण 'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' अत्यन्त उच्चकोटि के महाकाव्यों में गणना किये जाने योग्य है।

यह चरित्र-प्रधान काव्य है। सनत्कुमार चक्रवर्ती के चरित्र का विस्तृत चित्रण करने में कवि ने औचित्य का सदैव ध्यान रखा है। घटना-चित्रण में कवि को इतनी सफलता मिली है कि इस महाकाव्य को घटना-प्रधान भी कहा जा सकता है। जैनदर्शन और आचार का चित्रण करने में भी कवि को सफलता मिली है। यह धर्म और मोक्ष की संसिद्धि को लक्ष्य करके लिखा गया है। इनका अर्थ और काम से सन्तुलन बिठाने की ओर कवि ने संकेत उचित ही किया है। एक उच्चकोटि के महाकवि के रूप में जिनपालोपाध्याय चिरस्मरणीय रहेंगे।

प्रति-परिचय

प्रस्तुत महाकाव्य की अद्यावधि एकमात्र हस्तलिखित प्रति प्राप्त होने से संपादन-कार्य में इसी प्रति का उपयोग किया गया है। प्रति की स्थिति इस प्रकार है—

माप—२७+६.५ सी. एम.

पत्र—१८४=२, . अन्तिम दो पत्रों में महाकाव्य के २१ वें सर्ग में प्रयुक्त १५ चित्र-काव्यों का आलेखन है। इन पत्रों पर पत्रांक लगा हुआ नहीं है। प्रत्येक पत्र की द्वितीय पृष्ठि में एक तरफ देवनागरी लिपि के अंक आलेखित हैं और दूसरी तरफ ताडपत्रीय जैन लेखन-परम्परा के अनुसार अक्षरात्मक अंकों का आलेखन है।

पंक्ति—७

अक्षर—४२

आधार—कागज

लिपि—देवनागरी

लेखन—वि. सं. १२७८; लिपिकार ने लेखन-पुष्पिका इस प्रकार दी है-

सम्वत् १२७८ ।। वेशाख वदि ५ लिखितं

दशा—७४७ वर्ष पूर्व कागज पर लिखित होने पर भी इसकी दशा आज भी श्रेष्ठतम कही जा सकती है। केवल प्रथम और अंतिम पत्र सामान्यतया जीर्ण हो रहे हैं और पत्रांक १४६ एवं १४७ का कुछ अंश कीटकों द्वारा भक्षित है तथा शायद चिपक गए हों और उन्हें अलग करते समय असावधानी के कारण कुछ अक्षर नष्ट हो गए हैं। विना पत्रांक के अन्तिम दोनों पत्रों मे घर्षण के कारण चित्र-काव्यों के अक्षर अस्पष्ट हो गए हैं साथ ही जहाँ पत्रों के घर्षण के कारण अक्षर धूमिल हो गए थे वहाँ परवर्ती किसी विद्वान् ने दूसरे अक्षर लिख कर उन अक्षरों को पूर्ण तो अवश्य किया है किंतु वे अशुद्ध हैं।

वैशिष्ट्य—(१) ग्रंथकार जिनपालोपाध्याय के जीवन-काल में ही लिखित होने के कारण इसे आदर्श प्रति की कोटि में रखा जा सकता है।

(२) शुद्धतम एवं संशोधित है। कई स्थानों पर कतिपय अक्षरों को या चरण को ही काट कर पत्र के किनारों पर शुद्ध पाठ लिखा हुआ है।

(३) कहीं-कहीं पर क्लिष्ट-शब्दों के पर्याय भी हाँसियों पर लिखे हुए हैं।

(४) प्रथम सर्ग के पद्य २१, २४ और ५६ में लिपिकार ने पाठान्तरों का प्रयोग भी किया है।

(५) अक्षर वड़े-वड़ और लिपि सुवाच्य है।

प्रस्तुत सम्पादन में जहाँ कहीं पाठ अशुद्ध प्रतीत हुआ वहाँ मैंने शुद्ध पाठ ऊपर दिया है और टिप्पणियों   पाठ देकर 'इति तु पुस्तके' या 'प्रतौ पाठः' का निर्देश किया है एवं पर्यायों का मैंने सर्वत्र ही पादटिप्पणी के रूप में प्रयोग किया है।

आभार-प्रदर्शन

यह आदर्श प्रति मुझे सौभाग्य से वि. सं. २००९ में प्राप्त हुई थी। इसका महाकाव्यत्व और दुर्लभता के कारण मैंने वि. सं. २०११ में वम्बई के प्रवास में इसकी प्रेस कॉपी तैयार की थी और तभी से मैं इसके प्रकाशन के लिए

प्रयत्न में था। उस समय मेरी यह अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। प्रेस कॉपी करने के चौदह वर्ष पश्चात् स्वनामधन्य वेदमूर्ति डॉ. फतहसिंहजी, निदेशक रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर ने इस महाकाव्य को राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला की सं० १९६८-६९ की योजना में प्रकाशनार्थ ग्रंथों में स्वीकृत कर इसका मुद्रण-कार्य प्रारम्भ करवाया और इस सम्पादन को श्रेष्ठ बनाने के लिए जिस आत्मीयता के साथ समय-समय पर परामर्श एवं निर्देश देकर कृतार्थ किया इसके लिए मैं आपका अत्यंत आभारी हूँ और आजन्म ऋणी रहूँगा।

मेरे परम मित्र ही नहीं अपितु अग्रजतुल्य श्री लक्ष्मीनारायणजी गोस्वामी ने जिस निष्ठा के साथ प्रूफ-संशोधन और पाठ-शुद्धि आदि मे सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

साधना प्रेस, जोधपुर के व्यवस्थापक श्री हरिप्रसादजी पारीक भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इसके मुद्रण में पूर्ण सहयोग दिया है।

अन्त में मैं अपने परम पूज्य गुरुदेव खरतरगच्छालङ्कार आचार्यप्रवर स्व० श्रीजिनमणिसागरसूरिजी महाराज का यहाँ पर स्मरण न करना मेरे लिए महान् कृतघ्नता होगी; क्योंकि उन्हीं के आशीर्वाद और कृपा से मैं आज कुछ योग्य बन सका।

म० विनयसागर
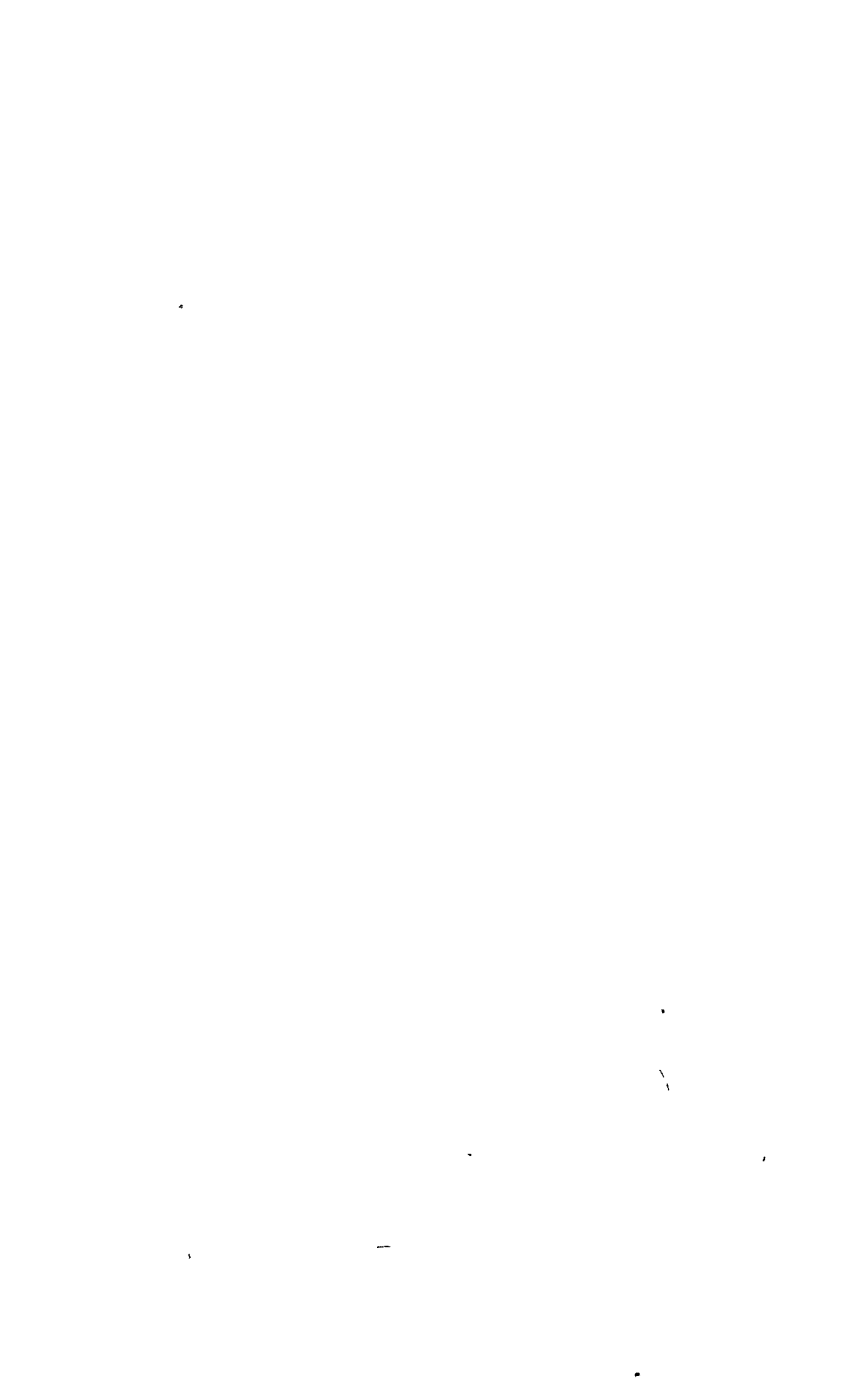
खरतरगच्छालङ्कार-युगप्रवरागम-श्रीजिनपतिसूरिशिष्य-

महोपाध्याय-श्रीजिनपालगणि-'शिष्यलेश'-प्रणीतम्

सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्

प्रथमः सर्गः

॥ ॐ नमो जिनपतये ॥

श्रियोऽपि वासात् कमलान्मनोज्ञा-वासाप्तिहृष्टेव यदीयवक्त्रे ।
स्याद्वादभङ्ग्या नरिनर्त्ति वाणी, नन्द्यात् स देवो जिनपत्यभिख्यः ॥१॥

यस्याङ्गभाभिः ककुभो विभिन्नाः, कश्मीरजालेपरुचिं वहन्ति ।
ज्योत्स्नासनाथास्वपि शर्वरीषु, श्रियं स दत्तां जिनवर्द्धमानः ॥२॥

प्रतापभाजापि सहस्रभासा, न नाशितं यन्निविड़ं तमस्तत् ।
शुक्लद्युताऽप्यस्तमनायि येन, प्रदोषमोषं स करोतु वीरः ॥३॥

प्रज्ञाप्रकर्षेण समुद्यता स्राक्, भानोरिवाद्योत्यतरुक्चयेन ।
अशेषमाकाशमिवार्थजातं, यस्यास्त्वसौ भद्रकृदिन्द्रभूतिः । ४॥

स्फुरन्महावामनिरस्ततामसो, दोषान्तकृत् सत्पथदीपनादृतः ।
नालीकभक्तिप्रवरः शुभोदयः, श्रीसिद्धसेनो जयताद्दिवाकरः ॥५॥

अन्येऽपि सर्वेऽपि युगप्रधानाः, सितांशुसंवादियशःप्रतानाः ।
जयन्ति नानातिशयैर्जनाना-मत्यद्भुतैः स्मारिततीर्थनाथाः ॥६॥

सितां सदावृत्तमुखश्रियास्तो, निजप्रभाप्राभृतकेन नूनम् ।
उपास्त यां शुभ्ररुचिः कलावान्, सा भारती भूतिभरं तनोतु ॥७॥

विहाय शेषान् सुमनःसमूहान्, गुणाढ्यरागेण रजःसनाथान् ।
समग्रविद्यावदनारविन्द-माध्वीकमन्वासिषताशु येषाम् ॥८॥

दन्तद्युतिप्रस्फुरणानुगामी, कथासु येषां वचनप्रपञ्चः ।
सम्पद्यते मर्त्यमलक्षयाय, मूर्तोऽमलो गाङ्ग इव प्रवाहः ॥९॥

व्यजेषत क्ष्मापसदः समक्षं, प्रावादुका यैः शतशः सदर्पाः ।
तार्क्ष्यैरिवोद्वासितविश्वविश्वाः, शश्वत्परच्छिद्रदृशो भुजङ्गाः ॥१०॥

अनन्यतुल्यानि तपांसि येषां, कलावपि प्रेक्ष्य विवेकिलोकः ।
श्रुतेष्वपि प्राच्यतपोधनेषु, व्यधत्त दृष्टेष्विव सत्यतास्थाम् ॥११॥

यशःप्रमोदोदयसंविदां पदं, किमप्यवाप्यक्षरमल्पबुद्धिना ।
मयाऽपि येषां प्रवरप्रसादतः, सुयोगभाजा परमात्मनामिव ॥१२॥

गुरून्निजांस्तान् जिनपत्यभिख्यांस्त्रैलोक्यकीर्त्यातिशयाम्बुराशीन् ।
युगप्रधानत्वयशःसुधांशु - क्षीराम्बुधीनादरतोऽभिवन्दे ॥१३॥

षड्भिः कुलकम् ।

प्रणम्य नम्यानिति विघ्नघातिनः, सन्मङ्गलांस्तान् जगतीप्रमोदिनः ।
प्रवर्धमानाधिकधामसम्पदा, वितीर्णगोमण्डलरागमण्डनान् ॥१४॥

सनत्कुमारस्य कुमारतेजसः, सपत्नकक्षानलशक्तिकत्वतः ।
पुष्यन्महापुण्यकलापिनः शुभं, चरित्रमिन्दुद्युतिसोदरं ब्रुवे ॥१५॥

युग्मम् ।

प्रागेव सिन्धोर्मथनात् प्रजासृजा, संगृह्य लावण्यरसं विनिर्ममे ।
इतीव यस्याङ्गमनङ्गकामिनी-मनःसमाकर्षणयोगतां दधौ ॥१६॥

सुमेरुगर्भादिव यः समुद्धृतः, सद्यः समुत्कीर्ण इवेन्द्रशस्त्रतः ।
सुरासुरास्त्रानतभेद्यविग्रहः, प्रपप्रथे वज्रमयः क्ष्मातले ॥१७॥

प्रज्ञप्तिमन्त्रास्त्रनभोविहारिता, अन्येऽप्यभूवन्नतिशायिनो गुणाः ।
ते यस्य नो पूर्वभुवोऽपि चक्रिणोऽलञ्चक्रुरत्युच्छ्रिततेजसोऽपि यान् ॥१८॥

येनाशु चक्रेण विनापि चाददे, समग्रविद्याधरचक्रवर्तिता ।
सत्त्वोत्कटेनाकटकेन साहसात्, पञ्चाननेनेव मृगाधिराजता ॥१९॥

अनात्मरक्षः समभूत् प्रचण्डो, यक्षोपि साक्षाद् युधि येन रुद्धः ।
किं कृष्णसर्पोपि करोति तत्र, स्याद् यत्र शत्रुर्नकुलः सदर्पः ॥२०॥

त्रैलोक्यजेत्रा स्मरचक्रवर्तिना, श्रितान्यपि स्वान्तधनानि यो हठात् ।
दिव्राप्यहार्षीत् सकलानि सुभ्रुवां, सुगुप्तभावान्यपि साहसाम्बुधिः[१] ॥२१॥

तदङ्गनाभ्योऽष्टसहस्रसंगुणाभजन् जिता मर्त्यमृगेक्षणा वधूः ।
योऽपत्रपिष्णोरतिदूरसंस्थितिं, समादिदेशेव हरेस्तपस्विनः ॥२२॥

नाचक्रमुः शुद्धसमाधिमास्थितं, कर्मद्विषद्भूमिपतेर्भटा इव ।
यं कासशोषादिगदापदेशतः, सप्ताद्रिनाथाग्रमित्रार्कसप्तयः ॥२३॥

प्रायः पृथिव्यां नररत्नखानावपि प्रजज्ञे न यदाकृतीनाम् ।
यद्वा पयोधावपि रत्नयोनौ, रत्नं कियत् कौस्तुभसन्निभं स्यात् ॥

पाठान्तरं वा द्वितीयार्द्धे—

रत्नाकरेप्यम्बुनिधौ कियद्वा, रत्नं प्रतिद्वन्द्वि भवेत् सुधांशोः ॥२४॥

तं सार्वभौमावनिपालकीर्त्ति - लुण्टाकमुट्टीकितसद्गुणाश्वम् ।
के नाम नाकर्णयितुं सकर्णाः, समुत्सहन्ते शतशः कथाभिः ॥२५॥

दशभिःकुलकम्

तस्याद्भुताचारविचारसिन्धो-रन्तश्चरत्सच्चरित बलान्माम् ।
वाचालयत्यम्बुजखण्डकोशं, गर्भे ध्वनद्भृङ्गकुलं यथोच्चैः ॥२६॥

क्व तादृशो सौगुणरत्नराशिः, क्वाज्ञोऽहमेतच्चरितं चिकीर्षुः ।
सुरेशितुः क्ष्मावहनीयमद्रि-मुद्वोढुमुत्कः कुणिरेष नूनम् ॥२७॥

करालपातालतलं विवस्वान्नागाधिराजोपि नभस्तलं चेत् ।
विगाहते मन्मतिरप्रगल्भा, तदाऽस्य वृत्तं गुरुणाप्यगम्यम् ॥२८॥

नवप्रियाप्रेममृधानकध्वनी, उपस्थिते योद्धुरिवाहवागमे ।
स्वजाड्यवर्ण्यस्तुतिपक्षपातिते, द्वैताय बुद्धिर्मम किं करोम्यतः ॥२९॥

तथाप्यवज्ञाय विधीयतेऽज्ञतां, गुणानुरागेण तदीयसंकथा ।
न हि प्रियान्प्रेमत उज्झनं युधो, भवेद् भटस्यापि भटत्वभूषणम् ॥३०॥

छन्दोविशुद्धौ न न संस्कृतोक्तौ, प्रगल्भते वाक्प्रतिभापि नो मे ।
तथापि मामुत्कयति प्रसह्य, स्ववर्णने चक्रिचरित्रमग्र्यम् ॥३१॥

---

१. केनोपमा यातु स चक्रनायक इत्यपि प्रतौ पाठः ।

सुमेरुनाभिः शशिमण्डलाकृतिर्द्वीपोऽस्ति **जम्ब** प्रथमः पृथुर्भुवि ।
यो मध्यगो द्वीपगणस्य सर्वतः, प्राकाररूपोच्चजगत्यलंकृतः ॥३२॥

यः सप्तवर्षोप्यमितप्रवर्षो, यो निम्नगालिङ्गनकृत् कुलीनः ।
यो मर्त्यभूरप्यपवर्गभूमिः, किमन्यदाह्वास्ततमन्तरीपम् ॥३३॥

तत्रापि वर्ष पृथु भाति **भारतं**, यज्जाह्नवी-सिन्धुमहानदीद्वयम् ।
हारश्रियं बिभ्रदुदंशुवेदिका, सन्नायकभ्राजि दधाति सर्वदा ॥३४॥

पुरं पुरा तत्र च **काञ्चनाख्यं**, यथार्थमासीत् कनकाहितत्वात् ।
यद्वृत्तसालच्छलतो ह्यपाच्याः, कश्मीरजस्थासकतां प्रपेदे ॥३५॥

पयःप्रपूर्णा परिखाऽपि यस्य, द्वीपस्य पाथोधिरिवाभितोऽभूत् ।
प्रफुल्लपङ्करुहलोलभृङ्ग-स्वनैः कलैः सालमिवोज्जगौ या ॥३६॥

यत्रेन्द्रनीलारुणरत्नकान्ता-संक्रान्तमूर्तिः कपिशीर्षकाली ।
नीलाब्ज-रक्तोत्पलखण्डलीलां, प्रातः प्रपेदे परिखाजलेषु ॥३७॥

रूपेण कामाद्धनदात् समृद्धया, बुद्धया गुरोर्यत्र गजाद्गतेन ।
न चक्षमुः क्षान्तिभृतोपि लोकाः, पराभवं जातु गुणैः समग्राः ॥३८॥

के राजहंसोज्ज्वलकञ्चुकाढयाश्चक्रस्तनाः पुष्करिणीर्विलोक्य ।
रामा इवासन् स्मरसायकानां, लक्ष्यं न वृद्धा अपि यत्र पौराः ॥३९॥

अनङ्गलीलाभरभङ्गिभाजो, वपुःश्रिया भूषितरत्नभूषाः ।
पराजयन्ते स्म च यत्र कान्ताः, स्वर्गाङ्गना अङ्गविलासकान्ताः ॥४०॥

यत्रेन्दुकान्तावनिकुट्टिमेषु, ज्योत्स्नावलीढेषु विलासिनीनाम् ।
संक्रान्तलाक्षारसपादमुद्रा, निशास्वदुः कोकनदोऽप्यशङ्काम् ॥४१॥

यत्रावसेदुः पुरुषार्थसिद्धौ, न साधुभक्ता वणिजो जनाश्च ।
पद्माश्च हंसाश्च महासरस्सु, स्ववस्थिताः पुष्टियुजो न किं स्युः ॥४२॥

मनोजयानस्वरशौचचौर्यं, कुर्वन्नजस्रं कलहंसिकानाम् ।
वधूजनः कामनृपाश्रितः सन्, न्यरोधि राज्ञाऽपि न जातु यत्र ॥४३॥

दोर्दण्डविक्रमरिपूद्दलनाप्तकीर्त्ति-
कान्तानितान्तपरिरम्भविनिर्वृतात्मा ।

तस्मिन् स विक्रमयशा नृपतिर्यथार्थ-
नामाऽभवद् भुवि गुणैरुपमातिगो यः ॥४४॥

जितैर्नमद्भिर्नृपतिप्रतानैर्यस्य प्रतापः शिरसा समूहे ।
किरीटकोटीतटपद्मरागच्छलेन नूनं दिननाथदीप्रः ॥४५॥

नागाङ्गनाभिः परिगीयमानं, यशःसितं यस्य समाततान ।
पाताल उद्द्योतकुतूहलानि, प्रतिक्षणं हृष्टभुजङ्गमानाम् ॥४६॥

यस्यातिसौन्दर्यजितो मनोभूरमोघशस्त्रत्वमहो ! व्यतारीत् ।
नूनं रणेऽभूत् कथमन्यथास्य, द्विषन्न कोप्यप्रहतः शितास्त्रैः ॥४७॥

या निर्जरैः शत्रुविदारटङ्कैः, प्राज्यैर्भटैः सद्गुरुभिश्च कीर्णा ।
तां नूनमास्थानभुवं प्रपन्ने, ह्रियाऽश्रयद् यत्र दिवं महेन्द्रः ॥४८॥

सर्वोपसंहारविरोधभेद-शब्दश्रुतिर्नाटकलक्ष्मशास्त्रैः ।
यत्र प्रजाः शासति चण्डदण्डे, जनेऽभवन्नैव सुखावगाढे ॥४९॥

दूरं समाकृष्टविपक्षलक्ष्मी - सपुष्पकेशग्रहसौरभाढ्यम् ।
यत्पाणिपद्मं मधुपालिशोभां, श्यामायतां खड्गलतां दधार ॥५०॥

यस्यावरोधोऽप्यनिरुद्धमातु-र्वपुःश्रियासूत्रितदास्यदीक्षः ।
तथाप्युपास्यः परमादरेण, शृङ्गारयोनेरनिशं बभूव ॥५१॥

सारं समाकृष्य सुराङ्गनाभ्यः, सङ्ख्यातिगाभ्योऽपि विधिः प्रसन्नः ।
यस्याङ्गना नूनमिहानिनाय, स्वःस्त्रीषु यत् क्वापि न तादृशी श्रीः ॥५२॥

अन्तःपुरं पञ्चशतीप्रमाण - मासीच्चतुःषष्टिकलाऽभिरामम् ।
विनिर्जयत् षोडशभिः कलाभि-र्बिम्बं समग्रं शशिनोऽपि यस्य ॥५३॥

दृष्टिर्यदन्तःपुरिकासु कामि-व्रातस्य लोलाऽपि पपात नैव ।
उन्मज्जनाभावभयेन मन्ये, लावण्यलीलामृतकूपिकासु ॥५४॥

विश्वोपभोग्येन यदीयकोशे, नायातु साम्यं कथमत्र कोशः ।
यक्षाधिनेतुः प्रणयैकपात्रं, त्रिलोचनो यस्य सखापि नग्नः ॥५५॥

पुरे दिवीवामरनायकस्य, तत्राधिपत्यं निहतारि यस्य[1] ।
आतन्वतः शासनसारवाचो, भयादिवागान्न कदाप्यनीतिः ॥५६॥

१. चक्रमिति पाठः ।

शक्तित्रयाधिष्ठितविग्रहेण, न विग्रहं कोऽपि ततान तेन ।
मृगाधिपेनोग्रनखाग्रभाजा, स्पर्द्धेत किं मत्तमतङ्गजोऽपि ॥५७॥

अर्थार्जने कर्हि कदापि भोगे-ऽन्यदा तु धर्मेपि समुद्यतस्य ।
न्यायैकनिष्ठस्य सदापि राज्ये, प्रजासु दौस्थ्यं न बभूव तस्य ॥५८॥

सिन्धाविव प्रोज्ज्वलरत्नजालै-र्व्योम्नीव भास्वद्रुचितारकौघैः ।
ऐश्वर्यदासीकृतपक्षराजैः, पौरैश्चिते तत्र पुरे प्रभूतैः ॥५९॥

बभूव भूमीश्वरमानपात्रं, वणिग्वरः केलिगृहं रमायाः ।
रूपप्रतिक्षिप्तमनोभवश्री-र्युवा विलासी किल **नागदत्तः** ॥६०॥

प्रतिष्ठितः सत्यवचाः पुरे यः, प्रियंवदः प्रीणितयाचकौघः ।
सिंहः समग्रव्यसनोग्रकुम्भिष्वलक्ष्यत न्याय इवेह मूर्त्तः ॥६१॥

यश्चारुतारुण्यविकासिलीला-सरोजिनीसन्ततिदीर्घिकायाः ।
सुवर्णचूर्णच्छुरितत्वमुच्चै-र्गौराङ्गकान्तिच्छलतो वहन्त्याः ॥६२॥

सौन्दर्यपीयूषनिधानकुम्भ-कुम्भोन्नमत्पीनपयोधरायाः ।
लीनद्विरेफाङ्कपयोजपत्र-विस्तीर्णसश्रीकविलोचनायाः ॥६३॥

निर्लाञ्छनप्रौढसुधांशुबिम्बा-भिभाविवक्त्राम्बुजमण्डनायाः ।
स्मरोद्भवद्विभ्रमराजधान्या, **विष्णुश्रियः** कान्ततया प्रतीतः ॥६४॥

षड्भिः कुलकम् ।

मित्रोन्मुखे शुद्धगुणावगूढे, लक्ष्मीरुचा साम्बुरुहीव यत्र ।
तथापि तस्यावनतस्य जग्मुर्दिनानि भूयांसि ससम्मदस्य ॥६५॥

अथाऽऽलुलोके नृपतिः कदाचित्, प्राणप्रियां तस्य विविक्तदेशे ।
स्रस्तोत्तरीयप्रकटास्यलक्ष्मी-विडम्बितोत्फुल्लसहस्रपत्राम् ॥६६॥

जृम्भावशोल्लासितबाहुमूलो-पलक्ष्यमाणस्तनकुम्भलक्ष्मीम् ।
श्लथीभवद्बन्धुरनीविबन्ध-व्यक्तस्मरोज्जृम्भकरोमराजिम् ॥६७॥

मोट्टायितेनावनताङ्गलेखां, मुष्टिग्रहार्हातुलमध्यभागाम् ।
ध्रुवं नृपान्तःकरणव्यधायाकृष्टां स्मरेण स्वशरा(रै.)सयष्टिम् ॥६८॥

विशेषकम् ।

निरीक्ष्य तां दृश्यपदार्थसीमां, शृङ्गारयोनेः परमास्त्रमेषः ।
व्यतर्कयद् विस्मयलोलनेत्रस्तदेकधीः प्रस्मृतधर्मशास्त्रः ।।६९।।

रम्भा किमेषा त्रिदिवावतीर्णा, किं वा रतिः प्रोज्झितभर्तृसंगा ।
लक्ष्मीरुताहो ! हरिविप्रयुक्ता, शम्भौ सकोपा किमु पार्वती वा ।।७०।।

अहो मुखं पार्वणचन्द्रकान्तं, चित्राकृतिः कापि कुचस्थलस्य ।
श्रोणिर्विलासायुधकेलिशय्या, राज्यास्तु रोम्णां न हि मूल्यमस्याः ।।७१।।

रम्येष्वपीन्दुप्रभृतिष्वहार्यः, कलङ्कसङ्गः सकलेषु दृष्टः ।
कल्याणसर्वावयवाऽकलङ्का, धात्रेयमेव ध्रुवमत्र सृष्टा ।।७२।।

पीयूषधारारसनिर्विशेषां, यत्र क्षिपेत् कामिनि दृष्टिमेषा ।
कटाक्षितः पुण्यशतैः स एव, क्षुद्रो भुवो भारकरस्तु शेषः ।।७३।।

अदृष्टिना तावदियं न शक्या, धात्रा विधातुं ध्रुवमद्भुतश्रीः ।
दृष्टा तु हातुं स्थविरात्मनापि, प्रतीयते तत्त्वमहो न किञ्चित् ।।७४।।

यस्यैतदङ्गामृतभोगभङ्गिः, सम्पद्यते न स्मरतापभाजः ।
नेत्रापि तेन त्रिदिवालयानां, किं काशपुष्पायितजन्मनाऽत्र ।।७५।।

ध्यायन्निदं भूरि तदेकतानः, संस्तम्भितोऽभूत् क्षणमेष कामी ।
अन्तर्मनोजन्ममुदीर्यबाण-श्रेण्या भुवि प्रोत इवातिमात्रम् ।।७६।।

सप्तभिः कुलकम् ।

चैतन्यहारिस्मरनागराज-स्फुरद्विकाराद्गरलादिवैषः ।
मुमूर्च्छ चात्यन्तिकरागमग्ने, विलोकयंस्तन्मयमेव विश्वम् ।।७७।।

पुनः कथञ्चित् परिलब्धचेतनो, गवाक्षसञ्चारितुषारमारुतैः ।
उन्मत्तवद्भ्रूमुखपाणिलोचनं, व्यस्तं निचिक्षेप तदेकमानसः ।।७८।।

अचिन्तयच्चैष कथं नु लभ्या, मया सुपुण्येयमपुण्यभाजा ।
अमर्त्ययोग्या हि सुधा पवित्रा, स्वर्भानुभोग्या न पुरापि जाता ।।७९।।

आकृष्य भर्तुः समुपाददे चेदेतामहं वज्रमनास्तदापि ।
स्वकीर्त्तिहंसी जनवाच्यताख्ये, निमज्जिता कज्जलकुण्डके स्यात् ।।८०।।

अन्यायमार्गे यदि चास्मि वर्ते, न्यस्येत् पथि न्यायमये पदं कः ।
सीमामतिक्रामति चेत्पयोधि-र्वार्त्तापि का शेषसरस्सु तस्याः ।।८१।।

इमां विना तु क्षणमप्यलं न, प्राणानवस्थापयितुं स्मरार्त्तः ।
ग्रीष्मोष्मसन्तप्तशिलातलस्थः, सरश्च्युतो मत्स्य इवातिदीनः ॥८२॥

इदं तदत्यन्तमहो दुरूहं, कार्यं परं ब्रह्म यथाल्पबुद्धेः ।
क्षेपं क्षणार्द्धं क्षमते न कामः, क्षिपन्नविश्राममिषूनसङ्ख्यान् ॥८३॥

व्याघ्रोऽस्ति पृष्ठे पुरतस्तु दुस्तटी, पार्श्वद्वये ज्वालशताकुलः शिखी ।
महाशनिश्चोर्ध्वमधोन्धकूपकः, क्व संकटे मादृश ईदृशि व्रजेत् ॥८४॥

तथाप्यनल्पैर्विहितैर्विकल्पैः, किं मे महोत्साहवतोऽपि पुंसः ।
इष्टस्य कार्यस्य भवेन्न सिद्धि-र्युद्धेऽपि यद्धीरुहृदः परेभ्यः ॥८५॥

यथा तथाऽऽत्मा परिरक्षणीय, इत्याह तावन्ननु दण्डनीतिः ।
शास्त्रेऽपि च स्वेतरकार्ययोर्यत्, स्वमेव कार्यं कथितं विधेयम् ॥८६॥

लोकेऽपि तीव्रं ज्वलिते स्वमस्तके, नैवान्यमूर्द्धज्वलनप्रतिक्रिया ।
कार्येति चास्या हरणं ततो वरं, यद्देहयात्रा न ममैतया विना ॥८७॥

एवं विनिश्चित्य च तां निजान् गृहानानाय(य्य)यद्गुप्तनरेण पार्थिवः ।
विष्णुश्रियं त्रासविलोललोचनां, मृगीमिव व्याघ्रपतिक्रमागताम् ॥८८॥

साऽथ प्राप्य नरेन्द्रमन्दिरमपि प्रादुर्भवन्मानस-
व्याबाधातिशयान्वभूच्छुचमलिस्त्रीवाब्जरुद्धा निशि ।
सौस्थ्ये सर्वमपि प्रमोदसदनं माघार्द्धरात्रेष्विव,
स्नानं वामदृशां गिरीशदयितासौभाग्यतृष्णास्पृशाम् ॥८९॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते विष्णुश्रीहरणो
नाम प्रथमः सर्गः समाप्तः । छ. । १

द्वितीयः सर्गः

तदागमेत्यर्थमहो नरेन्द्रो, मुदं दधौ कोविदनिन्दितेऽपि ।
क्व वा जने स्याद्दृढपञ्चबाण-घुणक्षतान्तःकरणे विवेकः ॥१॥

मदोत्कटो गन्धमतङ्गराजो, मृणालिकां निर्दयमाशु मृद्नन् ।
रुध्येत केन क्षुधितो मृगेन्द्रो, मृगाङ्गनां मांसलविग्रहां वा ॥२॥

तीव्रोऽपि वह्निः सलिलेन शम्यते, तच्चेज्ज्वलेत् किं हि तदा निवर्त्तकम् ।
कथं च तत्र श्वसिति ज्वरार्दितः, सञ्जीवनी यत्र विषाय कल्प्यते ॥३॥

स्वयं वितन्वत्यसमञ्जसानि, क्षमाभृति न्यायपरे प्रकृत्या ।
कथं व्यवस्था स्मरवाडवाग्नि-सर्वगितानर्थनिधौ जने स्यात् ॥४॥

कान्तानुरागोऽभिनवं विलोचनं, व्यनक्ति यत्सन्तमसेऽपि तामसौ ।
स्मराननाम्भोरुहदत्तसम्मदां, विनिर्गतां मानसमन्दिरादिव ॥५॥

धिक् कामुकत्वं जनवाच्यतासुहृत्, सद्गौरवोल्लुण्ठनपश्यतो हरम् ।
तथा हि तद्वांस्त्रिदशेश्वरोऽप्यलं, तुलां समारोहति जीर्णतन्तुना ॥६॥

कुविन्दपाशेन कदर्थिताना-मिवेन्दुभासामपि सद्गुणानाम् ।
सम्पद्यते कामकलङ्कभाजो, यशःपटोन्मीलनपाटवं नो ॥७॥

न कामुकः पांसुरिवादधाति, स्थितिं गुरूणां हृदि चन्द्रबिम्बे ।
यतोऽस्य मालिन्यभृतः कुसंस्थैः, समं भवेत् सन्ततमत्र मैत्री ॥८॥

विष्णुश्रियः प्रेमभरात् कथञ्चिन्नासौ न्यवर्तिष्ट विदन्नपीदम् ।
आकर्णिता यो घनतूर्यनादः, सङ्ग्रामभूमेरिव गन्धनागः ॥९॥

एनां रहस्यभ्यधित क्षितीशः, प्रिये तदेवं वसुधाधिपत्यम् ।
अहं हि ते किङ्करनिर्विशेषः, क्रीतः कटाक्षैर्भुवनैकसारैः ॥१०॥

सामन्तचक्रेऽपि पृथुप्रतापे, त्वच्छासनं खेलनमातनोतु ।
अन्तःपुरं चानुचरं तवेदं, छायेव सुभ्रु ! स्ववपुर्लतायाः ॥११॥

नमस्करिष्यन्ति च भक्तिभाजो [illegible] वीक्ष्य समस्तपौराः ।
तनूदरि ! त्वां [illegible] नामिव शीतभासः ॥१२॥

मयि प्रसन्ने तव कातराक्षि!, क्षमातलं निघ्नमिति[1] प्रतीहि ।
समीपगे कल्पतरौ हि कस्य, न स्यात् सदा कल्पितकार्यसिद्धिः ॥१३॥

नृसिंहयोग्यां भवतीं कदर्यः, कथं नु पश्येदपि नागदत्तः ।
भद्रावशा जातु न रासभस्य, स्वप्नेऽपि भोग्याऽधमशेखरस्य ॥१४॥

सप्रश्रयं भूपमिति ब्रुवाणं, प्रत्याह सा साध्वससन्नकण्ठी ।
साऽपत्रपा वेपथुदुस्थगात्रा, सबाष्पनेत्रा परिमन्दमन्दम् ॥१५॥

पिता भवेद् भूमिपतिः प्रजानां, सदापि तद्रक्षणदीक्षितत्वात् ।
तत्र प्रवर्तेत कथ सरागा, वाणीव दृष्टिः कुलजाङ्गनायाः ॥१६॥

राज्येन किं तेन समाद्य कार्यं, स्वं शीलशैलाग्रपरिच्युतायाः ।
दुग्धोपयोगोप्यतिसन्निपात-प्रपातिदेहस्य शिवाय न स्यात् ॥१७॥

यत्राऽऽस्यमप्यम्बुजवन्निशाया-मुद्घाटनं न क्षमते रजस्वि ।
सतीव्रतध्वंसविधौ हि बिभ्रन्, मालिन्यपङ्कं कुलपांसुलायाः[2] ॥१८॥

तत्रेतरस्यापि जनस्य निन्द्या, सामन्तचक्रे चतुरे मदीया ।
जात्यन्धवक्त्रे स्मितपत्रवल्लि-लेखेव नाज्ञापि बिभर्त्ति शोभाम् ॥१९॥
युग्मम् ।

त्वदीयमन्तःपुरमुत्तमत्वात्, सपत्नभावाच्च कथं विसोढा ।
भुजङ्गयोषाकुलवत् प्रपुष्टां, मां द्विष्टभावं नकुलीमिवोग्राम् ॥२०॥

संवीतमूर्त्तिर्यदि मक्षिकाभिश्चित्रीभवेत् सुन्दरतानिधानम् ।
तदा लभेयाहमपि प्रतिष्ठां, पापेह पौरैरनुगम्यमाना ॥२१॥

न भूपसङ्गप्रभवः प्रसादः, साध्वीषु साधुः पतिदेवतासु ।
किम्पाकभोगः क्षुधितप्रजासु, यथाभिरुच्योपि विपाकरौद्रः ॥२२॥

गुरूपदिष्टः पतिरेव नित्यं, कुलाङ्गनानाममनोरमोपि ।
कलङ्कधामापि तुषाररश्मिः, कुमुद्वतीनामिव माननीयः ॥२३॥

कुबेरलक्ष्म्योक इवेति कान्तं, साऽप्यर्थसारं वचनं वदन्ती ।
प्रत्याबभाषे नरपुङ्गवेन, स्वकार्यसंदीपितचापलेन ॥२४॥

१. आयत्तं । २. ०'पांसनायाः' इति पाठः पुस्तके ।

मुग्धेऽङ्गनाश्चित्तभुवोऽनुजीविका, भक्ताश्च तास्तस्य कथं हि शासनम् ।
विलङ्घयेयुः कमनीयकामिनां, विमाननात् तत्सुहृदां महीयसाम् ॥२५॥

कुलाभिमानोऽपि न कामिनीनां, तद्भक्तिभाजामुचितो विधातुम् ।
स्वस्वामिवश्यस्य हि सेवकस्य, का स्वैरिता तत्त्वविचारणायाम् ॥२६॥

स्वशासनातिक्रमकोपितेन, ध्रुवं जटित्वादिविडम्बनाभिः ।
विडम्बितास्तेन कुलादिसीमास्तं विद्विषन्तो विदधुर्व्रतस्थाः ॥२७॥

अस्यैव चाज्ञा शिरसा विधार्यते, लोकैकमल्लस्य सुरासुरैरपि ।
शेषेव कल्याणिनि ! कल्पितार्थदं, तत्सर्वथाराद्धुममुं त्वमर्हसि ॥२८॥

सा प्राह किं तेन सुकुण्डलेन, यत्त्रोटयत्यद्भुतलम्बकर्णम् ।
आराधितो दुर्गतये ध्रुवं स्यात्, यस्तेन किं सर्वगुणस्पृशापि ॥२९॥

प्रत्यब्रवीत्तामथ मर्त्यनायकः, प्रिये ! तदाराधननिष्ठचेतसाम् ।
अच्छिन्नसम्भोगजमोदमालिका, सुधानिमज्जद्वपुषां क्व दुर्गतिः ॥३०॥

इति प्रतीतेऽपि सुखे समक्षतः, क्षमो न कर्त्तुं सुतनो ! विपर्ययः ।
को ह्यम्भसि स्नानविहारपानजाः, प्राप्यापि केलीः कलयत्यसत्यताम् ॥३१॥

निवर्त्यते चेदसुतश्च भाविनः, त्रासादसातस्य मनोहरादपि ।
तदा महाजीर्णविपाकशङ्कया, भोक्तुं न युज्येत कदापि पायसम् ॥३२॥

इत्थं मुहुर्मानवनाथधूर्तकः, प्रदर्शयन्नुत्पथगामिनीः कथाः ।
विष्णुश्रियं सत्त्वपथान्न्यवर्तयत्, स्थैर्यं क्व वा स्त्रीषु विचक्षणास्वपि॥३३॥

ह्रीमात्रयुक्तामथ तामवेत्य, क्षितीश्वरः कुण्डलहारयष्टीः ।
कान्त्यास्तृताशामुखचक्रवालास्तस्यै ददौ दृष्टिमनोऽभिरामाः ॥३४॥

उवाच चैनां परलोकभीरुता, न सुन्दरी ते क्षणभाजि यौवने ।
किं कृष्णसारङ्गवदङ्गभामिनि !, प्रत्येति यातं सदिदं कथञ्चन ॥३५॥

एवं ससामाप्रतिमप्रदान-प्रहारगाढप्रहतेव नष्टा ।
त्रपापि तस्याः समरोन्मुखानां, श्रेणिः प्रवाचामिव कातराणाम् ॥३६॥

मनोऽपि तस्या मदनावलीढं, हिमं यथा दार्ढ्यभृदप्यवश्यम् ।
क्षणेन दुद्राव विदग्धसञ्ज्ञानलोष्मतो न्यक्कृत सर्वधाम्नः ॥३७॥

विष्णुश्रिया विप्लुतधैर्ययाऽथ, स्मरस्य भूपस्य च शोभनाज्ञा ।
मेनेऽथवा स्वं हि हितं न वामा, विदन्ति दोषक्षतशुद्धबोधाः ॥३८॥

प्रत्याबभाषे तमिति स्मरार्त्ता, त्वदेकतानाऽहमिति प्रतीहि ।
नाम्भोजिनीनायकतः कदाचि-दम्भोजिनी येन पराङ्मुखी स्यात् ॥३९॥

हेलाखिलक्षोणितलावगाहिन्यपि प्रमोदो हृदि तस्य नाऽमात् ।
कान्तामुखस्मेरसरोजनिर्यद्वचोमधुस्वादनभङ्गिजन्यः ॥४०॥

तुष्टेन साऽथ प्रतिचारिकाभिः, प्रासाध्यत स्नानविधानपूर्वम् ।
सुनिर्मलश्लक्ष्णलसद्दुकूलैः, श्वेतद्युता द्यौरिव रश्मिजालैः ॥४१॥

नानामणिप्रोच्चरदंशुजाल-प्रबद्धशक्रायुधभूषणौघैः ।
विभूषिता कल्पलतेव साऽभात्, सञ्चारिणी विश्वविमोहनाय ॥४२॥

तां सत्कृतां वीक्ष्य तथा प्रसन्नां, कामं सकामो नृपतिर्बभूव ।
पान्थोऽतिहृष्टः सरसीमिवार्त्तस्तृषा विदूरागमसादिताङ्ग्या ॥४३॥

तस्यां महामन्मथकेलिवाप्यां, सरोजहंसः कमलावतंसः ।
नानाविनोदैरनयद्दिनानि, प्राप्तातुलश्रीरिव सप्रमोदः ॥४४॥

विष्वक्समुन्मीलितपुष्पनेत्रैस्तां सुन्दरीं द्रष्टुमिवोन्मुखेषु ।
तया करिण्येव करी कदाचिच्चिक्रीड लीलोपवनेषु भूपः ॥४५॥

कदापि तत्पीनकुचाभशारि-ग्रहाग्रहाद्यूतविनोदसक्तः ।
सार्द्धं तया तत्करदत्तदृष्टिर्दिनं समग्रं क्षणवन्निनाय ॥४६॥

सम्भावयामास तदेकतानो, दृष्ट्वापि नान्तःपुरमेष शेषम् ।
अन्धं यथा प्रौढमृगाङ्कवक्त्र-मप्युद्धतोन्मत्त इव क्षितीन्द्रः ॥४७॥

सकामतृष्णातिशयो निरन्तरं, विसारिदन्तांशुसुधाप्लवाचिताम् ।
पपौ स विस्फारितलोललोचनश्चकोरवत्तन्मुखचन्द्रचन्द्रिकाम् ॥४८॥

तथाऽभवत् तत्सुरतावमग्नो, यथोज्झितान्यप्रियकाम्यराशेः ।
शेषेन्द्रियाणामपि वृत्तयोऽस्य, त्वगिन्द्रियं नूनमनुप्रविष्टाः ॥४९॥

यथेन्दुमौलिः सततानुरागाद्, गिरीन्द्रपुत्र्याः क्षणमप्ययोगम् ।
त्रिस्रोतसो वा सलिलाधिनाथस्तस्यास्तथा नैच्छदसौ क्षितीशः ॥५०॥

कान्तावियोगादथ नागदत्त, आशीविषो वोद्धृततालुदंष्ट्रः ।
अन्तस्तताप क्व नु सुस्थता स्याच्छमीतरोः प्रज्वलकोटरस्य ॥५१॥
मनस्विभिः क्षम्यत एव मूर्द्धनश्छेदोऽपि कांताभिभवस्तु नोच्चैः ।
रामायणादावपि यत्प्रसिद्धो, रामाकृते वीरसहस्रनाशः ॥५२॥
प्रियागुणस्मृत्यभिसारिकाभिर्वाचालितोऽसौ विललाप दीनम् ।
हा !! हंसगामिन्यधुना तु कुर्युः, कस्या गतिं मे गृहकेलिहंसाः ॥५३॥
त्वदङ्कपालीपरिवर्तलालितां, वीणामिमां स्कन्धतटे दधातु का ।
नृपाङ्गनायोग्यसुचम्पकस्रजो, न काककान्ता भवतीह भाजनम् ॥५४॥
विलुप्तदृष्टीव मुखं मनोरमं, मृणालिनीमुक्तमिवेह मानसम् ।
व्योमेव शीतद्युतिचन्द्रिकोज्झितं, त्वया विना शून्यमिवेक्ष्यते गृहम् ॥५५॥
रुष्टासि चेत् कोकिलयेव निम्बान्, मन्मानसाद्भीरु न सर्वथा किम् ।
नैशे त्वया प्रत्युत मीलिताब्जरुद्धालिनी स्थैर्यमिहाऽऽललम्बे ॥५६॥
इत्थं विलापेन कृशत्वमायया-वस्याङ्गयष्टिः शुचिनेव निम्नगा ।
समं नलिन्यातिविकस्वराब्जया, विशुद्धया चेतनयातिदुःखिनः ॥५७॥
ततः पटिष्ठान्यपि तस्य माद्यत्प्लवङ्गवच्चापलमुद्वहन्ति ।
पत्न्या सह प्रोषितवृत्तिभावादिवावसादं दधुरिन्द्रियाणि ॥५८॥
विशस्थलेष्वक्षमनस्सु देहे, दस्युर्यथा प्राहरिकेषु गेहे ।
यथेष्टमुन्माद उदग्रचेष्टा, नानाकृतिस्तस्य समुज्जजृम्भे ॥५९॥
चित्रार्पितामप्यवलोक्य कान्तां, दूरोन्नमद्बाहुरधावदेषः ।
किं नैष[1] रोषो मयि कः कुतो वाऽवलोक्यसे चात्र मुहुः प्रजल्पन् ॥६०॥
रजोभिरुद्धूलयति स्म गात्रं, स्नात्वा यथा मत्तगजः करेण ।
साक्षादिवांहोभिरिहैव तूर्णं, क्षितीशरोषप्रभवैरनल्पैः ॥६१॥
उत्तालतालं च जहास नृत्यन्, भर्गाकृतिर्भैरवमूर्त्तिरेषः ।
पादप्रहारैरसमं पतद्भिः, प्रकम्पितक्षोणितलोऽतिरौद्रैः ॥६२॥
व्यभाव्यत प्रस्खलितक्रमं या, न व्यक्तवाग्लोलितरूक्षकेशः ।
तादृग्भिरेवानुगतः सडिम्भैर्मूर्त्तः क्षितौ भूतपतिः सभूतः ॥६३॥

---

१. पुस्तके तु 'नैषि' पाठः ।

व्यामील्य नेत्रे कमलासनस्थो, योगीव चाव्यक्तमयं निदध्यौ ।
ध्यानावसाने च रिपाविवोग्रे, दृष्टे हितेऽपि भ्रुकुटिं बबन्ध ॥६४॥

उन्मादराजस्त्वरितं हनिष्यन्, व्यगोपयत्तं शठचौरनीत्या ।
तथा विडम्बैर्विविधैः परापत्, यथाखिलोन्मत्तशिरोमणित्वम् ॥६५॥

दृष्ट्वापि तं तादृशमीक्षणानां, कृपास्पदं कण्ठविवर्त्ति जीवम् ।
नैवान्वशेत क्षितिपो मनागप्यहो ! दुरन्ता स्मरतन्त्रताऽत्र ॥६६॥

विष्णुश्रियं चानुचचार राजा, कुटुम्बिनीं स्वामिव चक्रवाकः ।
क्व वा भवेत्तत्त्वविचारदृष्टिः, कामिष्वदृष्टिष्विव वामगेषु ॥६७॥

सङ्गीतकेऽसौ कलगीतिकान्ते, मार्दङ्गिकत्वं स्वयमभ्युपेत्य ।
प्रनर्त्तयामास विलोलनेत्रस्तत्पीनवक्षोरुहवल्गनेषु ॥६८॥

तां वेगवायूल्ललदंशुकान्त-व्यक्तातिरम्यावयवां वसन्ते ।
आंदोलयामास सलोलबाहुर्दोलासु लीलोपवने प्रहृष्टः ॥६९॥

स तत्र सक्तस्त्वतिमात्रमन्तः, स्वराज्यचिन्तां न चकार काञ्चित् ।
भवन्ति हि व्यालविषावलीढा, हिताहितार्थव्यवहारशून्याः ॥७०॥

पदे पदे भक्तमपि स्वकीयमन्तःपुरं चारु तिरश्चकार ।
द्विकः पिकासेव्यफलावनम्र-मुत्तुङ्गकम्राम्रवणं यथाऽज्ञः ॥७१॥

तत्प्रत्यहं तेन कदर्थ्यमानं, भावानुरागेऽपि चुकोप तस्मै ।
घर्षप्रकर्षान्ननु चन्दनादप्युद्गच्छति स्फारशिखः शिखावान् ॥७२॥

तथाप्यपश्यन्नवरोधनार्यो, विमृश्य तत्त्वं समवेत्य तावत् ।
कार्याणि यत्साहसनिर्मितानि, प्रायोऽनुतापाय भवन्ति पश्चात् ॥७३॥

नायं नृपोऽस्मासु कदाचिदेवं, पारुष्यमाविश्चकृवान् रुषापि ।
ग्रीष्मेऽपि किं बालगभस्तिमाली, मृणालिनीमीलनतत्परः स्यात् ॥७४॥

तन्नूनमौपाधिकमस्य वृत्तं, विष्णुश्रिया सङ्गमितं ह्यनार्यम् ।
रात्रिं विनाऽन्यः प्रमदावनद्धं, कः कौशिकं ताण्डवयत्यकाण्डे ॥७५॥

पापा तदेषैव वणिग्वधूटी, कुटी गरिष्ठा कपटस्य मूलम् ।
प्रवृद्धसाम्राज्यतरुप्रमाथि-नानादुराचारपरश्वधानाम् ॥७६॥

अस्माकमुच्छेद्यत मा तदेषा, यतो न बाणेन हतापि जातु ।
प्रक्षेपकं तस्य विहाय बाणोन्मुखीभवत्युद्भटसिंहराजिः ॥७७॥
ततस्तदुच्छेदविधिश्च ताभिः, प्रचक्रमे सत्वरमेव कर्त्तुम् ।
अवश्यनाश्येष्ववधीरणा स्याद्, ध्रुवं विनाशाय हि नाशकानाम् ॥७८॥
ताः कार्मणोच्चाटनपाटवान्विता-नुपाचरन् भूरिधनेन मान्त्रिकान् ।
नेमुश्च नीचानपि सत्तमानिव, स्वार्थाय किं किं हि न कुर्युरङ्गनाः ॥७९॥
प्रव्राजिकाकार्मणतश्च ताभिः, क्षणात् परावर्त्यत जीवितात्मा ।
मोघत्वमायाति कदापि लक्ष्ये, न हि प्रयुक्तं कुलिशं मघोना ॥८०॥
विष्णुश्रियं वीक्ष्य तथा विपन्नां, मुमूर्च्छ सम्मूर्च्छदतुच्छमन्युः ।
निमीलितस्वान्तहृषीकवृत्त्या, प्रेम्णा तु कुर्वन्निव तां नरेन्द्रः ॥८१॥
मयूरपक्षव्यजनानिलौघैः, स वीजितोऽप्यम्बुलवावमिश्रैः ।
न चक्षुरुत्क्षेपमपि व्यधत्त, चित्रार्पितारम्भ इवोग्रमोहः ॥८२॥
कर्पूरपारीघनचन्दनाम्बु-स्निग्धच्छटालालिततालवृन्तैः ।
चिरेण संज्ञां समवाप भूपश्चक्षुःपरिस्पन्दलवानुमेयाम् ॥८३॥
उन्मीलदक्षं वदनं तदीयं, वीक्ष्य स्फुटत्पत्रमिवाम्बुजन्मा ।
लोकः प्रमोदेन समुल्ललास, चन्द्रोदयेनेव पयोधिनाथः ॥८४॥

निविडनिजविपक्षोच्छेदमोदस्य पोषी,
समभवदथ हर्षः कोऽपि भूपाङ्गनानाम् ।
शिशुमृगनयनानां वल्लभाभ्यासजाया,
मुद इव सितशोचिर्द्योतसंयोगजन्मा ॥८५॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते नृपप्रत्युज्जीवनो
नाम द्वितीयः सर्गः समाप्तः । छ. । २

तृतीयः सर्गः

अथोद्भवन्मन्युभरस्खलद्गी-र्विमुक्तलज्जं विललाप भूपः ।
यच्छन्निवासैरुपचीयमानै-र्जलाञ्जलिं संस्थितवल्लभायाः ॥१॥

वाङ्मात्रदानेऽपि पराङ्मुखी किं, प्रियेऽधुना स्निग्धतमापि पूर्वम् ।
गौर्जातु मुग्धार्भकदुग्धमात्रा-र्पणे दरिद्रा न हि कामदोग्ध्री ॥२॥

अन्तस्थमूकालिनिमीलिताब्ज-श्रियं दधद्गीतवचस्तवाऽऽस्यम् ।
ममाधुनाऽऽलोकयतोऽपि चित्तं, दुनोति दूरीकृतविभ्रमायाः ॥३॥

मुग्धे ! तव श्रोणितटावलग्ना, शोकातिरेकान्मणिमेखलापि ।
रोचिर्मिषप्रस्रवदश्रुराजि-र्विभाव्यते नूनमनूनमौना ॥४॥

त्वन्मानसे मानिनि ! माययायं, स्निग्धो मयीत्येवमवात्समस्मि ।
इतीव दीर्घेऽपि पथि प्रयान्त्या, नाऽभाषितोऽपि प्रखलो भवत्या ॥५॥

मृगीषु विप्रेक्षितमम्बुजेषु, वक्त्रद्युतिर्बर्हिषु केशपाशः ।
स्वस्य प्रयाणेऽत्र धृतं त्वयैतद्, ध्रुवं विनोदाय मदीक्षणानाम् ॥६॥

दुर्बोधमेवं ललितं त्वदीयं, नानाविधानं नियतेरिवेदम् ।
विषाऽमृतस्पर्द्धिविषादहर्ष-द्वयं समं यच्छति साम्प्रतं मे ॥७॥

इत्यादि भूपो विलपन्नवद्य, पिशाचकी शीघ्रमभूत् सशोकात् ।
काष्ठागतः कामनटोपदेशः, कथं कथं नाम न नाटयेद्वा ॥८॥

उत्थाय चैनां निजमङ्कमाशु, प्रारोपयद् दुर्वहकाययष्टिम् ।
बालामिवानङ्गविमोहिता वा, किं नाध्यवस्यंत्यतिदुष्करं यत् ॥९॥

रुदन् क्षणं गानपरो हसंश्च, जजल्प सासूयमनल्पमेषः ।
उद्दिश्यतां स्त्रीषु हि शोकभाजां, वृत्तिः कुतस्त्यास्तु शुभैकरूपा ॥१०॥

नाद्यापि पूर्णा परिवादिनी सा, त्वया समारम्भि मया समं या ।
बद्धुं कथं प्रोझ्य गतासि तूर्णं, नारब्धहीनं ह्युचितं कदाचित् ॥११॥

यस्यास्तवासीन्नवपुष्पशय्या-बाधाकरी केलिषु कोमलाङ्ग्याः ।
सहिष्यसेऽग्निप्रचितां चितां साऽऽरोढुं कथं भामिनि! भीमरूपाम् ॥१२॥

तामङ्कतस्तस्य विलुप्तबुद्धेः, कथञ्चिदाकर्षति बन्धुवर्गे ।
उच्चैः स चुक्रोश तथा यथाऽस्य, स्वनैः सभाऽपि स्फुटति स्म नूनम् ॥१३॥

तत्र क्षणेऽभूत् क्षितिपः क्षताशः, शुभाशुभाचारविवेकशून्यः ।
मग्नो भृशं दुस्तरशोकपङ्के, गजेन्द्रवद्विह्वलनेत्रगात्रः ॥१४॥

उन्मादरक्षोऽपि विशेषतस्तं, तदा सिषेवे विकृतत्वभूमिः ।
अप्राप्तपूर्वस्य सदापि नूनं, लोभेन पुष्टाश्रयखेलनस्य ॥१५॥

कृतं कुकर्मेह विपाककाले, नानागुणं वेद्यत एवमेतत् ।
सहस्रवृद्धया नृपतिर्विडम्बाद्, यन्नागदत्ते विहितात्तमाप ॥१६॥

अत्युग्रपापा निपतन्ति सद्यः, पापात्मनां मूर्द्धनि नान्यथैतत् ।
यन्नारकाकारमनायि भूपः, तत्रैव जन्मन्यतिनिन्द्यवृत्त्या ॥१७॥

दग्धुं ददौ नैव स बान्धवानां, विष्णुश्रियं निष्फलफुल्लदाशः ।
क्रोष्टेव रक्षन् पृथुमांसपेशी-भ्रमेण शोणाश्मशिलामभोग्याम् ॥१८॥

अमङ्गलं कुत्स्यमनर्थकं च, स्थानं गृहेऽस्या इति संपरीक्ष्य ।
क्वचिन्नृपं बालमिव प्रलोभ्य, तां प्रापयन् मन्त्रिवराः श्मशानम् ॥१९॥

अवीक्षमाणः क्षितिपः क्षणेन, तां तत्र शोकातिशयात् पृथिव्याम् ।
मुखं पिधायासितजीर्णपटद्या, साक्षादकीर्त्त्येव पपात सद्यः ॥२०॥

ददौ न वाचं न पयोऽपि सोऽपाच्चचाल नास्त्रैरिव कीलिताङ्गः ।
दिनत्रयं यावदलक्षि लोकैः, प्रियामनुप्रोषित एव नूनम् ॥२१॥

प्राणप्रहाणाभिमुखीं प्रवृत्तिं, तथा विलोक्याऽस्य हितैरमात्यैः ।
आधाय तत्पादयुगं स्वमूर्द्धन्युच्चैःस्वरं विज्ञपितः सखेदैः ॥२२॥

देवेन किं विश्वविलोचनेन्दुना, राहूपरागप्रतिमः समाददे ।
पृथ्वीतलाकस्मिकदुःखवेपथु-प्रदः प्रियाशोकभरो विशृङ्खलः ॥२३॥

सङ्ख्याद्विषः सन्ति पुरेऽत्र वेश्या, वश्याः स्वसौन्दर्यजितेन्द्रयोषाः ।
त्रैलोक्यवर्ण्या अवरोधनार्यस्तत् किं विभुस्ताम्यति निस्वनीत्या ॥२४॥

विष्णुश्रियै चेद्विषमा दशेयं, पिशाचकान्तेव विबाधते त्वाम् ।
तदीक्ष्यतामीक्षितवस्तुतत्त्वं, सैवाऽधुना नाप्तशरीरदाहा ॥२५॥

प्रियाभिधानश्रवणे तदाऽसौ, सुधाभिषिक्तः किमुताऽऽप्तनाकः ।
आत्मानमेवं मनुते स्म यद्वा, प्रेयः श्रुतेः को धृतिहेतुरन्यः ॥२६॥
झगित्यथोत्थाय समीक्ष्यमाणो, दिदृक्षयाऽस्याः ककुभां कलापम् ।
करी करिण्या इव विप्रयुक्तः, प्रत्याबभाषे सचिवैः स विज्ञैः ॥२७॥
फलोपयोगोन्मदभूरिपक्षि - ध्वनिप्रतानैर्बधिरीकृताशे ।
पतत्पुरासत्तिचरे वनान्ते, सा वर्तते सम्प्रति देवकान्ता ॥२८॥
तत्तत्र देवेन तदीक्षणाय, प्रसद्यतां स्वस्य मनः-प्रसत्त्यै ।
न मत्तमातङ्गकपोलपाली-मनाप्य यद्भृङ्गयुवा सुखी स्यात् ॥२९॥
प्रियावपुःसङ्गिवनं परापन्नृपो व्रजन्नामिपलोलुपेन ।
निरातपं नूनमनुग्रहाय, तस्याः खगौघेन विधीयमानम् ॥३०॥
तत्र द्विकस्फोटितनेत्रयुग्मा-मपश्यदस्पृश्यतमावमाङ्गीम् ।
क्षतस्रवत्पूयरसप्लवार्द्रां, मूर्तामिवान्यायजपापपङ्क्तिम् ॥३१॥
व्रणावलोलत्क्रिमिजालवर्म-स्पृशं तनूं त्रातुमिवाण्डजेभ्यः ।
नाराचपूरेभ्य इव प्ररूढ - दुष्कर्मवैरिद्रुतपातितेभ्यः ॥३२॥
विलुप्तनासाश्रवणां शृगालै, रामानुजाकाण्डविडम्बिताङ्गीम् ।
रौद्राकृतिं शूर्पणखामिवोच्चै-र्दृष्टेरपि क्षोणिभृतामयोग्याम् ॥३३॥
श्रीखण्डकर्पूरविलेपकान्ते, प्रकाशयन्तीं स्तनमण्डलेऽपि ।
श्मशानभस्मच्छुरितानि लक्ष्मीश्चलेति सम्बोधयितुं ध्रुवं नून् ॥३४॥
मृताहिकौलेयकमुख्यदेहि-प्रभूतदेहाक्रमसर्पिगन्धात् ।
अप्युत्कटं गन्धमरं किरन्तीं, दिक्चक्रवालं परिवासयन्तम् ॥३५॥
पञ्चभिः कुलकम् ।
तां वीक्ष्य बीभत्सपदार्थसीमा-मधःकृतप्रेतविलासिनीकाम् ।
वैराग्यमार्गापतितान्तरात्मा, सोऽचिन्तयत् कूणितनेत्रपत्रः ॥३६॥
निर्मुक्तनिर्मोकभुजङ्गराज-भोगश्रियं स्वस्य कुले दधाने ।
कलङ्कहीनेऽपि मया कलङ्कः, समर्प्यताऽज्ञानभृता यदर्थम् ॥३७॥
प्रजा अपत्यादपि तीव्ररागाः, पितामहादप्यनुकूलवृत्ताः ।
शत्रुप्रकारेण मयाऽभिभूता, हा ! हा !! ग्रहाक्रान्तिजुषेव सर्वाः ॥३८॥

वाचस्पतिं प्रह्वदिवस्पतिं ये, शश्वत्कुशाग्रीयधिया जयन्ति ।
तानप्यमात्यानतिमात्रनम्रानमंस्यहं जीर्णतृणाय कामी ॥३६॥

सप्ताङ्गमन्तःपुरचारुराज्यं, विडम्बिताऽखण्डलभूतिजोषम् ।
समीरणेनेव पयोदवृन्दं, निन्ये मयैतद्विशरारुतां द्राक् ॥४०॥

तस्या अवस्था समपद्यतेयं, दृष्टि-श्रुति-ध्यातिपथातिवृत्ता ।
यदा तदाऽन्यत्र मनोरमेऽर्थे, क्वाऽऽस्था निबध्येत विचक्षणेन ॥४१॥

पञ्चभिः कुलकम् ।

विभावयंस्तद्वदसौ सखेदं, समस्तमर्थं क्षणिकं भवस्थम् ।
कान्तानुरागादिव तत्प्रदेशा - न्नृपो न्यवर्तिष्ट विबुद्धतत्त्वः । ४२॥

सद्यःसमुद्भ्रान्तमदः करीन्द्रो, यथा समुत्सृष्टविदुष्टचेष्टः ।
प्रसन्नचेता नयनाम्बुजन्मा, प्रत्याजगाम क्षितिपः पदं स्वम् ॥४३॥

पौरैश्चकोरैरिव शारदेन्दोः, स चन्द्रिकास्तोम इवातिशुद्धः ।
नेत्रैः प्रफुल्लैः परिपीयमानः, पुरं विवेश क्षणदः प्रजानाम् ॥४४॥

तत्रापि वैराग्यविशेषशाली, धाम्नीव दीप्ते स रतिं न लेभे ।
सुधारसच्छिन्नतृषो हि पुंसः, सक्तिः कथं पल्वलवारिणि स्यात् ॥४५॥

प्रचण्डवातोद्धुतवारिबिन्दु-व्योमस्थितिस्पर्द्धि सुराज्यमिद्धम् ।
सान्तःपुरं तन्निखिलं विहाय, स्थास्ये विमुक्तौ विरजाः कदेति ॥४६॥

सद्धर्मधान्याधिगमोन्मुखस्य, कृषीबलस्येव नृपस्य तस्य ।
पयोदवद् ध्वस्ततताङ्गितापस्तत्राऽऽययौ सुव्रतसूरिराजः ॥४७॥

युग्मम् ।

सत्वानपायप्रणिधेर्विनम्रः, पथि व्रजन्निश्चललोचनोऽभात् ।
विडम्बितानेकपयानलीलो, महाव्रतप्राज्यभराद् ध्रुवं यः ॥४८॥

तपःश्रिया क्षामवपुर्विमुक्तो, निःशेषभूषा परिकर्मभेदैः ।
तथापि विक्षिप्तगभस्तिमाली, समुच्चरद्भास्वरधामलक्ष्म्या ॥४६॥

भङ्ग्युत्तरासङ्गितशुद्धवासा, यः श्यामकेशश्च बभार गौरः ।
सपाण्डुकोद्यानतुरीयभागाधःपाण्डुमेघावृतमेरुलीलाम् ॥५०॥

ऋज्वायतस्वच्छदशान्तदेश-मायामवद्दण्डमृषिध्वजं यः ।
नानार्थसम्पादकपुण्यराशि - व्याप्तोरुचारित्रमिवाऽऽदधार ॥५१॥

मुखेन्दुराजन्मुखवस्त्रिकश्च, कथासु लेभे विरजा द्विजौघैः ।
निषेवितः प्रान्तनिविष्टहंस-राजीव विभ्राजि सरःश्रियं यः ॥५२॥

अनन्यसाधारणवृत्तविद् यो, य एक एव प्रमदप्रदोऽभूत् ।
भव्यात्मनां स्यान्नतु विश्वकाम्यं, सर्वेन्द्रियाह्लादि सुपक्वमाम्रम् ॥५३॥

निधानमेकं महतां महिम्नां, माध्यस्थभाग् यो जगतां विबोधम् ।
जाड्यस्पृशामप्यतनोत् क्षणेन, पद्माकराणामिव चण्डरोचिः ॥५४॥

जगत्सु यः प्राप यशःपताकां, जिनप्रतिच्छायतयातिशुद्धाम् ।
किंवाऽद्भुतं येन न सुव्रताना-मगोचरः स्यादतुलोऽपि लाभः ॥५५॥

अष्टाभिः कुलकम् ॥

तस्थौ समागत्य स काननैक-देशे विविक्तेऽथ विविक्तचेताः ।
तदीयकीर्त्येव पुराज्जनेनाऽऽहूतेन विष्वग्निचिते तदानीम् ॥५६॥

श्रुत्वा तदीयागमनं नरेन्द्रो, ननन्द केकीव पयोदनादम् ।
को वा नितान्तार्थितकान्तवस्तु-प्राप्तौ भवेन्नाधिकहर्षपात्रम् ॥५७॥

ततश्च किं प्राप्तमहानिधानस्त्रैलोक्यनाथत्वमुपागतो वा ।
अद्याहमेवं स विकल्पयंस्तं, समाजगामोन्मुदितः प्रदेशम् ॥५८॥

ससैन्यलक्ष्मीर्नृपतिः प्रजाश्च, स्वस्वानुरूपर्द्धिविवृद्धशोभाः ।
तत्राऽऽययुर्भक्तिविशेषहर्ष-व्यक्त्यै यथा श्रीविधिचैत्य इभ्याः ॥५९॥

प्रदक्षिणास्तस्य विधाय तिस्रो, विशुद्धभूपृष्ठनिविष्टशीर्षाः ।
प्रणम्य चैनं विनिषेदुरुद्यल्ललाटबद्धाञ्जलयः प्रसन्नाः ॥६०॥

सद्धर्मलाभैरभिनन्द्य सर्वान्, प्रचक्रमे वक्तुमसौ गुणाढ्यः ।
बृहत्कथां सत्पुरुषार्थनिष्ठां, दूरीकृतावद्यपदप्रयोगाम् ॥६१॥

विवेकिभिः प्राप्यमनुष्यजन्मा, जन्मप्रसाध्यो विधिधर्ममार्गः ।
यच्छारदेन्दोरुदयस्य नान्यत्, फलं विहाय प्रमदं जगत्याः ॥६२॥

श्रीवीतरागो विधिनाऽर्चनीयः, त्रिसन्ध्यमत्यादरपूतभावैः ।
नानादृतानां परमोऽपि मन्त्रः, फलत्यवश्यं भुवि दुष्प्रयुक्तः ॥६३॥

सज्ज्ञानचारित्रनिधिस्तपस्वी, स्तोकोऽपि सेव्यः शिवमीहमानैः ।
यत्रैव चिन्तामणिसाध्यमर्थ, शिलाः सुबह्व्योऽपि हि साधयन्ति ॥६४॥

पापास्रवेभ्योऽपि पलायनीयं, सद्दृष्टिभिर्भोगभयङ्करेभ्यः ।
न दावसान्निध्ययुजो हि वृक्षाः, फलन्ति पुष्टा अपि मूलबन्धैः ॥६५॥

नानाजिनाभ्यर्चनदानदीक्षाः, शिवाय नैवेह विना जिनाज्ञाम् ।
नाथप्रमाथे युधि जातु जाते, किं कुर्युरुग्रा अपि शेषसैन्याः ॥६६॥

विषोपमाना विषया विहेया, आपातरम्या अपि दुःखदत्वात् ।
यत्रैव भोग्याः करवीरशाखाः, स्निग्धप्रसूना अपि सैन्धवानाम् ॥६७॥

उपेक्षणीयाः सुकृतोद्यतानां, दूरं विदग्धा अपि पक्ष्मलाक्ष्यः ।
किं क्वापि कौक्षेयकतीक्ष्णधाराः, सुव्यापृताश्छेदपराङ्मुखाः स्युः ॥६८॥

मूलं विरोधस्य कलेः प्ररोहाः, सुरञ्जिता अप्यपरानुरक्ताः ।
प्रियास्तथापि प्रमदाजनाना-महो दुरात्मा भुवने हि मोहः ॥६९॥

पापप्रपा नूनमिहाखिला स्त्री, यदत्र सक्ताः सुकृतामृतस्य ।
स्वादं जना नानुभवन्ति कञ्चिदुष्ट्रा इवाऽऽम्रद्रुमपल्लवस्य ॥७०॥

तदित्यवेत्यास्रवमुद्रणादौ, द्रुतं यतध्वं यदि कौतुकं वः ।
मुक्तिश्रियः कण्ठतटानुषङ्गे, नायत्नभाजां क्वचिदिष्टसिद्धिः ॥७१॥

इत्थं वचः शृण्वत एव सूरे-रालेख्य कर्मेव विशुद्धवर्णम् ।
सच्चित्तभित्तौ प्रतिबिम्बितं तन्नृपस्य कर्मावलिलाघवेन ॥७२॥

शेषप्रजानामपि तत्कथार्थः, प्रायः समुत्कीर्ण इवाप्रकम्पः ।
तस्थौ हृदि स्यान्न हि जातु वन्ध्यः, परोपकारोद्यमिनां प्रयासः ॥७३॥

विभावयन् सम्यगसौ गुरूणां, वचांसि भूयांसि सदर्थभाञ्जि ।
संवेगरङ्गावनिनृत्तचेताः, पराङ्मुखोऽभून्नृपतिश्रियोऽपि ॥७४॥

सान्तःपुरं तत्पुरमाढ्यलोकं, देशं च नानाद्भुतनाकदेश्यम् ।
जरत्तृणायापि नृपो न मेने, विनिस्पृहाणां किमु दुष्करं वा ॥७५॥

गुरोर्निवेद्य स्वमनोऽभिसन्धिं, प्रणम्य चांह्रिद्वितयं तदीयम् ।
ससैन्यपौरः स पुरं विवेश, स्वर्गं वृषे वाऽतुलदेवसेनः ॥७६॥

अष्टाह्निकास्तत्र चकार पूजा, जिनेन्द्रगेहेषु विधिप्रपूर्णाः ।
आशंसयेवाऽष्टसुपुष्टकर्म - द्विषज्जयस्य त्वरितं भविष्णोः ॥७७॥

सामन्तवृन्दैर्विविधर्द्धिशोभै - र्महाव्रतोत्साहधनैश्च पौरैः ।
सूतप्रघोषैर्बधिरीकृताश - मन्तःपुरैरप्यनुगम्यमानः ॥७८॥

ददन् महादानमपूर्वनादै - र्मन्ये सुतूर्यैः परिकीर्त्यमानः ।
समाददे सौगुरुमेत्य दीक्षां, कक्षां ध्रुवं मुक्तिवधूपयामे ॥७९॥
युग्मम् ।

धन्यः स विक्रमयशाः प्रतिपन्नदीक्षः,
सोत्कण्ठयेव रमणीयतपःश्रियाऽथ ।
प्राप्तश्चिरान् मदहितावनिपाललक्ष्मी,
वैराग्यवानिति मुदान्वितयाऽऽलिलिङ्गे ॥८०॥

रेमे तया सह तथार्थितलब्धयाऽसौ,
स प्रेमशैलसुतयेव नवेन्दुमौलिः ।
भाविप्रगल्भफलसन्ततिगर्भिता सा,
यज्ञे यथाऽतिविरजा अपि चित्रमाशु ॥८१॥

सकलकुकृतमिथ्यादुष्कृताविष्कृतेद्रांक्,
परमशमसमृद्धध्यानविध्यापितैनाः ।
प्रचुरतरसमाभिः शोधितात्मा तपोभिः,
स्मृतजिनगुरुपादः प्राप नाकश्रियं सः ॥८२॥

दण्डानां त्रितयं विखण्डितमहो गुप्तं च गुप्तित्रयं,
शल्यं गौरवसङ्गतं त्रिविधमप्युत्त्रासितं दूरतः ।
रत्नानां त्रितयी व्यधीयत बतानाघ्र्योऽमुनेति ध्रुवं,
नाकेनाऽपि निवेशितः शुभनिजोत्सङ्गे तृतीयेन सः ॥८३॥

सनत्कुमारेति पदाश्रयोऽयं, भविष्यतीतीव विभावनाय ।
स्वर्गेण सोऽश्लिष्यत पूर्वमेव, सनत्कुमारेति पदाश्रयेण ॥८४॥

उत्पन्नमात्रस्य पुरः सुराङ्गना, मुहुर्मुहुर्जीव जयेति नन्द च ।
दत्ताशिषः पुष्पचयं निचिक्षिपु-स्तस्यैव मूर्त्तं दधतं यशःश्रियम् ॥८५॥

जगुर्विपञ्चीमधुरस्वरैः समं, सर्वैर्यथास्थाननिवेशिभिः स्वरैः ।
क्वचित्तु यत्तत्स्वनतोऽतितारता, तासां ध्वनौ तत्र मुदेव दुष्यति ॥८६॥

दृढांह्रिघातोद्धतमेव ताण्डवं, चक्रुः स्वजातिप्रतिपन्थि यद्यपि ।
ताः सम्मदात्तत्र यथाम्बुदध्वने-स्तिर्यग्विरोध्युन्नटनं कलापिनः ॥८७॥

ततो विमानाधिपतिं सहस्रश, प्रणेमुरेनं विबुधा अपीतरे ।
समे मृगत्वे हि तदिन्द्रता हरे-र्जयन्ति पुण्यानि जनस्य सर्वथा ॥८८॥

ऐश्वर्यलाभेऽपि वमन्ति न स्थितिं, विवेकिनः स्वामिति शासितुं जनान् ।
नित्यार्हतार्चानिचयं समार्चयत्, स भक्तितः पुस्तकमप्यवाचयत् ॥८९॥

सुवेषरूपं मुदितं कृतादरं, भूयांसमालोक्य निजं परिच्छदम् ।
ननन्द सोऽन्तर्विबुधो हि मोदते, श्रिया परस्यापि किमु स्वकीयया ॥९०॥

दिव्यांशुकोल्लोचचितं समन्तत-स्तारावलिश्रीवरहारभूषितम् ।
कलोपगीतिध्वनिभृङ्गशाश्वतो-न्मेषप्रसूनप्रकराञ्चिताङ्गणम् ॥९१॥

पदे पदे धूपघटीसुगन्ध-घ्राणप्रसक्ता इव निश्चलाङ्ग्यः ।
पाञ्चालिका यत्र विभान्ति धातु, शिल्पप्रकर्षा इव चारुरूपाः ॥९२॥

नानामणिस्यूततलं सिताश्मनां, भित्तिष्वमर्त्यप्रतिबिम्बनच्छलात् ।
विष्वक्सचित्रत्वमिवानिशं दधन्, मुदेऽभवत् तस्य विमानमुज्ज्वलम् ॥९३॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

तदप्यपास्याशु कदाचिदेष, द्वीपाऽद्रिवन्यावनिषु व्यहार्षीत् ।
क्षीरोपयोगादपि नित्यवृत्ता, कुतूहली ह्युद्विजते जनोऽत्र ॥९४॥

विशुद्धभावामृतसेकवृद्धाः, सर्वेद्रियाणा फलिता विरामाः ।
शश्वन्मनोहारिनिरन्तराया-खिलेन्द्रियार्थानुभवैरिवास्य ॥९५॥

मुनेरपि श्रीभरतस्य पश्यन्नगोचरीभूतबहुप्रयोगाम् ।
प्रेक्षां न चिक्षेप कदापि चक्षुः, स स्निग्धकान्तास्वपि कामिनीषु ॥९६॥

कटाक्षलक्षैः सुरसुन्दरीणां, स स्नप्यमानोऽपि सुधासुहृद्भिः ।
रक्तत्वमाविश्चकृवान् प्रकामं, वामो हि कामः खलु नान्यथा स्यात् ॥९७॥

सुधारसानन्तगुणप्रमोदनं, दिव्याङ्गनाबाहुलतोपगूहनम् ।
तुष्टस्मराचार्यविनीतनूतन-स्वशिल्पजत्वादिव तत्र सोऽभजत् ॥९८॥

इति सुकृततरूत्थं स्वादुतौर्यत्रिकोद्य-
द्रसमतुलफलं स स्वादयंस्तत्र तस्थौ ।
विमलमणिविमानोत्सङ्गविश्रान्तकान्तो-
न्नतकुचतटमुक्ताहारलीलां दधानः ॥९९॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते नृपनाकलोकगमनो
नाम तृतीयः सर्गः समाप्तः । छ. । ३ ।

चतुर्थः सर्गः

कदाचिदस्य त्रिदशोत्तमस्य, प्रमोदलीलासदनस्य चक्षुः ।
मिमील तत्प्रागजननीयधर्म-प्राग्भारवत्तस्थुष एव तत्र ॥१॥

तस्य ध्रुवं सन्ततजृम्भितानि, प्रोद्दामगन्धान्धितषट्पदानि ।
माल्यानि मम्लुः मृदुलाङ्गभङ्गा-नुसारतः स्वस्य तमाकलय्य ॥२॥

कल्पद्रुमोप्यस्य तदा चकम्पे, पश्यन्निवाग्रे निधनं स्वभर्तुः ।
मन्दोदरीदक्षिणचक्षुरुच्चै-र्यथा पलादेश्वरपातदर्शि ॥३॥

सोत्कण्ठयेवातिचिराय वल्लभः, प्राप्तः परीतो रतिवामनेत्रया ।
तस्या निरासाय तदा प्रमीलया, बाढं समाश्लिष्यत सश्लथद्युतिः ॥४॥

निर्वास्यमानैरिव देहमन्दिरात्, कार्याक्षमैर्दुर्बलकिंकरैरिव ।
प्रदर्शितोद्दामविकारकोटिकैः, प्राणैश्चकम्पे द्रुतमस्य दुःखिनः ॥५॥

नासौ विमाने न गिरौ न कानने, रम्येऽपि नैवाप्सरसां मुखाम्बुजे ।
रतिं परापन्निशितासिधारया, पुमानिवाध्यासितकण्ठकन्दलः । ६॥

अथायुषो नीरनिधेरिवाऽऽप्य, क्रमेण पारं सुमहीयसोऽपि ।
अच्योष्ट स स्वर्गपदाद्विभूतेः, क्व स्फातिभाजोऽपि बत स्थिरत्वम् ॥७॥

निर्वाणदीपश्रियमाददाने, तस्मिंस्तदीयाऽप्सरसां मुखानि ।
तमोवृतात्युज्ज्वलदर्पणानां, दधुर्विलासं गलितच्छवीनि ॥८॥

निपत्य नाकी स तु नाकलोका-ल्ललामलावण्यमिलाबलायाः ।
शिरोमणिं रत्नपुरं पुराणा-मलञ्चकार प्रभवेन सद्यः ॥९॥

महाधनानां भवनेषु नक्तं, क्रीडद्वधूनूपुरतारनादैः ।
दमं सतां चौरमिवावधुन्वन्, दधौ स्मरो यत्र सुयामिकत्वम् ॥१०॥

विलासिवेश्मागुरुसान्द्रधूम-व्याप्ते नभस्युन्मिषिताब्दशंकाः ।
कलापिनः स्मापितविश्वलोक-मारेभिरे ताण्डवमाशु यत्र ॥११॥

निवासिनां प्रोज्ज्वलधर्मसेतु-प्रबन्धरुद्धैरिव सर्वतोऽपि ।
न यस्य सीमा समतीयते स्माऽपस्मारदौर्गत्यविरोधचौरैः ॥१२॥

यत्पश्यतां विश्वमपि प्रकाशते, प्रासादरूपं गृहदीर्घिकामयम् ।
उद्याननिर्वृत्तमथो शिरोगृह-प्रेङ्खद्गवाक्षस्थकुतूहलस्पृशाम् ॥१३॥

स एव नाकी निजकर्मवेषा-वेशान्मनुष्यत्वमवाप तत्र ।
पुरेऽथ शैलूष इव प्रगल्भो, रङ्गाङ्गणे राघवतामनिन्द्याम् ॥१४॥

तत्राऽप्यसौ भूपतिपौरलोक-नेत्रोत्सवोत्सर्पणपूर्णचन्द्रः ।
बभूव सम्यग्जिनधर्मवित्तो, नाम्नाऽपि वित्तो जिनधर्म एव ॥१५॥

सकण्टकं पद्मवनं विहाय, श्रिताम्बुधिं सोऽपि निदानभोगः ।
तद्दोषहीनं जिनधर्महर्म्यं, लब्ध्वा तु रेमे मुदितेव लक्ष्मीः ॥१६॥

सदक्षिणोऽप्यक्षतवामता[1]-निधिः, क्रमावदातोऽपि सुलोहितक्रमः ।
पद्मायताक्षोऽपि सुसूक्ष्मलोचन-श्चकार चित्रं नगराधिवासिनाम् ॥१७॥

मार्गानुसारित्वत एव ताव-न्निसर्गत शुद्धगुणप्रियोऽसौ ।
न वह्निरूर्ध्वज्वलने सहायं, समीहते हीन्धनवृद्धहेतिः ॥१८॥

तस्य क्रमेणाऽथ सुसाधुसङ्गात्, स एव भावः सुतरां दिदीपे ।
चन्द्रोदयान्नीरनिधेरिवोद्यत् - कल्लोलमालाकुलितत्वमाशु ॥१९॥

---

१ रमणीयता ।

सम्यक्त्वगारुत्मतरत्नमादौ, समाददे सौगुरुपादमूले ।
तीव्रप्ररोहद्भवकालकूट-च्छटासमुच्चाटनपाटवश्रित् ॥२०॥

तन्मार्गगामी प्रशमादिधर्म-वर्गस्तदाऽजायत तस्य निघ्नः ।
वक्षःप्रतिष्ठे नहि कौस्तुभे स्युस्तत्कान्तयः कंसरिपोरवश्याः ॥२१॥

समूलकाषं न्यकषत् सुदृष्टया, सोऽन्तस्तमस्काण्डमयीं कुदृष्टिम् ।
वैधुन्तुदीं कण्ठतटीं कठोरा-मिवाऽसुरारिः शितचक्रवीथ्या ॥२२॥

ततोऽत्यजच्छ्राद्धविधानहोम-पिण्डप्रदानापरदेवनामान् ।
तीर्थान्तरीयप्रणतिप्रशंसा-विश्राणनान्यप्युपरोधवर्जम् ॥२३॥

महानवम्यादिषु देवतार्चा, संक्रान्तिसूर्याद्युपरागपूजाः ।
तीर्थान्तरे स्नानतपःप्रदानो-पयाचितानि त्रिविधं त्रिधैव ॥२४॥

इत्यादि मिथ्यात्वपदं हि लोके, यच्चाऽऽगमेप्युक्तमशुद्धिधाम ।
लोकोत्तरं तीर्थपबिम्बसाधु-रूपं जिनाज्ञाविमुखप्रवृत्ति ॥२५॥
त्रिभिर्विशेषकम् ।

अर्च्योपनर्च्यत्वमिहाश्नुवीत — मिथ्यादृशामुत्पथगामुकानाम् ।
अभोग्यतां चन्दनशाखिराजि-र्भुजङ्गमानामिव सङ्गमेन ॥२६॥

विलुप्तसंशुद्धचरित्रभूषः, क्व दृश्यतां यातु यतीश्वरोऽपि ।
हितैषिणां श्वित्रलवित्रलून-देहद्युतिः श्वित्रिजनो धनीव ॥२७॥

यदागमे सुन्दरमप्यसुन्दरा-नुषङ्गतोऽसुन्दरतां व्रजेदिति ।
सच्चम्पकस्रक्शकुनिप्रवेदक-द्विजादिदृष्टान्तशतैः प्रसाधितम् ॥२८॥

तत्सर्वथाऽनायतनं विहाय, श्रेयोमना आयतनं स भेजे ।
निषेवते को हि सुधां न विज्ञो, विषस्य हानादिह जीवितार्थी ॥२९॥

श्राद्धस्ततो दर्शनरत्नभागप्यधत्त स द्वादशसद्व्रतानि ।
न ह्योक्षिताक्षाममृगेक्षणोऽपि, स्यान्निष्क्रियस्तद्व्रतसौख्यपात्रम् ॥३०॥

विशुद्धसिद्धान्तरहस्यबोधे, पाखण्डिनो जाड्यजुषः समस्तान् ।
तत्याज कालुष्यनिधीन् विरागात्, सरांसि वर्षास्विव राजहंसः ॥३१॥

स स्वातिवारीव रसद्घनौघः, पात्रे निचिक्षेप धनं विशुद्धम् ।
न कान्तमुक्ताफलकान्तिमुक्ति-श्रिये यदन्यत्र भवेन्न चान्यत् ॥३२॥

मुक्त्यङ्गसद्दर्शनशुद्धिहेतो-रसूत्रयत्तीर्थपमन्दिरं सः ।
नानिर्मलो यन्मुकुरोऽपि धत्ते, वधूमुखाब्जप्रतिमानकेलिम् ॥३३॥

भास्वद्रुचिस्फाटिकमुन्नताग्रं, विजित्य यच्छृङ्गवरं हिमाद्रेः ।
रेजे समारोढुमिवोद्यतं द्यां, कर्त्तुर्यशो मूर्त्तमिव प्रवृद्धम् ॥३४॥

दानाम्बुससिक्तकपोलभित्तौ, सजीवलक्ष्ये गजपीठबन्धे ।
यत्रातिमुग्धा मधुपानलुब्धा, बभ्राम शश्वन्मधुपाङ्गनाली ॥३५॥

यत्राश्वपीठेऽपि बभुः प्रनृत्ता, गारुत्मताऽश्वागतिपञ्चकेन ।
उद्वेजिताः सन्ततमेकगत्या, दिवोऽवतीर्णा इव भानवीयाः ॥३६॥

नृपीठमुत्तप्तहिरण्यदीप्रं, स्त्रीपुंसयुग्माश्रितकल्पवृक्षम् ।
अदर्शयद् यत्र कुरुव्यवस्थां, साक्षादिवादृष्टचरीं जनानाम् ॥३७॥

काश्चित्समुन्मीलदनङ्गरङ्गा, रेजुः स्तनाफालकृदङ्गभङ्गाः ।
मूर्त्ता इव स्वःसुदृशोऽवतीर्णाः, पाञ्चालिका यत्र विलासनृत्ताः ॥३८॥

अन्यास्तु निर्द्धौतशरासिकुन्त-व्यग्रोल्ललत्पाणियुगाः समन्तात् ।
नूनं विराजन्जिनबिम्बरत्न - महानिधिप्रस्तुतनित्यरक्षाः ॥३९॥

नानामणीभङ्गिसुवर्णभूमि - प्रभाबलक्षालननित्यकान्तम् ।
यन्न व्यपैक्षिष्ट वधूजनस्य, प्रयत्नमात्मप्रतिमण्डनाय ॥४०॥

यस्याग्रतः सूर्यशिलावबद्ध - भूमौ सहस्रांशुकरावपाते ।
निर्धूमधूमध्वजमङ्गलानि, प्रैक्षिष्ट सद्दृष्टिजनः सदापि ॥४१॥

रजोऽनुषङ्गादिव वित्रसन्ती दूरं दिवः प्राङ्गणमारुरोह ।
स्वःसन्निधानं दिशताऽऽश्रिताना - मारोहणश्रेणिरलं यदीया ॥४२॥

यत्रेन्दुकान्तामलजैनबिम्ब - द्युरत्नरोचिष्णुनिगर्भगेहे ।
अलक्ष्यसूर्यास्तमयोदये च, स्यान्मङ्गलायैव हि दीपदानम् ॥४३॥

यत्सिंहकस्थानसमीपगामी, बिभ्यन्मृगांदोलितबिम्बदुस्थः ।
निजं मृगाङ्कत्वमलं निनिंद, प्रतिक्षपं क्षिप्तकरा मृगाङ्कः ॥४४॥

यद्विश्वकर्माऽतुलशिल्पतल्पं, दृग्दोषमोषाय शिरस्युदग्रे ।
वैडूर्यवर्यामलसारकाक - व्याजेन नोलीतिलकं बभार ॥४५॥

यस्योर्द्ध्वमप्युज्ज्वलपद्मरागा - धारस्थचामीकरचारुकुम्भः ।
मुकुन्दनाभीरुहशोणपद्मो - पविष्टवेधःश्रियमाचकर्ष ॥४६॥

प्रांशुं दधत्काञ्चनकेतुदण्डं, यच्चोन्ननामेव कराङ्गुलिं स्वाम् ।
जगत्त्रयेऽप्येकमहं मनोज्ञ-मिति ध्वनत् सध्वनिकिङ्किणीभिः ॥४७॥

सितापताकापवनोद्धुतत्वाद्, द्राघीयसी चोर्द्ध्वमुखोच्छलन्ती ।
यस्योपरिष्टाद्दिवमारुरुक्षुः, कर्तुर्बभौ मूर्त्तिमतीव कीर्त्तिः ॥४८॥

यत्पश्यतां नाकनिवासिनाम - प्यभूद्विमानेषु निजेषु मन्दः ।
सौन्दर्यदर्पो नमयत्यनम्रा - नपि प्रतापो हि जगत्प्रतीतः ॥४९॥

सिद्धान्तसंसिद्धविधानपूर्व - माचार्यहस्ताकलितप्रतिष्ठम् ।
तथा सपूर्णं निरमापयत् तद्, यथाऽभवत् सिद्धिपथो जनानाम् ॥५०॥

धर्मक्रियाकोविदकीर्त्तनीय - कल्याणमालाकमलाप्रदाऽपि ।
विधीयमाना विधिना विहीना, न भूपसेवेव फलावहा स्यात् ॥५१॥

तत्र त्रिसन्ध्यं महनं मुमुक्षुश्चक्रे स सर्वाक्रमदूरवृत्तिः ।
न ह्यीष्टभाक् स्यान्निधिमीहमानः, प्रतीपचारी तदुपायजाते ॥५२॥

गार्हस्थ्यसंसाधकमर्थजात - मनिन्द्यवृत्त्या समुपार्जयत् सः ।
न दैन्यमालम्ब्य कदापि सिंहः, प्रकल्पयेत् स्वस्य शरीरयात्राम् ॥५३॥

षट्खण्डपृथ्वीतलराज्यलक्ष्मीं, प्रेप्सुर्ध्रुवं सातिशयप्रयत्नः ।
आसीत् षडावश्यक उग्रभावात्, तथा यथाऽन्यत्र न कुत्रचित् सः ॥५४॥

श्राद्धोचितं कर्म विवेकसागरः, शस्तं समस्तं सततं चकार सः ।
न ताम्रपर्णीजलशुक्तिसम्भवं, केनाऽपि हीयेत गुणेन मौक्तिकम् ॥५५॥

इतश्च सुस्निग्धकलत्रनेत्र - ध्याता चिरं तद्वियुतः स्मरार्त्तः ।
पद क्रुशत्वस्य स नागदत्तः, श्रियं दधौ भृङ्गिरिटेः समग्राम् ॥५६॥

तिर्यग्गतिः पद्मदलायताक्षी, नेदृक् तनुं मां स्पृहयिष्यतीति ।
जीर्णं स तूर्णं ध्रुवमङ्गमुज्झाञ्चकार नेपथ्यमिवाढ्यकामी ॥५७॥

आमुच्य चार्त्तं हृदि लम्बहारं, ध्यानं पुरस्कृत्य च स प्रदोपम् ।
तिर्यग्गतिं पत्रलताभिरामां, निर्विप्रलम्भं समुपालिलिङ्ग ॥५८॥

मुहुर्मुहुस्तामभजद् गति स, क्षीबो भुव वा स्वकृतानुरूप्यात् ।
तत्राप्यनाहार्यदुरन्ततीव्र - व्यथासहस्राण्यसकृच्च लेभे ॥५९॥

ततः समुद्धृत्य कथञ्चिदेष, मानुष्यकं प्रापदघौघयोनिम् ।
यज्ञोच्छलद्धूमपिधीयमान-प्रभाकरे सिंहपुरे प्रसिद्धे ॥६०॥

वेदध्वनिध्वानितदिङ्मुखेऽपि, गीतं कलं वारविलासिनीनाम् ।
उषस्सु केली मृगशावकानां, जहार चेतांसि सदापि यत्र ॥६१॥

व्योमेव यच्चित्रशिखण्डिमण्डलं, पाखण्डिनां वृन्दममण्डयन् मुदा ।
वेदोक्तसम्पूर्णविधानसाधन - प्रवृत्तिपात्रत्वचिकीर्षया ध्रुवम् ॥६२॥

स नागदत्ताभिधसार्थवाह - स्तिर्यग्गतेर्दुष्कृतकर्मशेषात् ।
तत्राऽग्निशर्मेत्यभवद् द्विजन्मा, जन्मान्तरीयात् कुकृतात् कुरूपः ॥६३॥

निस्वाग्रणीर्लुप्तसमग्रपक्षः, पक्षीव नाना-परिभूतिपात्रम् ।
अत्युच्छ्रितक्रोधधनेन किन्तु, स तत्र शेषान् धनिनोऽत्यशेत ॥६४॥

पाखण्डिनं कञ्चन शिश्रिये स, स्वयं च धर्मश्रवणाय तत्र ।
द्विको हि निम्बेन बुभुक्षुरेतत्, संवर्ग्यते केन विगीतकर्मा ॥६५॥

श्रुतत्रिदण्डिव्रतसंविधान - स्तदेव जग्राह स तत्त्ववृत्त्या ।
मणीयते काचमपि प्रकाम - मुग्धस्य दृष्टौ वितितार्थसृष्टौ ॥६६॥

मासद्वयादिक्षपणान्यकार्षीत्, तपांसि तीव्राणि स बालबुद्धिः ।
संरोहणानीव सशल्यगात्रः, फलेन रिक्तानि विदुष्टचेताः ॥६७॥

भ्राम्यन् महीं संसृतिवत् स मूढः, समाययौ रत्नपुर कदाचित् ।
तदेव यच्छ्रीजिनधर्मसंज्ञः, श्राद्धाधिवासेन सदा पवित्रम् ॥६८॥

तत्र त्रिदण्डिष्वनुरागशालो, नन्दीव शम्भुक्रमपङ्कजेषु ।
तेजस्विमुख्योऽपि सुसौम्यमूर्त्ति - र्बभूव भूपो हरिवाहणाख्यः ॥६९॥

श्रुत्वाऽग्निशर्मव्रतिनस्तपस्यां, देहानपेक्षां बहुशो जनेभ्यः ।
तस्यावलोके नृपतिः सतृष्णो, बभूव दीपस्य यथा पतङ्गः ॥७०॥

निमन्त्रयामास नृपस्त्रिदण्डिनं, स प्राज्यभोज्यैः स्वगृहेऽतिभक्तितः ।
वकोटवत्तं कुटिलाशयं दिने, द्विमासपर्यन्तभवे तपस्विनम् ॥७१॥

अन्तर्बहिश्चैष दधत् त्रिदण्डं, कषायवन्मानसमंशुकं च ।
शिखामिषादुच्छ्रितपापचूला - मथाऽऽजगाम क्षितिपस्य सौधम् ॥७२॥
भक्त्या नृपोऽप्यादिशदातिथेय-क्रियाविधौ सन्निहितं जनं स्वम् ।
तस्येश्वरस्येव नगाधिराजो, विराजमानः पुलकोत्करेण ॥७३॥
श्राद्धोऽपि दैवाज्जिनधर्म आयाच्चकोरवद्द्रष्टुममु नृचन्द्रम् ।
तत्र स्फुरद्वामविलोचनाब्ज - ससूचितामङ्गलभङ्गिसङ्गः ॥७४॥
विधुन्तुदस्येव सुधामरीचा - वोतोरिवोन्मादभृतो मयूरे ।
श्येनस्य वा क्रूरतरा कपोते, त्रिदण्डिनस्तत्र पपात दृष्टिः ॥७५॥
जन्मांतरीयानुशयानुवेधात्, सद्योऽथ सा पाटलतां प्रपेदे ।
न शत्रुमित्रत्वगतौ हि लोके, विहाय चक्षुश्चतुर परं स्यात् ॥७६॥
तथा विनिःस्पन्दतनुर्निदध्यौ, तं धार्मिक धर्मद्वरिद्रचेताः ।
किं देवभूयं समुपागतोऽय-मिति प्रतीये स यथान्तिकस्थैः ॥७७॥
ततस्त्रिदण्डो दृढपापचण्डः, समापतिष्यद् भवपातदण्डः ।
उद्दिश्य तं श्राद्धवरं बभाषे, पृथ्वीपतिं कोपकदर्थ्यमानः ॥७८॥
मामस्य पृष्ठे यदि पायसान्नं, तं भोजयस्युष्णमनुष्णचेताः ।
तत्पारणां ते सदने करोमि, चिराय सम्पूर्णसमग्रकामः ॥७९॥
दम्भोलिपातानुकृतिं प्रपेदे, वाक्यं नृपश्रोत्रपथे तदीयम् ।
मनःकुटीरे तु सभासदानां, ज्वालाजटालानलसोदरत्वम् ॥८०॥
ततः स भूपः सविषादमूचे, क्षमिन् ! क्षमं कि तव वक्तुमीदृक् ।
नाङ्गारवृष्टिं विदधाति कान्तं, कदापि यच्छीतमयूखबिम्बम् ॥८१।
यतोऽतिमुग्धोऽप्यनुवर्तते विभुं, राज्ञोऽनुवृत्तौ तु जनस्य का कथा ।
द्वयं त्वतिक्रान्तमिदं त्वया महा - सरित्प्रवाहेण तटोभयं यथा ॥८२॥
तदादिशाश्वन्यनरोपयोगं, स्वभोजनायात्र[1] धृतौ प्रसह्य ।
अयं तु लोके जिनधर्मरूपो, कल्पद्रुमः कल्पितकल्पनेन ॥८३॥
प्रत्याहृतं सानुशयस्त्रिदण्डो, का तस्य भक्तिर्ननु येन नाऽऽत्मा ।
सर्वप्रकारेण गुरौ नियुक्तः, कार्यं ह्यभक्तेरनियोजनं यत् ॥८४॥

१. पुस्तके तु 'स्वभोजनामत्र' इति पाठः ।

यथोपदेशं न गुरूनमंस्त यः, किं तस्य जीवेन नृपश्रियाऽथवा ।
तथा हि रामः प्रविहाय सम्पदं, पित्राऽऽज्ञया संश्रयति स्म दण्डकाम् ॥८५॥

प्रत्याहुरस्तङ्गतहृत्प्रमोदाः, सभ्या असभ्याधिकभाषिणं तम् ।
तपोनिधे नास्य मनः कदर्यं, स्वप्राणदानेऽपि धराधिपस्य ॥८६॥

गुरावभक्तिर्न च सर्वथाऽपि, सुरेश्वरस्येव समिद्धधाम्नः ।
किन्त्वासमञ्जस्यभिया जयन्त, इवान्तमस्मिन्न समैहताऽयम् ॥८७॥

चूडामणिः किं चरणे निबध्यते, निजाङ्गनागोमयसंवरेऽथवा ।
वश्यापि राज्ञा न हि जातु कोविदा, मुद्राभिदः स्युः प्रभवोऽपि कुत्रचित् ।८८।

त्वमेव तावत्परिचिन्तयेदं, किं पद्मकोषे विनिवेश्यतेऽग्निः ।
विशस्यते कामदुघा दुहाना, गृहागता कामशतानि किं वा ॥८९॥

तन्त्रेषु देवायतनेष्विवैका, शस्या पताकेव क्षपैव कामम् ।
सा पातिता स्याद्ध्रुवतैव कोप - प्रचण्डवाताज्जिनधर्मघाते ॥९०॥

इत्युक्तो बहुधा धराधिपतिना सभ्यैश्च पापोऽधमो,
दुष्टान्तःकरणात्तथाप्यकरुणो नाऽसौ व्यरंसीत्ततः ।
स्वादोयोमधुदुग्धपानविधिभिः स्वाराधितोप्यादरा-
दादत्ते शममुग्रघोरगरलः क्रोधोद्धतः किं फणी ॥९१॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते पाखण्डिप्रतिभाषणो
नाम चतुर्थः सर्गः । छ. । ४ ।

पञ्चमः सर्गः

उत्सर्गतः केऽप्यपवादतः केऽप्यर्थाः कथञ्चिद् गदिताः सुशास्त्रे ।
न राजसूयादिकमप्यवद्यं, तत्राभ्यधायीत्यवदत् त्रिदण्डी ॥१॥

राजाऽपि रज्यन् जिनधर्ममूर्त्तौ, शास्त्र-व्यवस्थां महतीं च शृण्वन् ।
प्रोवाच किं तन्त्रमतन्त्रसाम्यं, प्रापि त्वया वाणिजकस्य हेतोः ॥२॥

तत्सर्वथा शास्त्रजनाविरुद्ध - माज्ञापय ज्ञानतपोनिधान ! ।
शत्रौ च मित्रे च समा हि सन्तः, सूर्यांशवो वारिणि तेजसीव ॥३॥

नृपादिवाक्यैः किरणैरिवेन्दोः, सिक्तोऽपि नोज्झत् प्रकृतिं यथाऽग्निः ।
स तापसो नैव हि सामपात्रं, भवन्ति वालेयसमा[1] अभव्याः ॥४॥

प्रत्यावभाषे च धराधिनाथं, निस्त्रिंशचेताः स पुनस्त्रिदण्डी ।
पलालकल्पेन किमत्र भूयो - ऽभिभाषितेनेदमवेहि तत्त्वम् ॥५॥

यद्यस्य पृष्ठेन नराधमस्य, त्वं प्राशयस्यद्य तपोधनं माम् ।
आजन्म किञ्चिन्न तदाशितव्यं, चित्रार्पितेनेव मयेति सर्गः[2] ॥६॥

निशम्य रौद्रीमिति तत्प्रतिज्ञां, हृदि क्षतो मित्रसुवत्सलोऽपि ।
स पार्थिवः कान्तिमुपाददे द्राक्, सम्पूर्णचन्द्रस्य तमोवृतस्य ॥७॥

घातो मुनेस्तावदिहैकतोऽय-मितोऽप्यपायः पुरमण्डनस्य ।
सेयं वरत्रा ह्युभयत्र पाशा, धात्रोपनीता सममेति दध्यौ ॥८॥

समुद्यमे धर्मकृतेऽकृतेऽस्मिन्नधर्म आयात् कथमेष भूयान् ।
अहो ! सुधायै मथिते पयोधा-वुदैतमेतत् किल कालकूटम् ॥९॥

यद्येन लभ्यं लभते तदेव, स माननीयोऽपि किमत्र दैन्यैः ।
विलोडितेऽप्यम्बुनिधौ सुरत्ने, पराप हालाहलमेव शम्भुः ॥१०॥

मन्दा हि मे भाग्यपरम्परेति, समर्पयत्येव यथा तथाऽधम् ।
तच्छ्राद्धघातेऽपि मुनेर्विघातो, माऽभून् महांहा इति तं प्रपेदे ॥११॥

---

१. रासभः । २. निश्चयः ।

ततो हिमानीहतपङ्कजास्यच्छाया निरीयुः सदसः सभार्हाः ।
महेन्द्रमृत्युव्यथिता अमर्त्या, यथा सुधर्माङ्गणतः सशोकाः ॥१२॥

निदेशतः श्राद्धवरोऽपि राज्ञः, संज्ञानतो दैन्यविमुक्तचेताः ।
अङ्गीचकाराऽपि निजाङ्गभङ्ग, विपद्यनुद्वेगधना हि धीराः ॥१३॥

क्वायं क्व चाहं क्व च भूभृदाज्ञा, तत्सर्वथा भाग्यविपर्ययो मे ।
रामाब्धिसेतूदयवानरेन्द्र-योगो यथा पुण्यजनेश्वरस्य ॥१४॥

स चिन्तयन्नित्यतिनिश्चलाङ्गो, धरातलन्यस्तसदक्षिवक्षाः ।
पुरोऽवतस्थे व्रतिनोऽस्य दृष्ट्या, दिशन्नधोयानमिवाशु तस्मै ॥१५॥

संप्रेक्ष्य तं तादृशसन्निवेशं, राजा स्थितिं स्वस्य तनोर्निनिन्द ।
पाखण्डिपाशस्त्वधिकं ननन्द, प्रिया हि गृध्रस्य परेतभूमिः ॥१६॥

यदा स धाम्नो जिनधर्मभानो-रीदृग्दशा दैववशात् समागात् ।
खद्योतविद्योतिषु शेषजन्तुष्वारीवकासंततभासनायाम्(?) ॥१७॥

पृष्ठे ज्वलत्पायसपूर्णपात्रो-ऽप्यसौ सुधर्मा विजहौ न धैर्यम् ।
मेरुर्न सर्गान्तनिरर्गलोद्यद्वाताभिघातेऽपि सवेपथुः स्यात् ॥१८॥

सन्तप्तपात्रं बहिरस्य गात्र-मन्तःशुभध्यानमुवोष रोषम् ।
वियोगिनश्चन्दनविप्रयोगा-विव द्वयं सन्ततमक्रमेण ॥१९॥

ध्रुवं मयैवैष विराद्धपूर्वो, दुःशासनेनेव समीरसूनुः ।
शेषानशेषानपहाय दूरा-दद्रुद्रुवन् मां कथमन्यथाऽनु ॥२०॥

न चान्यदोषेण ममैष दाहो, यदन्यथावृत्ति न जातु कर्म ।
बृहस्पतिं न ग्रसते कदाचिद्विधुन्तुदश्चन्द्रमसा विराद्धः ॥ २१ ॥

ददाति दुष्कर्मफलं पुराऽपि, तत्सम्यगेतर्हि न सह्यते किम् ।
न शल्यमन्तःकुथितं विनाऽऽप, मृत्युं हि विश्राम्यति कालपाके ॥२२॥

अत्यल्पमेतन्मदनातुराणा - मस्मादृशामुज्ज्वलदोषभाजाम् ।
विराद्धदर्वीकरतः[1] किलाऽऽखो-र्लूमा[2]-ऽवलोपात् कुशलं कियद्वा ॥२३॥

---

१. सर्पात् । २ पुच्छः ।

न संयमं येऽभ्युपयन्ति तेषा-मीदृग् भविष्यत्यसकृद्विपत्तिः ।
किं दुर्विनीतास्तुरगाः सकृत्स्युः, कशाप्रहारप्रचयस्य पात्रम् ॥२४॥

इत्यादिसद्ध्यानपरो विषेहे, सतां व्यथामव्यथितान्तरात्मा ।
यावत् कुलिङ्गी निजगाल सर्वं, तदन्नसंज्ञान्तरितं कुकर्म ॥२५॥

उपायनं प्रेषितमात्मरुच्यं, तूर्णं समेष्यत् कुगतिश्रियेति ।
तत्त्वग्विदाहाशुभगन्धमिद्धं, रागात् कुलिङ्गी ध्रुवमभ्यनन्दत् ॥२६॥

तथा स लिङ्गीकृतपारणाविधिः, स्वं नाकनाथादपि वल्लमन्यत ।
को वा भवेन्नाविकृतोपभाजनं, महामनोराज्यसमृद्धिसिद्धितः ॥२७॥

अमङ्गले मूर्त्तिमतीव मन्दिरा-न्नृपस्य चेतोऽसुखसन्तताविव ।
अनर्थशाणाश्मनि लिङ्गजीविनि, क्रान्ते निजाचारमलीमसं वनम् ॥२८॥

उत्पाटयामास ससम्भ्रमं जनै-र्यावन् महीशः करुणार्द्रमानसः ।
स्थालं तदीयान्मृदुपृष्ठदेशतः, कुलिङ्गिसङ्गादिव शौचवर्जितम् ॥२९॥

त्वङ्मांसरक्तोल्वणनाडिभेदैस्तावत् समं तत् करगर्भमागात् ।
आकृष्यमाणं हि दिगङ्गनाभि-र्नदित्यनुस्नं विषमारवबिम्बम् ॥३०॥

त्रिभिर्विशेषकम् ॥

अथाऽवनम्य क्षितिपालमौलिं, सलज्ज-सप्रेमदृशा च तेन ।
अन्तःपरिस्तम्भितभाषितेन, निरीक्ष्यमाणो निरगात्ततोऽसौ ॥३१॥

चक्षुःसुधावृष्टिमपि प्रकामं, तं तादृशं वीक्ष्य शुशोच लोकः ।
विधुन्तुदात्यन्तकदर्थितश्रिं, सौधाकरं बिम्बमिव प्रसन्नम् ॥३२॥

न तस्य तादृग्व्यसने प्रमोदः, कस्याप्यभूत् तत्र पुरेऽखिलेऽपि ।
कल्पद्रुमस्कन्धकुठारपातः, किं कस्यचित्तोषविशेषकृत् स्यात् ॥३३॥

बाष्पप्लुतस्निग्धविलोचनाम्बुजैश्चकार पोतैरिव बान्धवैरसौ ।
संवीक्ष्यमाणः क्षणतो निजान् गृहानायाद्विशुद्धो जिनधर्मचन्द्रमाः ॥३४॥

समाललाप स्वयमेव बन्धून्, स सूनृताभाषणकोविदः स्वान् ।
कर्णामृतस्यन्दिवचःप्रदानं, पुंस्कोकिलं शिक्षयतीह को वा ॥३५॥

भूपप्रसादा विपुलाः श्रियो वा, त्राणं न दैवस्य विपर्यये स्युः ।
आलम्बनं नैव कराः सहस्रं, सहस्रभानोः पततः प्रदोषे ॥३६॥

शरीरमप्येतदसारमुख्यं, विख्यातमेवाशुचिजालमूलम् ।
आपातमात्रे च मनोहरं सद्दधाति लीलां विकचाम्बुजस्य ॥३७॥

विशेषतश्चाद्य मदीयमङ्गं, निवृत्तनैसर्गिकसर्ग[1]-रूपम् ।
विहाय कान्तास्पृहणीयभावं, वृकद्विकप्रीतिकरं बभूव ॥३८॥

तदस्य लाभः परिगत्वरस्य, पोतस्य सिन्धाविव पातुकस्य ।
युक्तः समादातुममूढबुद्धि-र्विपद्यपि स्याद्धि विवेकिलोकः ॥३९॥

तद्बान्धवा अस्मदनुग्रहोद्यता, ददध्वमत्रानुमतिं ममाधुना ।
आमुष्मिकं कार्यमलंचिकीर्षतः, शिशोरिवैकान्तनिजार्थचेतसः ॥४०॥

अभ्यर्थिता एवमशेषबान्धवाः, सप्रश्रयाः प्राहुरमुं विवेकिनः ।
गतिः खरांशोरिव शुद्धमार्गतो, मतिर्विपर्येति किमेकदाऽपि ते ॥४१॥

प्रसादवत् सत्यहितं मनोहरं, कस्त्वामृते वक्तुमपीदृशं क्षमः ।
विना विधुं को हि नभोविभूषण-क्रियाविनिर्माणकलाविचक्षणः ॥४२॥

कार्यं यदामुष्मिकमीहितं ते, तत्सर्वसाधारणमेव किन्तु ।
वयं न हि त्वादृशसत्वभाजो, मृगाः कथं सिंहपराक्रमाः स्युः ॥४३॥

स नूनमुर्व्यां सुकृती कृती त्वं, नेदृग्दशादायिनि यस्य कोपः ।
किमग्निरिद्धेन्धनसन्ततिः क्वाऽप्यास्ते ह्यनुद्दीपित एव वाते ॥४४॥

गेहं च देहं च समं तृणेना-ऽऽकलय्य तित्यक्षुरुदारमौलिः ।
वित्तादिविश्राणनमात्रवित्तान्, कर्णादिवीरान् जयसि त्वमेव ॥४५॥

ततो वयं चेन्न विधातुमीश्वरा, धर्म्यां क्रियां सात्विकसाधनोचिताम् ।
तवाऽपि कुर्मोऽत्र किमन्तरायकं, प्रवर्त्तमानस्य परेपरा[2] इव ॥४६॥

तदस्तु ते वाञ्छितकार्यसिद्धि - रव्याहतश्चोजिनधर्मधर्मिन् ।
अस्माकमप्यादिश कृत्यजातं, परोपकारप्रवणा हि सन्तः ॥४७॥

प्रत्याबभाषे जिनधर्म एतान्, वस्त्राशनालङ्कृतिदानपूर्वम् ।
कुर्वन्ति किं कृत्यविदः कदाचिदौचित्यभङ्गं व्यसनेऽपि धीराः ॥४८॥

---

१. उत्पाद । २. आस्रवः ।

पुत्रः स तत्त्वेन त एव सोदरा, जायाऽपि साऽन्येऽपि त एव बान्धवाः ।
ये मां विनाप्यार्हतमार्ग उज्ज्वले, चिरं भविष्यन्ति निलीनमानसाः ॥४९॥

युष्मासु केनाऽपि समं मयाऽपि, प्रमादतः प्रान्तजनायितं यत् ।
तन्मर्षणीयं न हि जातु भव्या, द्विष्टेऽपि विद्वेषयुजो भवन्ति ॥५०॥

भूपालमापृच्छ्य समर्च्य चार्चा, यथाविधिश्रीविधिचैत्यसंस्थाः ।
सुसंघमादृत्य विशेषमानैः, समर्थ्य चार्थिप्रणयप्रबन्धान् ॥५१॥

सत्त्वैकनिष्ठः क्रमबद्धकक्षः, प्रौढोपसर्गद्विरदावमानी ।
गुहान्तरात् सिंह इव स्वगेहात्, स निर्ययौ सन्निहितार्थसिद्धिः ॥५२॥
युग्मम् ।

क्रमेण चाभ्युन्नतवंशमाप, प्राप्तप्रतिष्ठं नृपवत् पृथिव्याम् ।
आकाशवल्लुब्धकसिंहघोरं, पातालवद्व्यालकुलाकुलं च ॥५३॥

समस्तसत्वानिव यौगपद्या, दत्तुं सदा व्यात्तदरीशतास्यम् ।
दिनेऽपि नीलद्रुमदीर्घपंक्ति - र्व्याजादनिर्मुक्तमहान्धकारम् ॥५४॥

गृध्रद्विकादिध्वननाट्टहासै - रुत्त्रासयन्तं ध्रुवमाशु पान्थान् ।
नदच्छिवास्याग्निशिखावलीढं, शङ्के सदावं निशि दृश्यमानम् ॥५५॥

कलिञ्जरं नाम महानगेन्द्रं, समारुरोहाऽथ निधिः स धाम्नाम् ।
प्रातर्विवस्वानिव रक्तमूर्त्तिः, पूर्वाचलं भासितशुद्धमार्गः ॥५६॥
चक्कलकं चतुर्भिः ।

अष्टादशप्राणिवधादिपाप - स्थानेभ्य आत्मानमभिग्रहेण ।
न्यवर्त्तयत् सत्वरमाभव स, त्रिधा त्रिधा प्रौढमुनीन्द्रनीत्या ॥५७॥

गतीश्चतस्रोऽपि निरोद्धुमेक - वारं वरो नूनमनूनभाग्यैः ।
प्रत्याचचक्षे च विचक्षणोऽसौ, चतुर्विधं भोजनमप्यतृष्णः ॥५८॥

स्थैर्यं बहिर्व्यञ्जयति स्म लोके, देहोपमानेन हृदः स मन्ये ।
भुक्त्युज्झितस्तम्भसुरूपदेह - स्थितिक्रियारूपदशापदेशात् ॥५९॥

ऊर्ध्वाङ्गयष्टिर्जिनमुद्रयाऽस्थात्, स तत्र निस्पन्दतरप्रतीकः ।
उच्चैः पदं तूर्णमिवारुरुक्षु - र्निष्प्रग्रह[1]-स्तार्क्ष्य इव ध्वजाग्रम् ॥६०॥

---

१. निष्प्रतिबन्धः ।

नासानिविष्टस्तिमिताक्षिपङ्कजो, ध्यायन् परं ब्रह्म समाधिसङ्गतेः ।
तथाऽवतस्थे प्रतिमागतो यथा, व्यभाव्यताश्मप्रतिमेत्यसौ जनैः ॥६१॥

घोरे घनव्यालकुले गिरीन्द्रे, सहस्रशोऽहर्निशमापतन्तः ।
तत् क्षुद्रसत्वा इव तस्य लोके, केनोपसर्गाः शकिताः प्रमातुम् ॥६२॥

गृध्रैः पलाशैरिव मांसगृद्धैः शिवाभिरुद्दीपितवाशिताभिः ।
विदार्यमाणोऽपि स पृष्ठदेशे, चचाल नैवाचलराजधैर्यः ॥६३॥

महाऽहिना कण्ठविलम्बिनाऽसावुमापते रूपमधश्चकार ।
विषेण नीलाङ्गरुचिः प्रकामं, श्रियं च तद्दंशशतैर्मुरारेः ॥६४॥

अलम्भयत् काकवृकौघमेष, स्वास्थ्यं सरक्तैस्तनुमांसपिण्डैः ।
किं चन्दनः स्वाङ्गपरिव्ययेन, प्रमोददायी न भवेज्जनस्य ॥६५॥

गृध्रादितो बाधनमादिनान्तं, शिवादितश्चामृगलाञ्छनास्तम् ।
नक्तं दिवं तूग्रभुजङ्गमादेः, क्षाम्यन् क्षणं तद्विकलः स नासीत् ॥६६॥

दुर्योधकर्मारिरणे प्रवृत्तः, सहायबुद्ध्या तदमंस्त सर्वम् ।
स धीरधुर्यो दशवक्त्रसङ्ख्ये, यथैव रामः कपिराजसैन्यम् ॥६७॥

पक्षं स तस्थाविति माघवत्यां, याम्यादिदिक्कुप्यति मात्रमेवम् ।
सर्वा दिशः सत्त्ववतां समाना, लाभेऽदिशन्नूनमिदं जनानाम् ॥६८॥

तं कञ्चन प्राप समाधिभेदं, स तत्र तत्त्वैकनिमग्नचेताः ।
येनाऽभवं सद्गतिपक्ष्मलाक्ष्याः, कटाक्षपात्रं भविता ध्रुव सः ॥६९॥

स्वशिल्पकोटीरुपसर्गनाम्ना, छन्नाः प्रदर्श्यैव चतुर्थगत्या ।
स नीरसस्तत्र विभाव्य नूनं, दूरं विरागान् मुमुचे सदाऽपि ॥७०॥

पञ्चातियत्नात् परमेष्ठिपादा-नाराधयन्त कुपिता इवाऽत्र ।
स्ववृत्तिरोधेन समानसङ्ख्याः, खाख्यारयो नूनमपीडयंस्तम् ॥७१॥

मासद्वयेनाऽथ विहाय देहं, गेहं गदानां सुभगं भविष्णुः ।
दिव्याङ्गनार्थीव समुत्पपात, नभः प्रति द्राक् जिनधर्मजीवः ॥७२॥

साम्राज्यमीदृग् न जगत्त्रयेऽपि, ध्रुवं विचिन्त्येति तदीयपुण्यैः ।
आराधितस्वामिसमैर्वितीर्णं, सौधर्मनाकाधिपतित्वमस्य ॥७३॥

यत्र द्युतिर्द्योतितदिग्विभागा, विभाकरोल्लासिविभासगोत्रा ।
गात्रस्य या सान्द्रतमाऽपि धत्ते, समीपगा मर्त्यगणस्य कान्तीः ॥७४॥

वसन्तपुष्पेषु मृगाङ्कपद्म-श्रियं गृहीत्वा ध्रुवमङ्गलक्ष्मीः ।
विनिर्ममे यत्र स यत्नधात्रा, यतः समस्तैतदनुत्तरा सा ॥७५॥

असङ्ख्यसंवत्सरकोटिरूप - द्विसागरोन्मानमहीनमायुः ।
यत्राऽभवं भूरिसुखावमग्नैः, प्रपूर्यते कालकलेव पूर्णम् ॥७६॥

सौख्योपभोगा अपि कामसिद्धा, अनन्यसाधारणहेतुजत्वम् ।
आख्यान्ति सद्वर्णभिदो हि केकि-पिच्छच्छटाया इव यत्र शश्वत् ॥७७॥

यस्मिन्नशीतिर्युसदां सहस्राः, सामानिकानामधिका सहस्रैः ।
चतुर्भिरेवाप्सरसोऽपि कान्ता, अष्टौ जिताऽष्टापदकान्तिका याः ॥७८॥

सामानिकेभ्योऽपि चतुर्गुणाः स्यु-र्यत्राङ्गरक्षाः शुचिलोकपालाः ।
सभाविमानव्रजशान्तिकर्म - प्रवेदिनस्तु प्रचुराः सुरुच्याः ॥७९॥

नान्यत्र नाकेऽपि समृद्धिरीदृग्, विमानपत्यप्सरसां शुचीनाम् ।
इतीव यत्राऽर्हतमज्जनेऽपि, मुख्याधिकारित्वमजायतोच्चैः ॥८०॥

विचित्रसद्रत्नकरम्बिताङ्का - लङ्कारकान्तिच्छुरिताङ्गयष्टिः ।
यस्मिन्कदाचिन्न महेन्द्रचापा - चितान्तरिक्षश्रियमुद्ववाम ॥८१॥

विमानमप्यच्छतरार्कभित्ति - गर्भामरालोप्रतिविम्बचित्रम् ।
नालेख्यकर्मप्रतिसाधनाभि - मुख्यं भजत्यद्भुतकान्ति यत्र ॥८२॥

आजन्म यत्रेन्द्रियसन्निधानं, भजन्त्यहृद्याः खलु नेन्द्रियार्थाः ।
समुत्कटप्रस्फुटगीतमुख्यै - रुत्त्रासिता नूनमरिप्रकाण्डैः ॥८३॥

न यत्र निद्रान्ति कदापि पुष्पाण्यस्वप्नसम्पर्कवशेन नूनम् ।
किं चम्पकाचञ्चलगन्धपात्रं, तत्सङ्गतः स्वादुतिला नहि स्युः ॥८४॥

यत्रानिमेषा अपि कामकेलौ, कान्ताकुचस्पर्शनिमीलिताक्ष्याः ।
मुहूर्त्तवद्वर्षशतं नयन्ति, निष्ठां प्रमोदामृतसिन्धुमग्नाः ॥८५॥

शैलेषु वापीषु विलासिनीषु, कदाचिदुद्यानलतागृहेषु ।
विलासिचेतोभिरिव प्रकामं, यत्र प्रसर्पद्रति दीव्यते च ॥८६॥

यस्याधिपत्यान्यखिलानि शेषाण्यधुः श्रिया दास्यविलासमेव ।
तदाप्य रेजे जिनधर्मसत्त्वः, कलाकलापं हि यथा कलावान् ॥८७॥

तस्यामरश्रेणिविनम्रमूर्ध्व - रत्नप्रभानित्यकरम्बिताग्रा ।
व्यक्ताऽपि भाभा रचिता न सम्यग्, व्यभाव्यतांह्रिद्वितया सभार्हैः ॥८८॥

न शासनं शस्त्रमिवास्य कश्चित्, तीव्रप्रतापं क्रमितुं शशाक ।
को वा हितार्थी कुपिताऽहितुण्डं, चण्ड परिस्प्रष्टुमिहाद्रियेत ॥८९॥

न्यरूपयन्नाटकमग्र्यरूपकं, दशाङ्कमेकान्तमनोहरं सताम् ।
डिमन्तु नैवैष शुभाऽशुभान्तरज्ञा एव हि स्युर्विबुधाधिनायकाः ॥९०॥

भवोद्भवानन्दविभुत्वसार - सर्वस्वलीलानिलयस्य तस्य ।
जग्मुः प्ररूढं जन्मान्तरीय - श्रेयःफलं स्वादयतः समौघाः ॥९१॥

त्रिजगतिरमणीया नैव सम्भोगभङ्ग्यः,
क्वचिदपि हि ततोऽपि प्राप यास्तत्र शक्रः ।
किमु किमपि महीयो द्रव्यमस्त्यम्बराद -
प्यमरगिरिपतेरप्युन्नतो वा गिरीन्द्रः ॥९२॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते शक्राभ्युदयवर्णनो
नाम पञ्चमः सर्गः । छ. । ५ ।

षष्ठः सर्गः

त्रिदण्डिनोऽप्येवमपुण्यदुग्रा - भियोगिकं कर्म महाभटाभम् ।
यथा तमाकृष्य हि नारकारेः, स्ववश्यतामानयदेतदाशु ॥१॥
ततः स तेनैव सुदुष्टकर्मणा, विडम्ब्यतश्चैत्र रतेन पापिना ।
इन्द्रस्य तस्य प्रथितोरुवाहन - द्विपत्वमासूत्रयतातिदुस्सहम् ॥२॥
अहो ! दुराचारमयं कुकर्म, त्रिदण्डिनः सत्वरमेव पक्वम् ।
यदारसन्दूरविलज्जमानः, स वाह्यते स्मात्र निरन्तरार्त्तिः ॥३॥
संस्मार्य संस्मार्य पुरा कृतानि, शत्रानुयातैरतितुन्द्यमानः ।
सोऽन्तस्ततापाफलमेव हस्ती, यथा चिरं सेचनको व्रतस्थे ॥४॥
विवेकशून्यैर्मुदितैः परेषु, वितीर्यते यद्व्यसनं फलेत् तत् ।
अन्तर्दहद्दुष्टविपाकमारात्, कुतोऽन्यथाऽमुष्य तथेभभावः ॥५॥
तत्रान्तरैर्दु:खशतैर्वितप्तः, स कायिकैर्नारकबाधजैत्रैः ।
अदृष्टशत्रुप्रकृतापमानान्, शशंस शश्वत् स हि दुर्गतिस्थान् ॥६॥
न तानि दुःखानि न तस्य यानि, स्वर्गेऽपि भाग्यात्ययनिर्मितानि ।
सदाऽभवन् वाक्पथदूरगाणि, शक्रस्य सौख्यानि यथा सुभाग्यैः ॥७॥
सोऽमोचयत्तं न दयापरोऽपि, दस्युं यथा प्रौढकदर्थकेभ्यः ।
अवद्यतःकर्मनिरुद्धवृत्ति, त्वतो ध्रुवं दारुणदुःखदग्धम् ॥८॥
शक्रोऽपि तत्रैव समारुरोह, प्रायो विमुच्येतरवाहनानि ।
अवश्यसंवेद्यफलं हि कर्म, न कारयेत् किं किमिहाङ्गभाजाम् ॥९॥
तं हस्तिमल्लं दधिदुग्धमुग्ध-मारूढ इन्द्रोऽपि विभूषिताङ्गः ।
कैलाशशृङ्गोद्गतकल्पवृक्ष - श्रियं दधौ धौतविभूषणौघैः ॥१०॥
ऐरावतस्यापि सिताङ्गकान्त्या, विनिह्नुता दैत्यजनस्य दन्ताः ।
दत्वा मुदं मन्युमदुः क्षणेन, प्रौढप्रहारैः समरेषु शश्वत् ॥११॥
पराजयस्संयतिना सुरेभ्यः, शक्रस्य सम्मूर्छदतुच्छशस्त्रे ।
सहस्ररश्मेरिव तारकेभ्यो, बभूव धामोदयदुर्द्धरेभ्यः ॥१२॥

सैन्यान्यपि त्रातदिवः स्वधामभि-र्विभूषणान्येव सुराज्यसम्पदः ।
तस्याऽभवन् बोधितकैरवाकर-स्येन्दोः करैरेव हि तारका इव ॥१३॥

न खण्डिता कापि कदाचिदासीद्, देवी महान्त.पुरसंयुजोऽपि ।
तस्याऽथवा मन्युकृतो वधूनां, किं दक्षिणाः क्वापि च नायकाः स्युः ॥१४॥

सम्भोगभङ्गिष्वपि तत्प्रहारा, न निर्दया अप्यभवन् वधूनाम् ।
दुःखाय किं चण्डरुचेर्भवन्ति, त्विषो नलिन्याः परितापदात्र्यः ॥१५॥

सर्वाजितस्यापि च तस्य जेता, ह्यकः परं पुष्पधनुर्बभूव ।
तद्भृत्यलेशा अपि येन देव्यो, ददुर्भयं कोपविकम्पितौष्ठ्यः ॥१६॥

जिनेन्द्रकल्याणकपञ्चकेऽपि, स्नानादि सर्वर्द्धिवृषा चकार ।
सम्यग्दृशां स्फातिभृतः समृद्धेः, सुपात्रनिक्षेपमृते फलं किम् ॥१७॥

न चक्षमे शासनलाघवं स, साक्षाज्जिनेन्द्राच्छ्रुतताद्विपाकः ।
को वा बले स्फूर्जति भर्तुराज्ञा-, विलङ्घनं भृत्यवरः सहेत ॥१८॥

स भूयसा कामपरोऽपि धर्म - मपि प्रयत्नेन चकार जातु ।
रुच्यं न यत् स्यादशनं कदापि, स्वाद्वप्यहो सल्लवणं विनेह ॥१९॥

नानारतक्रीडितहर्षभाजः, सङ्ख्यापरिद्वेषिणि तस्य काले ।
क्षोणेऽथ रज्जाविव मृत्युकूप - प्रपातसाम्मुख्यमसौ प्रपेदे ॥२०॥

कल्पद्रुकम्पप्रचलायितादि-लिङ्गैः समासन्नमवेत्य मृत्युम् ।
षण्मासशेषायुरसौ विशेषा - देकान्तपुण्यार्जनतत्परोऽभूत् ॥२१॥

विषादमार्गं न तदापि चेतो, जगाम तस्यातिविवेकभाजः ।
कालुष्यपात्रत्वमुपैति वर्षास्वपि प्रसन्नं किमु मानसं वा ॥२२॥

प्रदीपवन्नीरदखण्डबद्धा, क्षणेन स स्वर्गपतिर्विलिल्ये ।
आयुःक्षये वायुविधूतवृन्त - बन्धं स्थिरं किं कुसुमं भवेद्वा ॥२३॥

ततोऽमरश्रेणितदङ्गनानां, प्रस्फोटयन्नम्बरमुच्चचार ।
आक्रन्दनादस्त्रिदिवे निनादा- द्वैतं वदन्नूनमतीवतारः ॥२४॥

उद्यानमुद्रान्तसमस्तसूनं, व्योमस्थलं मेघविलुप्तचन्द्रम् ।
ततः सरो [illegible] सह [illegible] तथाऽभूत् त्रिदिवं गतश्रि ॥२५॥

शोकातुराणाममराङ्गनानां, हस्ताग्रविन्यस्तकपोलभाजाम् ।
अधोमुखानां दधति स्म हार-स्रजः स्रवद्बाष्पकणालिलीलाम् ॥२६॥

निवृत्तसङ्गीतकलास्यलीला - सभा निदद्राविव नर्त्तकीव ।
सुस्तम्भशालिन्यपि चाऽऽचकम्पे, प्रभौ तदामीलितनेत्रपद्मे ॥२७॥

प्रागेव शक्राद् विजहौ किलासा-वैरावतो वाहनताविभीतेः ।
कुकर्मसाहाय्यमवाप्य तीव्रं, प्राणान् निजान्नूनमुदीर्णशोकः ॥२८॥

तदाभियोग्यं गुरुकर्म तिर्यग्गत्याह्वयेनास्य ततः प्रसह्य ।
कर्मान्तिरेणोपचितेन मल्लो, मल्लान्तरेणेव बताऽऽत्रबाधे ॥२९॥

चेद् दुर्गतेस्तुल्यमहं न देयं, दातुं क्षमाऽस्मै निजवल्लभाय ।
तत्किं मयेतीव विपक्षमन्योस्तिर्यग्गतिर्मंक्षु तमाजुहाव ॥३०॥

स्वाभ्यासगं तं नरकाधिकैः सा, काष्ठागतैर्दुःखशतैः प्रदेयैः ।
आत्मानुरूपैः समयोजयद् द्राक्, स्पर्द्धा हि किं किं न विधापयेद्वा ॥३१॥

गत्यन्तरारक्तमवेक्ष्य तं प्राक्, तया नवाभिर्बहुभिर्दशाभिः ।
तथा ददत्यापचितिं स जह्रे, ध्रुवं यथा तां न जहौ चिराय ॥३२॥

तैरश्च्यदुःखानि निरन्तराणि, स्निग्धाशनानीव निषेवमाणः ।
तीक्ष्णोपदंशानिव मर्त्यकृच्छ्र - भेदानसावाश्रयदन्तरन्तः ॥३३॥

जरा सशोका सरुजा दरिद्रता, बाधिर्यसान्निध्यवती महान्धता ।
भयादिवैकैकमशिश्रियन्त तं, मानुष्यके दुःखमलघ्वपि क्षणम् ॥३४॥

मलीमसच्छिद्रितजीर्णवासाः, सर्वं सितस्तत्र कदन्नभोजी ।
दुष्कर्मणा सङ्गमिहैव मा स्म, कार्षीदितीवोद्वहताभिसन्धिम् ॥३५॥

पुनः स तिर्यक्षु पुनर्मनुष्येष्वेवं परावृत्य भवेति भूम्ना ।
कालेन केनाऽपि सुकर्मणासौ, खद्योतकद्योतचलेन जज्ञे ॥३६॥

प्रकोपनो व्यन्तरसंज्ञितेषु, देवेषु तेजोजितभानुमत्सु ।
पराक्रमाक्रान्तविपक्षलक्षः, श्यामावदातो ह्यसिताक्षयक्षः ॥३७॥
युग्मम् ।

चिक्रीड च क्रीडितकामकेलि - सक्तामरद्वन्द्वमनोहरेषु ।
निजप्रियाश्लिष्टभुजान्तरालः, स नन्दने कल्पलतागृहेषु ॥३८॥

शैलेष्वपि प्रोषितभर्तृकाणां, वितीर्णदृष्टिर्ज्वलनेषु भृङ्गैः ।
फुल्लत्तमालासनचम्पकाढ्यैः, प्रियासखो निर्झरभूषु रेमे ॥३९॥

कौसुम्भवस्त्रास्विव सुन्दरीषु, चक्राह्वयद्वन्द्वशतैश्चकार ।
विलासवापीष्वपि मज्जनेषु, कान्ताकुचास्फालनदर्शनानि ॥४०॥

अन्येष्वपि स्वर्गसनाभिदेशेष्वसौ चरन् मानसमाससाद ।
सरः कदाचिन्मृदुशीतवायु - प्रनर्तिताम्भोरुहराजिराजि ॥४१॥

यदुच्छलद्भिर्जलशीकरौघैः, प्रसृत्वरैर्व्योमनि शुद्धवृत्तैः ।
नभश्चरान् कौतुकिनस्ततान्, मुक्तोत्करादानविहस्तहस्तान् ॥४२॥

शनैश्चलद्वीचिपरम्पराभिः, कटाक्षमालाभिरिवोपरुद्धम् ।
द्रष्टुं यदासन्नतमां तरूणां, कान्तां तर्ति दृष्टिसुखां सलीलम् ॥४३॥

समुद्रविस्तारविडम्बिदीर्घो - पान्तद्रुमालीप्रतिबिम्बनीलम् ।
रेजे ध्रुवं यच्च समीपवर्ति-वन्योपभोगाय नभोवतीर्णम् ॥४४॥

अत्यन्तशीताम्बु यदुष्णकाले-ऽप्यकम्पयत् स्नानकृतो मृगाक्षीः ।
किं वाऽद्भुतं याति न जातु जात्य, स्वर्णं विदाहेऽपि यदन्यथात्वम् ॥४५॥

अनाप्तकालुष्यमहो यदच्छा-द्वैतस्वरूपं जलदागमेऽपि ।
अशुद्धसङ्गेऽपि विशुद्धता स्याद्, या सा शुचित्वस्य परा हि काष्ठा ॥४६॥

स्वच्छाम्बु दूरादपि राजहंसाः, समेत्य वर्षास्वपि यद्भजन्ते ।
साधारणान्नैव हि हेतुमात्राद्, भवेदसाधारणकार्यसिद्धिः ॥४७॥

जलेन सम्पृक्तमपीह दुग्धं, ततो विविच्यैव पिबन्ति हंसाः ।
ये तेऽपि यद्वारिसुधारसेन, समं पिबन्तस्ततृपुर्न जातु ॥४८॥

कर्पूरकक्कोललवङ्गपुष्प - परागसङ्गान्निचितान् द्विरेफैः ।
यत्राभिसस्रुर्नवराजहंसान्, प्रियभ्रमान्धाः परदुष्टकान्ताः ॥४९॥

एलालताकेलिगृहोपगीत - सत्किन्नरद्वन्द्वकलस्वनेन ।
ध्रुवं समीरो हृतवाहनत्वाच्छनैः शनैर्यत्र वहत्यजस्रम् ॥५०॥

विसोपयोगेऽपि मृणालिनीनां, हंसेषु नो यत्र पराङ्मुखत्वम् ।
माता ह्यपत्येषु कदापि दृष्टा, नावत्सला स्तन्यरसं पिबत्सु ॥५१॥

यच्चक्रवाकैः करुणं रुवद्भि-र्विलासिनो बोधयतीव नक्तम् ।
माऽकार्ष्ट कोपाकुलिता अपि क्वाऽप्ययोगबुद्धिं दयितास्वितीह ॥५२॥

बबन्ध निर्वृत्ततृतीयमानं, पार्श्वद्वये मिश्रितचक्रहंसम् ।
यस्याद्भुतां मौक्तिकपद्मराग-स्रजं सुखावासपणाय नूनम् ॥५३॥

सर्वर्तुपुष्पोन्मदसिद्धसङ्घं, यत्तीरसंरूढवनं श्रितानाम् ।
सञ्जायते किं नरसुन्दरीणां, ननन्द नोत्कण्ठि कदापि चेतः ॥५४॥

विशालमप्युन्नतशालकान्तं, पुष्टार्जुनं क्रीडितधार्तराष्ट्रम् ।
विषस्य धामाप्यमरोपभोग्यं, यत्कन्दलभ्राजि सराजहंसम् ॥५५॥

सदामरप्रार्थ्यमहोपभोगे, सरोवतंसे विनिविष्टरागः ।
स प्रस्मृतस्वीयनिवाससौख्यस्तत्रैव नित्यं स्थितिमाबबन्ध ॥५६॥

रतान्तमन्दायितमीनकेतु - प्रबोधकृत् कोकिलनादरम्ये ।
उवास सोऽखण्डितकान्तकान्ता-ऽऽश्लिष्टाङ्गयष्टिः किल तत्र भूम्ना ॥५७॥

सौधर्मनाथोऽपि सुधर्मयोगाद्, दिवः प्रपत्याऽपि पराप लक्ष्मीम ।
कार्मैकसम्पादकशाक्रसम्पज्जितं चतुर्वर्गदशक्तिमत्वात् ॥५८॥

मर्त्येन्दिराभ्यः सकलाभ्य ऊर्ध्वं, शक्रश्रियोऽप्यद्भुतलब्धिमत्वात् ।
इतीव पुण्याधिपतिः प्रसन्नस्तस्योत्तमं चक्रिपदं विलेभे ॥५९॥

समस्तपुण्यत्पुरुषार्थमौलि - निःश्रेयसश्रीपरिरम्भदाक्ष्यम् ।
यत्राविरस्ति स्मरसायकौघैर्यथा पटुत्वं प्रशमापनोदे ॥६०॥

निःशेषसूक्ष्मादिशरीरिमाता, क्षमादिरत्नाङ्कुररोहणाद्रिः ।
धर्मोऽपि यत्रामृतसौख्यलक्ष्मी-विलासहेतुर्भवतीव वश्यः ॥६१॥

अर्थोऽपि विश्वार्थवतां यदि स्युः, समुच्चिताः क्वापि च कोशकोटयः ।
मीयेत ताभिः परमो यदीयो, यक्षादिनानामरसाध्यवृद्धिः ॥६२॥

स्वीया इवार्था भुवनैः प्रकृष्टास्तावद्भिरेवातिभयाद्वितीर्णाः ।
स्वरक्षणार्थं बत चक्रभाजो, रत्नानि यत्रेति चतुर्दश स्युः ॥६३॥

नूनं सर्वार्थसम्पद्विरचनचतुराश्चण्डरोचिःप्रवेका,
वश्यत्वं यान्ति यस्मिन्नवनिधिमिषतस्सद्ग्रहास्ते नवाऽपि ।

निष्प्रत्यूहावदानाऽनुदितगदलवा सार्वभौमत्वहेतु-
स्तत्राशु स्याद्गरीयस्यपि कथममिता ह्यन्यथा कार्यसिद्धिः ॥६४॥

यक्षेभ्यो धामवद्भ्योऽप्यधिकगुणभृतो यद्वयं दृश्यसेवा-
स्तत्काकोड्डीनतुल्यात् स्वरुचिगमनतो मा स्म भूद्गर्व एषाम् ।
इत्यङ्गीकृत्य नूनं परमशुचिपदं राजहंसस्वरूपं,
द्वैगुण्यं यत्र तेभ्यो मुकुटधरनृपाः सन्ततं धारयन्ति ॥६५॥

ग्रामारामाभिरामाऽऽननलिनललल्लीललावण्यलक्ष्मी-
पानव्याबद्धतृष्णाभरतरलतरत्तारनेत्राध्वनीनाः ।
पादांत[1] वीरतोद्यं सममपि नियतं सख्ययाऽलं विजेतुं,
नूनं शृङ्गारसारा इति रुचिरतमा यत्र सर्वे भवन्ति ॥६६॥

सेनाङ्गान्यङ्गभावं समरभुवि जयस्याशु तुल्यं भजन्ते,
तुल्यान्येवैकचित्ता इव सुभटघटाः स्फूर्त्तिभाजोऽपि लोके ।
इत्यालोच्येव शश्वत् करितुरगरथ श्रिश्रिये यत्र साम्यं,
किं वा सम्पद्यते नोपचितसुकृततः कल्पवृक्षादिवाग्र्यात् ॥६७॥

अस्माभिः साम्प्रतं किं निरुपमसुखकृत् सङ्गमः सङ्गतानां,
संदोहैः कामिनीनामिव सकलजगत्सारधातुप्रतीतैः ।
बन्ध्यैः संगुप्तभावादकृतपरिचयैश्चक्रिणा चारुधाम्ना,
नूनं प्राकाश्यवश्या इति निखिलभुवोऽप्याकरा यत्र च स्युः ॥६८॥

यत्र स्युस्तुङ्गसौधावलिशिखरलसद्दिव्यगीतप्रबन्ध-
प्रेक्षाक्षिप्तेक्षणानां विरमितगतयः सर्वतः खेचराणाम् ।
नूनं तद्गेयमन्त्रैः प्रतिनिहतनभोगामिविद्याक्षराणां,
नक्तं शृङ्गारयोनेर्वरपुरनिकराः केलिलीलानिवासाः ॥६९॥

यत्र द्रोणिमुखानि[2] सत्कविमुखानीवोभयोर्मार्गयो-
र्गद्योन्मीलितपद्ययोरिव सदा पाथःस्थलासङ्गिनोः ।
भूयांस्याकलितप्रसिद्धिसुभगान्याविर्भवन्त्युच्चकै-
र्येष्वेकैकमपि प्रलुम्पतितरां वित्तेशपुर्याः श्रियम् ॥७०॥

[1] पुस्तके तु 'पादातं' इति पाठः । [2] ९९००० ।

एवं संबाधखेटाद्यनुपमममितं वर्ण्यते तत्र कीदृग्,
बाह्यं सम्पत्स्वरूपं तदुपचयकृतः सन्ततं यत्र यक्षाः ।
भूयांसः सन्ति दूरे नयनयुगपथात् किङ्करत्वं प्रपन्नाः,
किं वा पुण्योच्चयस्य क्षतरिपुनरपस्येव वश्यं न लोके ॥७१॥

कामादाजन्मनानाकरणविधिरणन्मञ्जुमञ्जीरसिञ्जा-
संहूतानङ्गनृत्यन्मृगशिशुनयनासङ्कृते रङ्गभूमौ ।
शैलूषैरब्धिसंख्याभिनयनयनहृन्नाटकं नाटितं यत्,
तत्रासक्ता वितृष्णा अमृत इव सदा चक्रिणो यत्र न स्युः ॥७२॥

द्वात्रिंशत्पात्रबद्धाभिनयसुखकरैर्नाटकानां सहस्रै-
र्यत्राक्षिप्तैरजस्रं बहुरपि समयो लक्ष्यते सौमुहूर्त्तम् ।
कान्ताकण्ठोपकण्ठप्रहितभुजलतैश्चक्रिभिः पुष्पमाला-
माद्यद्भृङ्गाङ्गनौघाविरतकलरवव्याजसङ्गीतरूपैः ॥७३॥

कामास्त्राणां समेषां वयमुपरिसमस्तेन्द्रियार्थाश्रयत्वा-
दाधिक्यं चेन्न तेभ्यो भुवि भवति परं नाटकेभ्यः परेभ्यः ।
तत्काऽस्माकं महत्तेत्यवजितविबुधस्त्रैणलावण्यलक्ष्म्य-
स्तद्द्वैगुण्यं भजन्ते ध्रुवमसमसुखाः केकराक्ष्योऽपि यत्र ॥७४॥

अप्यन्यासां यदि स्याल्लवणिमजलधिः पिण्डितः सुन्दरीणां,
सर्वासां रूपदासीकृतरतिवपुषां तेन साम्यं लभेत ।
यत्रैकस्यापि चन्द्रद्रुतरसरचितस्येव सौख्याकरस्य,
स्त्रीरत्नस्याङ्गलक्ष्मीर्ललितरतिनिधिस्तत्र किं वर्ण्यतेऽन्यत् ॥७५॥

इत्थं सौधर्मनेतुः सुकृतविभुरसाधारणोपास्तिभेदा,
राद्धस्तस्मै कृतार्थः समभवदसमश्रीचतुर्वर्गदानात् ।
किं वन्ध्यत्वं भजेतामृतरस उचितत्वेन पीतः कदाचित्
किं वा स्यात् कल्पवृक्षः क्वचिदपि विफलः सेवितः सन्नजस्रम् ॥७५॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते शक्रप्रच्यवनो
नाम षष्ठः सर्गः । छ. । ६ ।

सप्तमः सर्गः

देशो दिशामण्डनमेकमीषद् - विशेषहेतोर्विहितो विधात्रा ।
ध्रुव धरित्रीपतिनीतिपूतः, क्षितौ कुरुभ्यः कुरुजाङ्गलोऽस्ति ॥१॥

एतत्कृतास्माकमियं समृद्धि - रिति स्थवीयः फलभारभाजः ।
यस्मिन्नमस्कर्तुमिवाभिनेमुः, स्तम्बान् शरद्युन्नतशालिशाखाः ॥२॥

तटाश्रितासङ्ख्यसुरालयानि, बभुर्महीयांसि सरांसि यत्र ।
अब्धिभ्रमारब्धविलोडनानि, ध्रुवं सुरै रत्नगणाप्तिलोलैः ॥३॥

वृषाश्रितत्वाज्जनता सुरूपा, प्रमोदभाक् भूरिसमृद्धिपात्रम् ।
सुरावलीव श्रयते न यत्र, भयं कदाचिद् द्विषतां बलेभ्यः ॥४॥

प्रायः सदा तीर्थपचक्रिमुख्य-प्रभाववद्भूपतिसम्भवेन ।
दुर्भिक्षरोगव्यसनेति डिम्बास्त्रासादिवाध्यासिषतैव यं नो ॥५॥

यत्र प्रतिग्राममपर्त्यवेश्मनां, ततिश्चकाशे महतां सितद्युतिः ।
तत्कर्तृ कीर्त्तिस्त्रिदिवारुरुक्षया, विकासिताङ्गेव निरन्तरं दिवि ॥६॥

यत्रेक्षुकाण्डाः शुकचण्डतुण्ड - प्रहारनिर्यद्रससान्द्रधाराः ।
सुधाप्रपाकौतुकमध्वगानां, शालां विनापि प्रतिपूरयन्ति ॥७॥

सौरभ्यलुभ्यन्मधुपालिनाद-व्याजेन पुष्पोत्कटकाननानि ।
अधिक्षिपन्तीव वनं सुराणां, प्रत्यब्दमुद्यत् कुसुमानि यत्र ॥८॥

पुराणि योषाकुलसंकुलानि, योषाकुलान्यद्भुतरूपभाञ्जि ।
रूपाणि यूनां मनसां हि चौराश्चौराः परिम्लानमुखाश्च यत्र ॥९॥

भूम्ना बभुर्यत्र जिनास्पदानि, प्रेक्षादिदृक्षाऽचलदृष्टिलोकैः ।
कीर्णान्यमर्त्यैरिव सङ्गतानि, दिवो विमानानि समागतानि ॥१०॥

यत्र क्विपामेव हि सर्वलोपः, कलावसादोऽपि शशाङ्कमूर्त्तेः ।
वृषावमुक्तिः पितृकार्य एव, स्मार्त्तस्य नान्यस्य जनस्य दृष्टः ॥११॥

न दन्तिनो दानविहीनगण्डा, न दानमप्युज्झितगन्धवासम् ।
गन्धोऽपि नैवासुरभिर्व्यधत्त, कलत्क्वणा यत्र मधुव्रतालीम् ॥१२॥

यो मर्त्यलोकेऽपि विचित्रकेलि - प्रवृत्तनित्योत्सवमोदवद्भिः ।
मर्त्यैरमर्त्यैरिव सन्ततश्रीः, स्वर्गश्रियं दर्शयतीव नृभ्यः ॥१३॥

रत्नत्रयी यत्र जिनेन्द्रसंज्ञा, द्विधाऽपि चक्रं वत धारयिष्णुः ।
जज्ञे नवः कश्चन रोहणाद्रिः, केनोपमीयेत स देशराजः ॥१४॥

तत्रेन्दुरुक्शालविशालताचित-क्ष्मापीठमासीत् किल **हस्तिनापुरम्** ।
यत्कुण्डलीभूतभुजङ्गमाधिप-श्रियं दधौ चारुविशेषकं भुवः ॥१५॥

हर्म्याणि रम्यस्फटिकोपलद्युति-च्छटाजलक्षालितदिङ्मुखान्यलम् ।
क्षपास्वखण्डक्षणदापतिप्रभा - चितानि यत्राऽऽपुरलक्ष्यमूर्त्तिताम् ॥१६॥

तुषारसंस्पर्शपयोधरानिशं, सौगन्धिकाम्भोजकृतावतंसका ।
विश्वस्य चक्षुःशततुष्टिपुष्टिदा, वभूव कान्ता परिखाऽपि यत्र च ॥१७॥

यत्रोन्नतं शालपतिं भजन्ती, भग्नान्यसङ्गं परिखा सदापि ।
मूर्द्धाभिषिक्ता परकामुकीणा - मासीदशश्वत् परिरम्भभाजाम् ॥१८॥

कीर्णानि कर्णामृतकेकिकेका - पिकस्वनैः केलिवनानि यत्र ।
भङ्गायमानस्य मनस्विनीना - मलं समाधेश्च समाधिभाजाम् ॥१९॥

सत्सारसोदीरितमध्यमस्वर - व्यामिश्रबर्हिस्फुटषड्जगीतिभिः ।
सरांसि पान्थाय वनैः समं सदा, प्रातर्गतौ यत्र दिशन्ति मङ्गलम् ॥६०॥

सुरालयाग्रप्रचलत्पताका, पटाञ्चलोत्क्षेपशतैर्यदारात् ।
दूरागतिश्रान्तविवस्वदश्व - श्रमाम्बु नूनं व्यनयद् दिनान्तः ॥२१॥

रामाजनस्याद्भुतरूपसृष्टौ, स्रष्टुर्ध्रुवं यद्वरसृष्टिशाला ।
यत्तादृगन्यत्र न रूपसम्पद्, दृष्टा क्वचिद् भूवलयेऽखिलेऽपि ॥२२॥

गारुत्मताच्छामलसारकाणा-मन्तर्निविष्टा नवहेमकुम्भाः ।
दधुः स्मितेन्दीवरगर्भखेलच्चक्रश्रियं यत्र जिनालयेषु ॥२३॥

मूर्त्तिस्पृशो गोष्पतयोऽपि चित्रं, सङ्ख्याविदः सत्कवयः प्रतीताः ।
प्रमोहविष्टा अपि तर्कशास्त्रा-ऽवमर्शका यत्र जनाश्च भूम्ना ॥२४॥

यत्रेन्द्रनीलस्फटिकाश्महट्टा, एकान्तरा प्रोच्छलितांशुजालैः ।
चक्रुस्तमश्चन्द्रिकयोश्चिरायैकत्रस्थितेश्चित्रयुजो विदग्धान् ॥२५॥

यस्मिन् मणीनामवलोक्य राशीन्, सङ्ख्यातिगान्पण्यपथे प्रतीयुः ।
जनाः पयोधिं हृतसर्वसारं, नाम्नैव रत्नाकरकीर्त्तिभाजम् ॥२६॥

कर्णामृतस्यन्दिविलासिनीजन - प्रगीतनिष्पन्दकुरङ्गशावकः ।
अखिद्यत द्यामतिगन्तुमुत्सुको, यच्चन्द्रशालानिकषाचरः शशी ॥२७॥

मत्ताङ्गनाविह्वलनृत्तभङ्गि-ष्वपूर्वपादक्रमशिक्षणाय ।
जहुर्न वर्षास्वपि सौधगर्भान्नूनं यदीयान् शिशुकेलिहंसाः ॥२८॥

श्राद्धाः श्रुतेस्तत्त्वसुधां धयन्तः, सुस्थाः स्थिराः साधुमुखाम्बुजेभ्यः ।
साक्षादिवाऽऽनन्दरसावमग्ना, मुक्तैर्व्यभाव्यन्त तदापि यत्र ॥२९॥

द्विपालयः कज्जलपुञ्जसोदरा, यत्राह्वचभूं राजपथे चरिष्णवः ।
विवस्वतास्तास्तमुपासितुं भिया, तत्पादलग्ना इव कालरात्रयः ॥३०॥

द्विजिह्वलक्षैर्विलसत्तमोभरैः, कौटिल्यमालिन्यगृहैरुपासिता ।
श्रीनागराजस्य पुरी निरातपा, तुलां न येनाऽधिरुरोह सर्वथा ॥३१॥

द्विकुण्डलालङ्कृतमेककुण्डल - श्रितां सपुष्पव्रजमेकपुष्पकाम् ।
सुरालयोद्यद्दशनांशुमण्डलै - र्यदुज्जहासेव सदाऽलकां पुरीम् ॥३२॥

संसारसाराखिलवस्तुपात्रं, यद्भूरिभिः सद्गुरुभिः कवीन्द्रैः ।
प्रसाधितं वीक्ष्य सहस्रनेत्रो, न बह्वमंस्ताऽऽत्मपुरीं गुणज्ञः ॥३३॥

तत्रोद्भटैर्नृपतिभिर्नतमौलिकोटी -
कोषोच्छलद्विमलशोणमणिच्छलेन ।
दत्तप्रतापनिजवैभवसार आसीत् ,
पृथ्वीपतिः पृथुयशोनिधिरश्वसेनः ॥३४॥

कलालयो यो बत तेजसां निधि-र्भूनन्दनोऽप्यद्भुतकाव्यपद्धतिः ।
बुधोऽपि शत्रौ गुरुसिंहिकासुतः, केतुः स्ववशस्य शनैश्चरः पथि ॥३५॥

यस्मिन्प्रजाः शासति चण्डशासने, नैवान्वभूवन्प्रतिपक्षजव्यथाः ।
स्युः स्फूर्तिमन्मान्त्रिकरक्षितेषु किं, भयानि भोगिप्रभवानि कर्हिचित् ॥३६॥

कुर्वन् कृतार्थानखिलार्थिचातका - नेकाह एवेप्सितदानकोटिभिः ।
किमप्ययच्छन्नितरेषु वासरेष्वखिद्यतोदारमनाः सदाऽपि यः ॥३७॥

---

१. शुशुभिरे

कुम्भीन्द्रकुम्भस्थलदारणोच्छलन्-मुक्ताफलैर्दन्तुरितं नभस्तलम् ।
दिवाऽप्यभूत्तारकितं रणोत्सवे, यस्य प्रनृत्तासिकराग्रशालिनः ॥३८॥

स्मराकुलं स्मेरविलोचनाम्बुजै-र्निपीयमानोऽपि पिपासयाऽनिशम् ।
पौराङ्गनाभिः समवर्द्धताऽधिकं, यस्याऽस्य सौन्दर्यपयोधिरद्भुतः ॥३९॥

दत्त्वा द्विषद्भ्यो निशितासिधारास्तदङ्गनानां नयनाम्बुधाराः ।
क्लृप्ताः परीवर्त्तपरेण येन, स्वकीर्त्तिवल्लेः परिवृद्धिधात्र्यः ॥४०॥

नीत्यङ्गनालिङ्गनलोलमूर्त्ति-र्नाऽकीर्त्तिलक्ष्म्याऽपि कटाक्षितो यः ।
किं भद्रजातीयमतं गजेन्द्रं, वशास्वजं चुम्बति कोलकान्ता ॥४१॥

विदारिताऽरातिकरीन्द्रकुम्भ - मुक्तावली व्योम्नि तता चकाशे ।
संसूत्रिता यस्य रणोत्सवेषु, जयश्रिया स्राग्वरमालिकेव ॥४२॥

तुष्टामरक्षिप्तसुगन्धिपुष्प - गन्धावलुभ्यन्मधुपाङ्गनानाम् ।
मृधेषु यस्य श्रमवारिबिन्दून्, नुनोद पक्षव्यजनानिलः स्राक् ॥४३॥

केशेषु बन्धस्तरलत्वमक्ष्णोः, काठिन्यलक्ष्मीः कुचमण्डलेषु ।
संभोगभङ्गिष्वदयाभिघाता, मृगीदृशामेव यदीयराज्ये ॥४४॥

प्रवादिजल्पे छलजातियोगः, सकण्टकत्वं वनकेतकेषु ।
विष्कम्भशूले खलु योगजाते, न जातु लोकस्य तु यस्य राज्ये ॥४५॥

समर्थतासारमभूत् क्षमित्वं, तारुण्यरूपोदयशालिशीलम् ।
विकत्थना वाङ्मुखमेव दानं, विवेकसङ्केतगृहस्य यस्य ॥४६॥

तस्य प्रियाऽऽसीत् सहदेव्यभिख्या, या गीतविद्येव विशुद्धजातिः ।
आन्वीक्षिकीव प्रथितप्रमाणा, त्रयीव सुव्यञ्जितवर्णसंस्था ॥४७॥

लावण्यकिञ्जल्कचिते यदास्य - पद्मे विलास्यक्षिमधुव्रताली ।
रसावमग्ना न ततः शशाकोन्मंक्तुं घनाज्जीर्णगवीव पङ्कात् ॥४८॥

लक्ष्मीरिवोन्मीलितकान्तकामा, शचीव सौभाग्ययशोनिधानम् ।
ज्योत्स्नेव विश्वेक्षणसौधधारा, बभूव सीतेव पतिव्रता या ॥४९॥

यस्याः कटाक्षोद्भटपक्ष्मलाक्ष्याः, कक्षां जगाहे न कदापि रम्भाः ।
निस्पन्दनेत्राम्बुरुहा वराकी, शिलातलोत्कुट्टितपुत्रिकेव ॥५०॥

निजप्रभास्तोमपरीतमूर्त्ति-र्या दुग्धसिन्धून्मथनोल्लसन्त्याः ।
क्षीरच्छटाव्यास्ततनोर्हि लक्ष्म्याः, कीर्त्तिं समग्रां परिलुम्पति स्म ॥५१॥

शशी यदि स्यान्मधुपालियुक्तः, शिखण्डभारोद्धुरमम्बुजं वा ।
तेनोपमीयेत यदास्यचन्द्रः, स्निग्धायतश्यामलवेणिदण्डः ॥५२॥

नृरत्नभूः सूनृतवाग्विलासा, योषित्स्वनन्यप्रतिमैव यासीत् ।
काऽन्याऽथवा सिन्धुषु साधुमुक्ता, भुवा हि संहृष्यति[1] ताम्रपर्ण्या ॥५३॥

सुसौम्यमूर्त्तिर्द्विषणाभिरामा - प्यनङ्गसङ्गिन्यपि राजकान्ता ।
या स्वर्णवर्णा महिषीति वित्ता - प्यासीदमन्दाप्यलसप्रयाता ॥५४॥

अनन्यसाधारणयौवनायां, तस्यां महौजाः समजायताऽसौ ।
स पुत्रभावेन सुराधिनाथः, पुण्योदयात् पुण्यसुधासरस्याम् ॥५५॥

चतुर्दशस्वप्नविलोकनेन, सा निश्चितानुत्तमपुत्रलाभा ।
लेभे प्रमोदं नरनाथकान्ता, मृणालिनीवोद्भवदम्बुजन्मा ॥५६॥

महेभमिन्दुद्युतिमुच्चकुम्भं, कपोलगुञ्जन्मधुपोपगीतम ।
साक्षादिवैरावतमास्यपद्मं, निजं विशन्तं शयिताऽऽलुलोके ॥५७॥

एवं महोक्षं शरदीव पुष्टं, विषाणकोट्युल्लिखिताम्बुवाहम् ।
भस्मच्छटावासुकिसङ्गभीतं, माहेश्वरं यानमिवेयिवांसम् ॥५८॥

स्वविक्रमं दातुमिवोदरस्थे, सलीलमायां तमुदारगात्रम् ।
पात्रं सहस्रांशुमिवेद्धधाम्नां, शिरोललल्लूमलतं मृगेन्द्रम् ॥५९॥

लक्ष्मीं सुधौघैरभिषिच्यमानां, हस्तीन्द्रहस्तोद्धृतकुम्भमुक्तैः ।
पार्श्वद्वयेऽपि स्वयश प्रवाहै - रिव प्लुतानुत्तमकान्तिमूर्त्तिम् ॥६०॥

सम्पद्यतामस्मदुपास्ति पूतं, श्रोत्रेन्द्रियस्यापि नितान्तकान्तम् ।
इतीव भृङ्गैरनुगम्यमानं, पुष्पस्रजोर्युग्ममतीव दृश्यम् ॥६१॥

एकान्ततेजस्वितयोपतापी, माऽभूदय बाल इतीव चन्द्रम् ।
शीतप्रकृत्याश्रयिणं विधातुं, तमुद्यत स्वं वदनं विशन्तम् ॥६२॥

विना प्रतापेन न कार्यसिद्धिस्तमोपह रूपमितीव तस्मै ।
बालाय संदर्शयितुं स्वकीयं, सहस्रभानुं विततोग्रभानुम् ।६३॥

---

१. स्पर्द्धते

विचित्रसद्रत्नमयं पताका - सहस्रहंसावलिचुम्बिताङ्गम् ।
ध्वजं स्वतुल्यध्वजलाभमुच्चै - र्बलस्य नूनं लघु सूचयन्तम् ॥६४॥

नीलोत्पलाध्यासितचारुवक्त्रं, रसौघसम्पूरितमध्यभागम् ।
हैमं कुटं लोचनपूर्णचन्द्रं, श्यामास्ययोषित्कुचकुम्भकान्तम् ॥६५॥

कश्मीरजालिप्तवधूमुखानां, बालातपालङ्कृतफुल्लपद्मैः ।
तरङ्गभङ्गैश्च धनुर्लताया, लक्ष्मीं हसच्चारुमहासरश्च ॥६६॥

रत्नाकरत्वेन विजित्य विश्वं, हर्षप्रकर्षादिव गर्जिताढ्यम् ।
दूरं समुल्लासितवीचिबाहुं, पाथोधिनाथं परितः प्रनृत्तम् ॥६७॥

विमानमत्यद्भुतमप्यपूर्वा, मर्त्यश्रियं पश्यदिवाक्षिजालैः ।
अदत्तदृष्टिः सविधे मृगाक्ष्यां, कान्तोऽपि कान्तोऽत्र भवेत् कृतार्थः ॥६८॥

रत्नाकरस्यार्पितरिक्तभावं, रत्नोत्करं निर्मलमद्रिकल्पम् ।
साक्षादिवोन्मीलितमर्भकस्य, पुण्योच्चयं चक्रिसमृद्धिहेतुम् ॥६९॥

निर्धूमधूमध्वजमुल्लसन्त, निवातदीप्तं नयनाभिरामम् ।
तेजस्विषु ज्येष्ठमशेषलोक - संसेव्यमादित्यमिवोदयस्थम् ॥७०॥
आदिकुलक चतुर्दशभिः ।

स्वप्नानिति प्रेक्ष्य निजाऽऽस्यपद्मं, शेषे निशाया विशतो विचित्रान् ।
सा कौतुकाङ्कुरितचित्तभूमिः, प्रमोदफुल्लन्नयना प्रबुद्धा ॥७१॥

तेषां निशम्याऽथ नरेन्द्रवक्त्रात्, रत्नोत्तमानामिव चक्रनेतुः ।
चतुर्दशानां फलमेष्यदाशु, विश्वाद्भुतं सा मुमुदे नितान्तम् ॥७२॥

स्वप्नागमाध्येतृवचोऽनुसारा - द्विनिश्चितानुत्तमचक्रिपुत्रा ।
स्वं बह्वमस्ताऽन्यनृपाङ्गनाभ्यः, को वाऽऽप्तसम्पन्न भवेत् सदर्पः ॥७३॥

समुद्गमिष्यत्तपनेव पूर्वा, सायं नभःश्रीरिव चन्द्रगर्भा ।
तदान्तरौर्वेव पयोधिवेला, रराज सा भास्वरकायकान्तिः ॥७४॥

समुच्छ्वसत्सर्वमनोहराङ्गो, गर्भानुभावेन बभूव राज्ञो ।
सुधावसिक्तेव लता भविष्यन् - महाफलाङ्गीकृतपोषलक्ष्मीः ॥७५॥

क्रमेण च क्षीरविपाण्डुगण्डा, सुनिर्मलश्वेतमयूखभूशा ।
आकाशलक्ष्मीरिव सा विरेजे, मन्द यती वेश्मनि दन्तिनीव ॥७६॥

कट्वम्लरूक्षैर्नितरां न तीक्ष्णैः, सर्वेन्द्रियाऽऽनन्दकरैश्च भोज्यैः ।
पुपोष सा गर्भमनुष्णशीत - शय्याशया कोमलगाबिणी च ॥७७॥

यथा यथाऽदृश्यत बन्धुभिः सा, श्रमालसोत्थाननिवेशनेषु ।
तथा तथाऽप्रीयत पूर्णसर्व - कामैरिवोन्मीलितनेत्रपत्रैः ॥७८॥

नृपेण सम्पादितदोहदौघा, शुभग्रहेषूच्चपदस्थितेषु ।
बालस्य भाग्येष्विव भद्रकार्योन्मुखेषु धामातिशयान्वितेषु ॥७९॥

ज्योत्स्ना निशीथेऽखिलदेहभाजां, स्वापाऽपदेशेन वितीर्णयोगे ।
शत्रूद्भवोत्तापभृतां हि बाला, तूर्णं ध्रुवं निर्वृतिसाधनाय ॥८०॥

द्वात्रिंशदुद्बुद्धसदङ्गलक्षणं, चतुर्थमुद्यद्रुचिचक्रवर्तिनम् ।
अरिष्टवेश्मागतसूतिसुन्दरी - मुखाहितद्योतनमंशुजालकैः ॥८१॥

सुखेन साऽसूत सुतं निजाङ्ग - प्रभापराभूतसमीपदीपम् ।
रत्नाङ्कुरं रोहणशैलराज-क्षितिर्यथा क्षुण्णमहान्धकारम् ॥८२॥

चक्कलकम् ।

दिक्षु प्रसन्नासु तदीयचित्त - वृत्तिष्विवादर्शितविक्रियासु ।
समीरणेष्वप्यभितो वहत्सु, तद्वाक्प्रयोगेष्विव शीतलेषु ॥८३॥

तस्मिन्निव प्रोज्ज्वलधोरनादे, नदत्यमन्दं जयशङ्खयुग्मे ।
मुखेषु पद्मेष्वलिनादगीति - ष्वम्भोजिनीनामिव सुन्दरीणाम् ॥८४॥

समुच्छलन्त्या स्तनपीठ उच्चै, रंहोगतौ व्यायतहारयष्टचा ।
निरुध्यमानाऽपि बलाज्जगाम, काचिन्नृपं वर्द्धयितुं कुमारी ॥८५॥

विवर्ध्यसे देवसुतोद्भवेन, वेलोदयेनेव पयोधिनाथः ।
प्राच्या इव श्रीसहदेविनाम्न्यास्तेजस्विसोत्र्याः प्रवरप्रियायाः ॥८६॥

आकर्ण्य कर्णामृतमेतदीय, वाक्यं नृपेन्द्रः प्रबभूव नाऽङ्गे ।
तोषैस्तनूजप्रसरत्प्रभावैः, प्राज्यैरिवैत्योपचिताऽन्तरात्मा ॥८७॥

ददौ च तस्यै मणिभूषणावलीं, प्रसन्नदृग्दानपुरस्सरं नृपः ।
वाचं च तां काञ्चन सा यथा तया, तुतोष नैवेतरया तथा तदा ॥८८॥

अमोचयच्छाश्वतवैरिणोऽपि, कारागृहाच्छेषजनानिवाऽसौ ।
स नाऽऽददे प्राज्यमपीह शुल्कं, देवस्ववत्तत्र दिने नृपेन्द्रः ॥८९॥

नृपौकसो द्वारि सतोरणाभि - र्भ्रजेतरां वन्दनमालिकाभिः ।
स्वपद्मपत्त्रैरिव निर्मिताभिः, श्रिया समाराधयितुं शिशुं प्राक् ॥९०॥

संशोधिताः शुद्धिकरैश्च रथ्या, रजोविहीनाः सहसा बभूवुः ।
योगीश्वराणामिव मानसस्य, प्रवृत्तयो ध्यानविशेषलाभैः ॥९१॥

मार्गा असिच्यन्त च कुङ्कुमाम्बुभिः, सान्द्रैः सधूपैर्घनसारमिश्रितैः ।
तथा यथोच्छृङ्खलनर्त्तनेष्वपि, स्त्रीणां बभूवुर्न लसद्रजःकणाः ॥९२॥

सिन्दूररक्ताः प्रतिवेश्म रेजु-र्वातोद्धुता मङ्गलवैजयन्त्यः ।
अदृश्यतत्पत्तनदेवताना - माच्छादनायेव धृताः सुपद्यः ॥९३॥

कस्तूरिकास्थासकरोचितालिकैः, प्रलम्बहारैर्युवभिर्नवांशुकैः ।
तूर्याणि तुल्यं प्रहतानि तौर्यिकैं, राज्ञो गृहे पौरगृहेषु चाध्वनन् ॥९४॥

तथा समारभ्यत मङ्गलावलि-र्गृहे गृहे तत्र पुरे मुदा तदा ।
यथा न पुत्रप्रसवं स्म लक्ष्यते, कस्येति मुग्धप्रमदाभिरञ्जसा ॥९५॥

रथ्यासु पुष्पप्रकरे रणद्भिस्तारं द्विरेफैः सहसाऽव्रियन्त ।
कलाः प्रभूता अपि किन्नराणां, सवेणुवीणाध्वनयोऽपि नादाः ॥९६॥

पट्टांशुकोल्लोचचितान्तराला, नरेन्द्रमार्गाः सुतजन्ममोदे ।
नूनं व्यराजन् परिधापिताः स्राक्, राज्ञा प्रसादीकृतचित्रवस्त्रैः ॥९७॥

मुक्ताकलापा विपणिष्वसङ्कुचकाः, स्वच्छा व्यभाव्यन्त विलम्बिराजयः ।
नक्षत्रमालामहमेनमीक्षितुं, द्वीपान्तरेभ्यः समुपागता इव ॥९८॥

सिन्दूररेणुप्रकरैः प्रवद्धैः, पिष्टातकैश्चोच्छलितं समन्तात् ।
तस्य प्रतापैरिव शैशवेऽपि, प्रजानुरागैरिव वोत्सवेऽत्र ॥९९॥

समुद्धतांह्रिक्रमबाहुदण्डैस्तत्ताण्डवं चक्रुरलं युवानः ।
व्यडम्बयच्चण्डतरं मृडानी - पतेः प्रनृत्तं यदकाण्डवृत्तम् ॥१००॥

विलासिनीनां ललितानि लास्यान्यपाङ्गविप्रेक्षितसुन्दराणि ।
जग्मुः कुचाऽऽस्फालनदत्तहार - च्छेदक्रियाहासितकामुकानि ॥१०१॥

ताम्बूलदानं वसनैर्न हीनं, हासेन शून्यं न विलेपनञ्च ।
तत्राऽभवत् प्रीतनरेन्द्रवर्ग - प्रकल्पितं नागरसत्तमानाम् ॥१०२॥

श्रियं महैस्तैरदधाद्दिवोऽपि, ताम्बूललाभैरधिकां पुरं तत् ।
किं वा न पद्माद्वदनं मृगाक्ष्या, धत्ते रुचं सातिशयां सुचित्रैः ॥१०३॥

दिने दिने चन्द्रकलेव मोदैः, प्रवर्द्धमाना किल मासमेकम् ।
महोत्सवश्रीरभवज्जनानां, तुष्टिप्रदा मानसलोचनानाम् ॥१०४॥

अपि सकलधरायाश्चारुसङ्गीतलक्ष्म्यः,
क्वचिदपि यदि दैवादेकतः सङ्घटेरन् ।
तदपि तनुजजन्मोत्सर्पिणो नोत्सवस्य,
प्रतिकृतिमसमानस्यास्य दध्युः समग्राम् ॥१०५॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते कुमारोदयवर्णनो
नाम सप्तमः सर्गः । छ. । ७ ।

अष्टमः सर्गः

शुभे दिनेऽथ स्वजनाय काञ्चने, विश्राणिते बन्दिगणाय कोटिशः ।
सनत्कुमारेति पदाभिधेयतां, लेभे शिशुर्वृद्धकुलाङ्गनाजनात् ॥१॥

पुत्रस्य सर्वाङ्गमनोरमस्य, तस्याऽऽननाम्भोरुहमीक्षमाणः ।
योगीन्द्रगम्यां समवाप काञ्चिन्-मुदं निजोत्सङ्गगतस्य भूपः ॥२॥

कूर्चे कचाकर्षणमादधानः, सोऽनन्दयत् स्मेरमुखं नरेन्द्रम् ।
प्रियाहितं सौख्यदमेव वा स्यात्, कान्तापदाघात इवाऽपि वामम् ॥३॥

तदास्यपद्मं परिचुम्बतोऽस्य, मधुव्रतस्येव बभूव तत्र ।
तृष्णातिरेकोऽभिमतान्निवृत्तिः, क्व सेव्यमानादपि वा सदा स्यात् ॥४॥

वचोऽपि तस्याऽस्फुटवर्णभेदं, सुधाममंस्त क्षितिपः स्वकर्णे ।
स्वाधीनकान्तेव रुतं पिकस्य, किं किं न मोदाय हि बालकानाम् ॥५॥

स्खलत्पदं क्रामति मन्दमन्दं, शिशाववष्टब्धकराङ्गुलीके ।
धात्र्या धरित्रीपतिराबबन्ध, दृष्टिं नवे चन्द्र इवोदयस्थे ॥६॥
काकाद् ध्रुवं पञ्चगुणाञ्जिघृक्षुः, स काकपक्षं दधदुत्तमोऽपि ।
मूर्ध्नाऽधमेष्वप्यनुवृत्तिरिष्टा, गुणार्थिनां नूनमिति स्म वक्ति ॥७॥
प्रवर्द्धमानश्च शशीव कान्तः, क्रमेण जग्राह कलाः समग्राः ।
द्विसप्ततिं सूचिततत्प्रमाण - सहस्रपूर्भेदसमीपलाभाम् ॥८॥
जिताऽनिरुद्धोऽपि कुमारभावे, वपुःश्रिया पुष्पशरं जिगीषुः ।
शिश्राय नूनं नवयौवनं स, नासाधना कापि यदिष्टसिद्धिः ॥९॥
पूर्णेन्दुभास्यप्यतिनिष्कलङ्कं, सच्छायमह्लाय्यथ तस्य रेजे ।
कायोच्छलत्कान्तिजलोपरिष्टा - दुन्नालपद्मश्रिमुखं सुकण्ठं ॥१०॥
विरेजतुस्तस्य विशालनेत्रे, शित्यन्तरे ताम्रविपाण्डुरान्ते ।
कर्णान्तविश्रान्तिपरे इवेषू, जगज्जयायाऽङ्गभुवा प्रयुक्ते ॥११॥
श्यामः सपुष्पस्ततवेणिदण्डस्तस्याऽऽबभौ लोचनचित्तहारी ।
गोपीजनस्येव वधूगणस्य, स राजहंसो यमुनाप्रवाहः ॥१२॥
यद्यष्टमीयः क्षणदाधिनाथः, क्रान्तो भवेदञ्जनबिन्दुनान्तः ।
तेनोपमीयेत ललाटमस्य, कस्तूरिकास्थासकचित्रगर्भम् ॥१३॥
कान्तिच्छटाऽऽच्छादितचार्वपाङ्गा - वपि प्रदत्ताधिकनेत्रशोभौ ।
गण्डौ तदीयौ न हि चन्द्रपार्श्वे, चकोरयोर्जातु न चोयते श्रीः ॥१४॥
नासा तदीया सरलोन्नता च, विस्तीर्णनेत्रोपगता सदाऽधात् ।
जगज्जयप्रस्थितमन्मथस्थो - ल्लसत्पताकध्वजयष्टिलक्ष्मीम् ॥१५॥
ओष्ठोऽप्यभाच्छोणमणिप्रकाशः, श्मश्रुश्रिया प्रापितकान्तकान्तिः ।
प्रवालविच्छेद इवेन्द्रनील - स्थलीनिवेशेन विशेषदीप्तः ॥१६॥
तस्याऽऽबभौ श्मश्रुविनीलपङ्क्तिः, सौरभ्यपात्रं परितो मुखाब्जम् ।
भृङ्गावली नूनमपूर्वगन्ध - लुब्धोपविष्टा प्रविहाय पद्मम् ॥१७॥
अंसस्पृशौ तस्य सुसन्निवेशौ, रराजतुः कर्णविलोलदोले ।
मृगेक्षणादृष्टिविलासिनीना-मन्दोलनायेव कृते विधात्रा ॥१८॥

शक्तित्रयं चारुगुणत्रयं च, राज्ये व्रते चाऽऽत्मनि सन्निधास्ये ।
इतीव रेखात्रितयं स कण्ठे, बभार संमूचयितुं महात्मा ॥१९॥

वक्षःस्थले हेमकपाटकान्तौ, श्रीवत्सराट् तस्य विनीलरोमा ।
सुमेरुविस्तीर्णशिलोपविष्ट - सत्कृष्णसारश्रियमाचकर्ष ॥२०॥

तस्यांसकुम्भौ रुचिरौ सुपीनौ, भातः स्म सौन्दर्यसुधारसेन ।
पूर्णौ वधूदृष्टिचकोरिकाणां, तृप्त्यै धृतौ चित्तभुवैव नूनम् ॥२१॥

गजेन्द्रहस्ताविव बाहुदण्डौ, मानस्य दत्तः स्म तरोरिवान्तम् ।
मनस्विनीनां हृदि विद्विषां च, हेलाविलासोल्ललितौ तदीयौ ॥२२॥

पञ्चाननस्येव तनूदरं सद्वृत्तं महाशौर्यनिधे रराज ।
वक्षःस्थलीशैलशिलाभरेण, नितान्तमाक्रान्तमिवाऽस्य यूनः ॥२३॥

ऊरू तरुस्कन्धदृढौ तदीयौ, रराजतुः कुङ्कुमकान्तिचौरौ ।
यावस्य दिक्चक्रजये प्रशस्ति - स्तम्भश्रियं धारयतः स्म कान्तौ ॥२४॥

अपूर्वपङ्केरुहकान्ति तस्य, पदद्वयं यत्र हि नाललक्ष्मीम् ।
जङ्घे विपर्यस्तचये तदूर्ध्वं, सरोमिके चंक्रमणेष्ववधत्ताम् ॥२५॥

कि वर्णितैस्तस्य परैः प्रतीकै - र्यदेकमप्यास्यमनर्घ्यमस्य ।
पयोनिधेश्चन्द्र इवाऽद्वितीयो, मणिर्मणीनामनणुप्रकाशः ॥२६॥

विडम्बितव्योममणिप्रकाश - श्चूडामणिर्मूर्द्धनि तस्य चाऽभात् ।
प्रभाप्रदेशात् प्रचुरप्रतापै - राच्छादयन्नूनमिलाभृतोऽग्रे ॥२७॥

रत्नोच्चरच्चारुमरीचिबद्ध - शक्रायुधद्वन्द्वमरोचताऽस्य ।
कर्णावतंसद्वयमास्यचन्द्र - मैत्र्यागतं युग्ममिवान्यदिन्द्वोः ॥२८॥

मुक्ताकलापोऽपि तदीयकण्ठे, लुठन्नरोचिष्ट विभक्तमूर्त्तिः ।
वक्त्राब्जसौन्दर्यपयोधिनिर्यत् - सुधाप्रवाहद्वितयानुकारी ॥२९॥

तस्याऽद्युतत् व्यायतबाहुशाखी, वैडूर्यकेयूरमयूरशाली ।
यत्र ध्रुवं ज्ञातिविशेषयोगाद - नर्त्ति रामेक्षणनीलकण्ठैः ॥३०॥

इत्थं महाश्चर्यकृदङ्गभाजः, कक्षां कथङ्कारमसावनङ्गः ।
विगाहते स्म क्वचिदीक्षितः कि, नग्नं सुवेषेण तुलां दधानः ॥३१॥

हेलासदर्पारिसहस्रकण्ठ - च्छेदैकवीरेण कुमारराजा ।
स्पर्द्धाप्यनङ्गस्य तपस्विनः का, कपालिनाप्याशु पराजितस्य ॥३२॥

संवीक्ष्य तं चन्द्रमिवाऽभिरामं, रामाः क्षणात् स्वेदमुचो बभूवुः ।
शशाङ्ककान्तप्रतिमा इवाक्षि - प्रस्पन्दवैमुख्ययुजः समन्तात् ॥३३॥

अपूर्ववीर्याश्रयिणश्च तस्य, श्रुत्याऽपि विख्यातपरार्द्ध्यसौर्याः ।
चकम्पिरे वैरिनृपाः सभासु, ग्रीष्मे निवातास्वपि लोलनेत्राः ॥३४॥

जरद्गवी कामदुघा वृषच्च, चिन्तामणिर्दारु च कल्पशाखी ।
बभूव चिन्तातिगदत्तदानैस्तस्मिन् कृतार्थीकृतविश्वविश्वे ॥३५॥

विदग्धगोष्ठीष्वपि वाग्विलासः, सर्वातिशायी विससार तस्य ।
प्रसन्नगीर्दत्तनिजानवद्य - विद्यौघसम्पूर्णतयेति मन्ये ॥३६॥

दाक्ष्य-क्षमा-न्याय-वशित्वमुख्यास्तं शिश्रियुर्धामगुणा अधृष्यम् ।
सर्वे समं स्वीयपदेषु नूनं, प्रत्येकमुत्त्रस्ततयेव युक्ताः ॥३७॥

राज्ञः प्रजानां च मुदेकहेतु - रैधिष्ट कल्पद्रुमवत् स तत्र ।
कस्यैव किं स्यात् सहकारपाकः, प्रमोदपोषाय निसर्गकान्तः ॥३८॥

स्वीकारितानेककुटुम्बिनीकः, कुलव्यवस्थावशतः पितृभ्याम् ।
तथाऽप्यसौ तासु न सक्तचेता, अभूत् कलाभ्यासनिबद्धरागः ॥३९॥

तस्याऽभवन्मित्रममित्रमत्त - द्विपेन्द्रसिंहोऽथ महेन्द्रसिंहः ।
सौजन्यशौर्यविनिरुत्तमानां, निधिर्गुणानां भुवि राजबीजी ॥४०॥

यः सूरसूतोऽपि न पङ्गुरासीत्, कालिन्दिकाजोऽपि न यो भुजङ्गः ।
समं कुमारेण विनीतशस्त्रो - ऽप्यधत्त रौद्रं परशुं न जातु ॥४१॥

यस्याऽनुरागः स सनत्कुमारे - ऽत्यशेत यो लक्ष्मणरागमुग्रम् ।
रामे न सीमास्त्यथवा प्ररूढ-प्रेम्णो मृगाक्षीष्विव मन्मथस्य ॥४२॥

यः संयुगे शश्वददृष्टपृष्ठः, परैर्नरैश्चन्द्र इवोपसर्पन् ।
सौम्योऽपि तेजःसदनत्वतः को-ऽथवेदृशः स्यात् परिभूतिपात्रम् ॥४३॥

वैदग्ध्यबन्धुः सदनं कलानां, कौलीन्यसिन्धुः पदमिन्दिरायाः ।
एकोऽपि योऽसङ्ख्यगुणाश्रयोऽभूत्, पटो यथाऽऽच्छादितविश्वगुह्यः ॥४४॥

पद्माकरेणेव सरो वसन्ते, यः पुष्पबाणेन यथा वसन्तः ।
लीलाचयेनेव च पुष्पबाणो, व्ययुज्यत प्रेमभरान्न तेन ॥४५॥

प्रेक्षासु गोष्ठीषु गृहे बहिर्वाऽन्वियाय यः स्वप्रतिबिम्बवत्तम् ।
प्रेम्णा वियुज्येत हि चक्रयुग्मं, किं कर्हिचित् स्वात्मवशं दिवाऽपि ॥४६॥

सङ्ख्याद्विषः सन्त्यपरे वयस्या, अस्याधिकं किन्तु महेन्द्रसिंहे ।
प्रेमान्यपुष्टस्य वनप्रियत्वे-ऽप्याऽऽम्रे पर कोऽपि हि पक्षपातः ॥४७॥

कदाचिदुन्मत्तगजेन्द्रयुग्म - मन्योन्यदन्तप्रहृतिप्रचण्डम् ।
सोऽयोधयत् मध्यधृतोरुरोधं, सक्रोधमूर्ध्वीकृतचण्डशुण्डम् ॥४८॥

अश्वीयमुटचं गतिपञ्चकेन[१], स्वेदच्छलोच्छालितमध्यतेजः ।
सोऽवाहयद् वायुजवं महौजा, वेगेन गाढासनबन्धधीरः ॥४९॥

विव्याध राधां दृढमुष्टिदृष्टि-र्धनुर्धरः क्वापि सहेलयैव ।
मृगाधिराजस्य हि कुम्भिकुम्भ-भेदेऽन्यदुःखेऽपि कियान् प्रयासः ॥५०॥

सलीलनृत्यत्पणयोषिदङ्ग - हारप्रभेदप्रथितोरुकामाः ।
प्रेक्षाः कटाक्षेक्षणरङ्गशाला, प्रैक्षिष्ट सोऽव्यग्रमना विलासी ॥५१॥

कदाचिदुद्यानगतः सहासं, खेलन्नधात् पुष्पशरस्य लक्ष्मीम् ।
पुष्पेषुभिस्ताडितहास्यवल्गद् - विदग्धकान्ताहृदयः स कामी ॥५२॥

अङ्गावनामोन्नतिबन्धमोक्ष - निष्णाततेजस्वितरस्विमल्लैः ।
सार्द्धं कलालङ्कृतवज्रकाय - श्चक्रे नियुद्धश्रममेकदाऽसौ ॥५३॥

धर्मश्रुतौ यौवतसङ्गमे च, द्रव्यार्जने च क्रमते स्म धीमान् ।
त्रिवर्गसिद्धौ न हि राजबीजो, योग्यो भवेत् क्वापि निरुद्यमः सन् ॥५४॥

प्रवर्त्तमानः करियोधनादा-वप्येष सौम्यः परिदृष्टमात्रः ।
ददौ वधूनां नयनप्रसादं, नानाफला यत् कृतिनां प्रवृत्तिः ॥५५॥

तस्याऽनुरक्तस्य च नीतिवध्वां, कीर्त्यङ्गनाऽत्यन्तविमानितेव ।
अशिश्रियद् दूरदिगन्तराणि, सुदुस्सहो हि प्रतिपक्षमानः ॥५६॥

---

१. आस्कन्दितं, चौरितकं, रेचितं, वल्गितं, प्लुतं गतयोऽमूः पञ्चधाराः ।

प्रजानुरागं गुणसङ्गमं चावेक्ष्य क्षितीशोप्युपमानबाह्यम् ।
तस्याऽवदत् मन्त्रिवरानिदानीं, युक्ताऽत्र पुत्रे युवराजलक्ष्मीः ॥५७॥

सर्वेऽप्यमात्या अपि तस्य वाक्यं, तथेति सम्यक् प्रति शुश्रुवांसः ।
चक्रुः प्रमोदं नृपमानसस्य, छन्दोनुवृत्तिर्हि मुदे न कस्य ॥५८॥

प्रोचुश्च ते देव किमन्यथा स्याद्, दृष्टिः कदाचित् सुविवेकभाजाम् ।
भवादृशां नैव विपर्ययो यद्, गङ्गाप्रवाहस्य गतौ कदाऽपि ॥५९॥

नीतिः क्वचित्तत्र भवेन्न शौर्यं, धैर्यं क्वचित्तत्र भवेन्न रूपम् ।
विशुद्धनिश्शेषगुणाधिवासः, कुमारवत् कोऽपि न दृश्यतेऽत्र ॥६०॥

सत्स्वप्यसाधारणसद्गुणेषु, पुण्योदयः कार्यगतौ गरीयान् ।
अत्रैव सुस्वप्नविलोकनाद्ये - र्लिङ्गैः परैः स प्रथित पुराऽपि ॥६१॥

तद्यौवराज्ये विनिवेश्यतां स्राक्, सूनुः समर्थश्च जनप्रियश्च ।
न लभ्यते स्वर्णमहो सुगन्धि, सन्नद्धमूर्त्तिर्मृगनायको वा ॥६२॥

ततः समाहूय कुमारराजं, राजाऽऽदिदेश प्रणयप्रगल्भम् ।
वत्स ! प्रजापालनमेव धर्मः, क्षोणीश्वराणां प्रथमः प्रतीतः ॥६३॥

कुलक्रमादेव विधीयतेऽसा - वस्माभिरुत्त्रासितशत्रुपक्षैः ।
तथापि शक्तेरनतिक्रमेण, त्वयाऽपि तत्र क्रियतां प्रयत्नः ॥६४॥

प्राज्ञोऽपि नाभ्यासमृतेऽपि राधा-वेधं विधत्ते वशितां हृदो वा ।
तन्मन्त्रसिद्धेरिव पूर्वसेवां, राज्यस्य सन्धेहि कुमारभावम् ॥६५॥

दुष्टाऽक्षमित्वं नयशालिता च, द्वयं तदङ्गं सहजं च तत्ते ।
सर्पाशनं प्रावृषि नर्त्तनं चानुशिष्यते केन नवः शिखण्डी ॥६६॥

किन्त्वङ्ग ! तारुण्यमरण्यवह्नि - र्विवेकतृष्णाप्रसरस्य दीप्तः ।
सदेन्द्रियार्थास्तु शुभप्रवृत्ते - र्विबाधका राहुकरा इवेन्दोः ॥६७॥

दुष्टद्विपोच्छृङ्खलचेष्टितानि, समर्पितापंदि वतेन्द्रियाणि ।
मनोवनौका अपि पक्ष्मलाक्षी, लताविलासोत्सुक एव लोलः ॥६८॥

स्त्रियोऽपि साक्षान्नरपक्षिपाशा, द्यूतानि कूटानि धनैणकानाम् ।
खलाः खलीकारपदानि नीतेः, शचीपतेरप्यवशैव लक्ष्मीः ॥६९॥

कामोऽपि दुर्वारतरः पिशाचः, क्रोधोऽपि योधः समदो बलीयान् ।
हर्षश्च दारिद्र्यमिवाऽतितुच्छ - भावप्रदः स्यादनिशं प्रवृत्तः ॥७०॥

दुष्पूरगर्त्तप्रतिमोऽत्र लोभो, मानो गुरुष्वप्यपमानदर्शी ।
इति प्रभूतारिवशः कथं स्यात्, सुखी सुविद्वानपि जीवलोके ॥७१॥

तद्वत्स ! निष्पङ्कयशःप्रियेण, षड्वर्ग एष प्रथमं विजेयः ।
नाध्वंसिते संतमसे प्रकाशः, प्रवर्द्धते यद्भुवि भानुनाऽपि ॥७२॥

यदेष सर्वव्यसनप्ररोहः, प्रोन्मूलिते चाऽत्र न सङ्कटन्ते ।
दोषा हि तारुण्यवशित्वमुख्या, न कार्यसिद्धिर्यदकारणा स्यात् ॥७३॥

ज्ञानाङ्कुशेनाऽऽत्मवशो विधेयः कुमार्गगो यौवनमत्तदन्ती ।
न जातु लब्धप्रसरो भुजङ्गः, क्षेमाय कस्याऽपि महाविषः स्यात् ॥७४॥

विदग्धमप्यात्तसमस्तवित्तं, निष्ठ्यूतलीलामधिरोपयन्ति ।
यास्तासु रम्यास्वपि पण्ययोषित्स्वासज्यते केन विचक्षणेन ॥७५॥

विषाक्तबाणप्रतिमः परं यः, समूलकाषं कषति क्षणेन ।
संसर्गतोऽसौ व्यथको मुखेन, कर्णेजपः कैः श्रियते सकर्णैः ॥७६॥

यासु प्रमोदेन विसारिताक्षः, सद्दृष्टिरप्यन्धतुलां भजेत ।
कामेन नूनं हृतलोचनत्वात्, तास्वायताक्षीष्वनुरज्यते कः ॥७७॥

विमृश्यतां वत्स ! कथैव तस्य, शूरेषु का यः सुभटः सदङ्गः ।
नग्नाटभर्गक्षतपौरुषेणा - ऽनङ्गेन जीयेत जगद्विनिन्द्यः ॥७८॥

अपि प्रवृत्तिं कुरुते न धन्यो, द्यूतेऽपि नासादि विनाशशूरे ।
इहैव सन्दर्शितनारकोरु - दुःखे क्षुदम्बुप्रतिषेधनाग्न्यैः (ग्र्यैः) ॥७९॥

उत्त्रस्तनश्यद्घनजन्तुघात - प्रदत्तपापर्द्धिमपास्तकीर्त्तिम् ।
प्रदीक्षितो हन्तुमरीन् रणार्हान्, पापर्द्धिमप्युत्सृजति प्रवीरः ॥८०॥

उच्छृङ्खलं वाजिवदिन्द्रियं भवे - देकैकमप्याशु विपन्निबन्धनम् ।
पञ्चापि तादृंशि तु तानि पावकाद्, दाहं ध्रुवं कोटिगुणं ददत्यहो ॥८१॥

अनारतं नीचगतिप्रसक्तया, गाम्भीर्यराशेः सुतयाऽपि पापया ।
वाच्यत्वमानायि पिता यया श्रिया, तयाऽपि माद्यन्ति कथं विवेकिनः ॥८२॥

अश्वादयो ह्यल्पधियाऽपि दम्या-स्ततो न तेषां दमनेऽपि कीर्त्तिः ।
इतीव धन्या दमयन्ति चेतः, सुदुर्दमं शेषजनैः सदा यत् ॥८३॥

मनोरथेनाऽपि पराङ्गनाया, निपातयत्याशु स विक्रमोऽपि ।
लङ्केशवत्स्वं नरकेऽतिघोरे, तेनाऽन्ययोषां सुधियस्त्यजन्ति ॥८४॥

तत्पुत्रपुत्रीयितविश्वविश्वः, सौजन्यपण्यापणतां भजेथाः ।
दौर्जन्यपर्जन्यभिया सूदूरं, नश्यन्ति यन्मानवराजहंसाः ॥८५॥

प्रजानुरागः परिवर्धनीयस्त्वया सरिन्नाथ इवोडुपेन ।
न हि श्रियस्तद्विकलस्य राज्ञो, भवन्ति भोगा इव दुर्गतस्य ॥८६॥

सन्न्यायनिष्ठः सदयो भव त्वं, प्रजानुरागाय यथैव रामः ।
यदेतदूनः स्वयशःकुलादेः, सम्पद्यते रावणवत् क्षयाय ॥८७॥

पराक्रमः सर्वगुणेषु राज्ञां, शस्यो विहङ्गेष्विव वैनतेयः ।
प्रकृष्टभावाद् विकला हि तेन, तृणादपि स्युर्लघवो नरेन्द्राः ॥८८॥

धैर्यक्षमावैनयिकाऽऽर्यचर्या-मुख्यान् गुणान् स्वात्मनि सन्निदध्याः ।
उच्चैःपदाय स्तनपीठशय्यां, हारोऽपि नाऽऽप्नोति गुणापवृक्तः ॥८९॥

किं भूयसा वत्स ! तवोदितेन, नैसर्गिकासङ्ख्यगुणस्य मूलात् ।
किं चन्द्रमाः केनचिदद्य पाण्डु-र्विधीयतेऽन्येन सदाऽवदातः ॥९०॥

तत्कार्यमार्याचरितेन कार्यं, त्वयाऽधुना सद्गुणवल्लभेन ।
ब्रह्माण्डभाण्डं पयसेव पूर्णं, येनाऽऽदधासि स्वयशोऽमृतेन ॥९१॥

इत्यादि सप्रेमसमग्रमन्त्रि - प्रजासमक्षं क्षितिपोऽभिधाय ।
विनम्रवक्त्रं विनयात् त्रपायाश्चारोप्य भद्रासनभूधरेन्द्रे ॥९२॥

ध्वनद्भिरत्युद्भटनादतूर्यैः, स्फूर्जद्यशःश्रीपटहैरिवाऽस्य ।
तं सर्वमङ्गल्यविधानपूर्वं, निवेशयामास स यौवराज्ये ॥९३॥

युग्मम्

शीतांशुः शरदेव पद्ममलिनेवेन्दुद्युतेवाम्बरं,
हारेणेव कुचस्थलं पिकरुतेनेवाऽखिलं काननम्।
हंसेनेव सरः स्मरस्मितविलासेनेव मुग्धानना,
रेजे राजसुतः प्रजाप्रमदनोऽसौ यौवराज्यश्रिया ॥६४॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते यौवराज्याभिषेको
नामाष्टमः सर्गः। छ.। ८।

नवमः सर्गः

प्राप्य श्रियं तामधिकं व्यराजद्, राकामिवाऽखण्डतनुः शशाङ्कः।
ऐधिष्ट हर्षेण सह प्रजानां, महोऽपि सर्वत्र पुरेऽथ तत्र ॥१॥

भूपोऽपि तत्रार्पितराज्यभारः, सुखी मनाक् संववृते चिराय।
क्षोणीसमुत्क्षेपसहेऽहिराजे, धरानिघृष्टांस इवादिकोलः ॥२॥

ततो महाराजकुमारकाभ्यां, समञ्जसं जात्यतुरङ्गमाभ्याम्।
समं वहद्भ्यामिव कल्पितार्थ-प्रसाधको राज्यरथो व्यधायि ॥३॥

उज्जम्भिताम्भोरुहचारुवक्त्रो, नानासुगन्धिप्रसवाभिरामः।
वनप्रियाकूजितकान्तगीति - रथागमत् कामुकवद्वसन्तः ॥४॥

पुष्पेषु सर्वेष्वपि दत्तहासः, कामिष्विवाधीननिजप्रियेषु।
मरुत्प्रणुन्नासु लतासु लास्यं, यच्छन्नशेषाष्विव कामिनीषु ॥५॥

स निर्मलेन्दूद्भटमीनकेतु - प्रगल्भमित्रो जगदप्यजैषीत्।
सविष्णुभीमः सकलं किरीटी, यथा कुरूणां बलमुग्रधामा ॥६॥

युग्मम्।

समुन्मिमील स्वत एव तत्र, शृङ्गारयोनिर्जनमानसेषु ।
सरस्सु पद्मौघ इव स्वभावो, नाऽपेक्ष्यते कारणमङ्गबाह्यम् ॥७॥

सनत्कुमारोऽपि महेन्द्रसिंह - मुख्यैर्वयस्यैरुडुभिर्यथेन्दुः ।
विराजमानस्तुरगाधिरूढैः, सहस्रशः पौरजनैर्विदग्धैः ॥८॥

उच्चैःश्रवाः किं भुवमागतोऽयं, शक्रेण भक्त्या प्रहितः कुमारे ।
सूर्यस्य रथ्यः किमु वाङ्गरौक्ष्य-लोभेन नेत्रक्षणदोऽवतीर्णः ॥९॥

इति तर्क्यमाणमनिलोल्लासिगतिं प्रवरलक्षणनिवासम् ।
समुपारुरोह तुङ्गं, तुरङ्गमं जलधिकल्लोलम् ॥१०॥
त्रिभिर्विशेषकम् ।

अन्तःपुरेणाऽप्यनुगम्यमानः, पुराद् विनिर्गत्य स सैन्यराजिः ।
उद्यानमापाह्वयदेनमारान्नूनं रवैरुन्मदकोकिलानाम् ॥११॥

विलासिनीनामिव पुष्पभाजां, वासन्तिकानामुपगूहनानि ।
दृढानि पुन्नागविटाः परापुर्यत्राऽनिशं तन्मकरन्दकाख्यम् ॥१२॥
युग्मम् ।

सा श्रीर्या स्वैर्वयस्यैः सह समुपनता भुज्यते ताम्रचूड -
न्यायेनाऽन्तःप्रसर्पद्बहलमदभरैः स्वैरसंवलिगताढ्यैः ।
पौरैरन्तःपुरैरित्यभजत सवयोभिश्च तत्काननं स,
श्रीमान् कामी कुमारः सुरपतिरिव सन्नन्दनं नन्दनं स्राक् ॥१३॥

रन्तुं प्रवृत्ते रभसात् कुमारे, समं वयस्यैर्वनितागणैश्च ।
तत्राऽवदन्मागधमौलिरेको, वसन्तमुद्दिश्य सनत्कुमारम् ॥१४॥

देवेदानीं वहन्ति त्वदरिमृगदृशां चम्पकान्यास्यलक्ष्मीं,
सन्नद्धानि द्विरेफैस्तदशुभचरिताकीर्त्तिशोभैः समन्तात् ।
मञ्जीरभ्राजिकान्ताचरणहतिमृतेऽप्यात्तहासातिरेकैः,
रक्ताशोकैः प्रतापैरिव तव बहलैर्भूतलं भाति कीर्णैः ॥१५॥

प्रतिवनमलिनादापूर्वगीतिप्रसक्तैः,
स्थिरतरपदगत्या वाहनैणस्य नूनम् ।
मलयजतरुसङ्गोद्गन्धयो मन्दमन्दं,
मलयगिरिवयस्या वायवोऽमी वहन्ति ॥१६॥

श्रीखण्डाश्लेषमाद्यद्विषधरगरलोद्‌गारगाढानुषङ्गान्,
मन्ये मूर्च्छातिरेकं ददति विरहिणां हारिणोऽमी समीराः।
आनन्दं निर्भराम्भःकवलनकलनान्निघ्नकान्ताकुचानां,
देव ! त्वद्दृष्टिपाता इव रिपुवपुषां भक्तिभाजां च तुल्यम् ॥१७॥

पापान्यस्मन्निरोधे प्रहसितवदनान्याविरासन् प्रसक्ता-
न्यस्मन्मित्राम्बुजन्मद्विषति च शिशिरे चन्दनौघासहिष्णौ।
कुन्दानीति प्रहन्तुं ददिव परमास्कन्दमाबद्धरोषो,
धावत्याक्रान्तविश्वस्त्वमिव रिपुनृपान् मारुतो दाक्षिणात्यः ॥१८॥

पुनरपि मधुमासो दुर्लभः कामकेली,
वसतिरिति निरस्तद्वन्द्वमालिङ्गनेभ्यः।
क्षणमपि न विरेमुः कामिनः कामिनीनां,
रिपव इव तवान्तस्तापसंश्लेषणेभ्यः ॥१९॥

मधोः स्वमित्रस्य विधुर्विलोक्य, लक्ष्मीमिवोन्निद्ररुचिर्बभूव।
तवेव विस्फारितकैरवाक्षः, पद्माभिरामस्य महेन्द्रसिंहः ॥२०॥

नानाप्रसूनोच्छलितैः परागैरुद्धूलितं काननमद्य भाति।
जगज्जयायोद्यमिनः स्मरस्य, नृपस्य नूनं बलरेणुपूरैः ॥२१॥

कान्तावक्त्राब्जवान्तादुभुतमधुरमधूद्गन्धिगण्डूषसेके -
नेवोज्जृम्भप्रसूना किरति विरहिणां मानसं केसराली।
रक्तश्यामातिपाण्डुप्रसवकवचितः संदधातीश ! भास्व -
न्नानारत्नोज्ज्वलस्य स्फुटितकुरबकस्त्वत् किरीटस्य कान्तिम् ॥२२॥

विदधति सहकाराः कोकिलाकूजितानां,
द्विगुणतरकलत्वं स्वप्रवालप्रदानैः।
श्रितजनविषयः स्यादुन्नतानां तवेव,
प्रवरतरसमृद्धिस्फातये पक्षपातः ॥२३॥

किं कामेन प्रयुक्ता. शितिदलगुलिका वश्यतायै जनानां,
किं वा कालेन दंष्ट्राः क   ा व्यञ्जिता विप्रयुक्तान्।

किं वा बीजानि वृक्षैस्तमस उपहितान्येवमाशङ्क्यमाना,
मन्येऽकीर्त्तिप्रतानाः प्रतिवनमलयस्त्वद्द्विषो सञ्चरन्ति ॥२४॥

विष्वक्सञ्चारिमत्तस्मरविजयगजस्फारदानाम्बुगन्ध -
च्छायामेलाफलानि स्फुटनपरिमलोद्गारतः संवहन्ति ।
देव ! त्वत्कीर्त्तिपुष्पस्रगुदितमधुरामोदलीलां परां वा,
को वा नानेकलक्ष्मीक्षितिरिह भवति प्रौढपुष्यद्गुणाढ्यः ॥२५॥

स मदनवनिताङ्गश्लिष्टवत्पुष्पपूर्णः,
कुरबकतरुरुच्चैर्नीचकोऽप्यद्य जातः ।
कुसुमसमयधाम्नाम्नातमप्यन्ययोगात्,
त्यजति हि निजवृत्तं सत्वरं प्रायशोऽल्पः ॥२६॥

विभाति नवचम्पकस्रगुपविष्टभृङ्गावलिः,
प्रियाकरसमर्पिता तव विशालवक्षःस्थले ।
वसन्तवनसम्पदा त्वदवलोकनाय ध्रुवं,
समीपतरवर्तिनी दृगुपसर्पिता कौतुकात् ॥२७॥

प्रियाशिरसि शेखरो व्यरचि सादरं यस्त्वया,
मुदा वहति साऽथ तं त्रिजगतो महामानिनी,
न हि प्रियतमाजनो निजपतिप्रसादाद्वरा -
ममर्त्यपतितामपि स्वहृदि मन्यते सम्मदात् ॥२८॥

आंदोलिता यद्भवतैव दोलारूढप्रियागाढतरानुरागात् ।
तत्तत्सपत्नीवदनानि जज्ञुः, श्यामानि मानो हि सुदुस्सहोऽरौ ॥२९॥

रामा हि दोलासु समुच्छलन्त्यः, समीपगा आम्रगकोकिलानाम् ।
गायन्ति यत्तेन तदङ्गनानां, विपक्षकालुष्यमुपानयन्ति ॥३०॥

ईषद्गलत्पीनकुचावृतीनां, दोलासु लोलासु पुराङ्गनानाम् ।
विलोकनं लोलदधोंशुकानां, क्षणोऽभवत् स्वर्गसमो विटानाम् ॥३१॥

अभ्यासभाजं सहकारमेषा, वासन्तिका पुष्पवती श्रयन्ती ।
उत्कण्ठयत्याशु सभर्तृकाणां, तथैव संश्लेषविधौ मनांसि ॥३२॥

वसन्तराजस्य वनश्रिया मा, समागमे सम्प्रति वर्त्तमाने ।
पलाशराजिः कुसुमावृतत्वात्, कौसुम्भवस्त्रेव विभाति नृत्ता ॥३३॥

इति प्रियालापिनि मागधेशे, प्रसन्नमालोक्य कुमारमेका ।
प्रियासखी मागधिकाऽर्द्धवृद्धा, पपाठ माधुर्यवदेवमुच्चैः ॥३४॥

शरीरिणां ह्लादकरः शशीव, केलेरनङ्गस्य विलासगेहम् ।
अनन्यसाधारणकार्यकर्त्ते - त्याश्चर्यचर्यानिधिरेष कालः ॥३५॥

अलिनिनदकलानि स्रस्तशीतार्दनानि ,
त्रिदशनिलयलीलासृञ्जि नित्यं धरायाः
सरसिरुहविकासाधानदक्षाण्यहानि ,
क्षतशिशिरकलान्येतानि ते तर्जयन्ति ॥३६॥

हृष्टोऽपि चास्या वचनेन हास्यान्, न्ययुङ्क्त चेटीं पठितुं कुमारः ।
साप्यप्रगल्भाप्यपठन्निदेशात्, तस्या विलज्ज्या स्वविभोर्यदाज्ञा ॥३७॥

हेमन्तविच्छायितबन्धुशोका - दिवाप्यमालिन्यमिहाम्बुजानि ।
सतेजसं तं हि विलोक्य नूनं, शोभां भजन्ते वनितननानाम् ॥३८॥

गीतैः सपानैः कुसुमौघहासैः, काव्यैः कथाभिः सुविलासिभोगैः ।
दोलाविलासैश्च वनं मनोज्ञैः, कान्ति जयत्येतदहो ! दिवोऽपि ॥३९॥

उत्तेजयत्यश्वकदम्बकं नो, भास्वान् वसन्तोत्सवकेलिलोलः ।
एतद्वनं नूनमयं ह्यहास्यन्, महान्ति तेनाद्य दिनानि नाथ ! ॥४०॥

श्रुत्वेवमस्या वचनानि मागधी, सहस्ततालं युवराजमब्रवीत् ।
मूर्ध्नां विहीना तव पण्डिता ध्रुवं, मूर्द्धन्यहीनं कथमन्यथा वचः ॥४१॥

ततः सहासे सकलेऽपि लोके, विचक्षणा मागधिकेऽतितुष्टे ।
चेटी विलक्षाप्यवदत् सकर्णा, भद्रं किलास्या अपि वीक्ष्यते नो ॥४२॥

अनोष्ठवक्त्रा यदियं वराकी, सभास्वयोग्या विदुषां नृपाणाम् ।
ओष्ठ्यस्य वर्ण्यस्य न जातु गन्धो-ऽप्यस्या वचस्यस्ति बृहद्रदायाः ॥४३॥

सर्वेषु तत्र प्रतिभावतोय - मिति स्तुवत्सु प्रमनाङ्कुमारः ।
विद्वत्सु तस्यै व्यतरत् समग्रं, लग्नं निजाङ्गे शुकभूषणौघम् ॥४४॥

रंत्वा नानाविनोदैरिति दिनमखिलं प्रेमवैदग्ध्यसारैः,
प्रस्थास्नौ स्वं पुरं प्रत्यभिनवमदने साङ्गलोले कुमारे।
जात्येष्वारोपितोद्यत्कनकपरिकरेष्वश्ववृन्दारकेषु,
स्वस्वामिभ्यो नियुक्तैः सपदि च समुपस्थापितेष्वस्थिरेषु ॥४५॥

अश्वं जलधिकल्लोलं, वायुलोलं समुन्नतम्।
लघुकर्णं विशालोरः, पीठं वक्रितकन्धरम् ॥४६॥

कोमलं रोमसु स्थूलकं पिण्डयोः,पाण्डिमाडम्बरैः क्षीरधेः सादरम्।
पृष्ठदेशासन श्यामरत्नांशुभि-र्भूषयन्तं घनैश्चक्रवालं दिशाम् ॥४७॥

काञ्चनालङ्कृतिभ्राजितग्रीवकं, शारदं वारिदं विद्युतेवाङ्कितम्।
वल्गिकानेकरत्नांशुसम्पादित - व्योमचित्रांशुकोल्लोचकौतूहलम् ॥४८॥

भिद्यवच्छोभनावर्त्तसंवर्गितं, कीर्त्तिपुञ्जानुकारिस्फुरच्चामरम्।
आन्तरेणेव चाध्यासितं तेजसा, सर्वतः फालविस्फोटितक्ष्मातलम् ॥४९॥

आरुरोहामलस्थूलमुक्तास्रज - च्छायया धौतदिग्वामनेत्रामुखः।
यौवराज्याभिषिक्तः स्वमित्रैरसौ, राजपुत्रैः समं भूरिभिर्भोगिभिः ॥५०॥

षड्भिः कुलकम्।

अथ चपलतया तैर्वायुवेगेन गन्तुं,
निजनिजवरवाहाः प्रेरिताः कौतुकेन।
रणशिरसि सरोषैर्धन्विभिः पत्रिपूगा,
इव सममतिजग्मुर्भूयसा रंहसा ते ॥५१॥

तुरगखरखुराग्रक्षुण्ण आसीद् भुवेणु -
प्रकर इनकरौघस्यापि धाताशु नूनम्।
युवनृपवनितानां स्पर्शनं मा स्म कार्षीत्,
स इति झगिति सान्द्रः कञ्चुकीवातिभक्तः ॥५२॥

फणिपतिफणराजिभ्रश्यदुद्रश्मिरत्ना -
स्तृततत बलिसद्मप्राङ्गणं तत्र तूर्णम्।
धरणिरपि चकम्पे सूचयन्तीव शोकं,
स नृपनगरलोकस्याशु सम्पत्स्यमानम् ॥५३॥

गगनमपि निनादे बन्दिनां तूर्यकाणा -
मिव कवचयति द्राक् सैनिकानां च तारे।
युवनृपतितुरङ्गः सिन्धुकल्लोललोलः,
सपदि दिवमभाक्षीत् तार्क्ष्यवत् स्वामिवाही ॥५४॥

समभवदथ तत्र क्षोणिपालाङ्गजानां,
तुमुल उरसि दाहः श्रीकुमाराङ्गनानाम्।
नरपतिरपि शोकश्वासशङ्कुद्वयेनो -
द्दलितहृदयभूमिस्तूर्णमागात् ससैन्यः ॥५५॥

किं नीतो वायुनाऽसौ किमुरगरिपुणा श्रीपतिभ्रान्तिभाजा,
किं वा विद्याधरेण स्वसुतविरहिणा तादृशस्तद्भ्रमेण।
किं दुष्टव्यन्तरेण त्रिदशपरिवृढेनेर्ष्यया वाऽतिकान्तः,
कान्ते कोपात् कयाचिद् विबुधललनया लोलया वा रतेषु ॥५६॥

इत्याद्यनल्पकुविकल्पविसारिजल्प -
गर्भानने निखिलपौरजने सशोके।
स्रस्तालकालिककलङ्कितवक्त्रचन्द्रे,
चान्तःपुरेऽश्रुततिपातितपत्रलेखे ॥५७॥

महेन्द्रसिंहेऽपि विवृद्धमन्यु - ज्वलच्छिखिस्फोटितचित्तवेणौ।
नृपो बभाषे धुरि धैर्यसीम्नां, स्थितः समक्षं वचनं जनानाम् ॥५८॥

त्रिभिर्विशेषकम्।

नासौ केनाऽपि नीतः क्वचिदपि न गतः किन्तु मद्भाग्यशाखी,
विच्छिन्नो मूलतोऽद्य ध्रुवमिति पतितं तत्फलं श्रीकुमारः।
सत्स्वेवाऽन्येषु सर्वेष्ववनिपतिसुतेष्वद्भुटेष्वप्यदृश्यः,
कस्माज्जज्ञेऽन्यथाऽयं परिकुपित इवोन्मुक्तमित्रादिवर्गः ॥५९॥

तत्सम्प्रत्याकुलैरप्यपगतसुकृतैर्मादृशैराप्यते किं,
यामिन्यां सोऽन्तरुद्यद्विरहहुतवहैश्चक्रवाकैरिवार्कः ।
अप्युद्गच्छेत् खरांशुर्निशि न तु कुशलं कर्म केनाऽपि शक्यं,
सन्धातुं जातु सद्यस्त्रुटितमिह सुरेणेव कान्तं निजायुः ।

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते कुमारापहरणो
नाम नवमः सर्गः । छ. । ९ ।

दशमः सर्गः

हिमोपप्लुतपद्मौघश्रीविडम्बिभिराननैः ।
पुरं प्रविविशुः पौरास्तदुदन्तं विना कृताः ॥१॥
सप्रेमाणोऽपि ते तत्र, कर्त्तुं किञ्चिन्न चक्षमुः ।
विधाविवोपरक्ताङ्के नक्षत्राणीव साहसम् ॥२॥
सिंहा इव क्रमभ्रष्टा धन्विनो वाऽच्युतेषवः ।
लक्ष्याद्यथा तथा तस्थुर्विलक्षा राजबीजिनः ॥३॥
अवरोधोऽपि रुद्धान्तमन्युरासीद् विनिश्चलः ।
चित्रार्पित इवोन्मीलनेत्रानुमितजीवितः ॥४॥
वाद्योऽपि नोपससृपुस्तत्र तस्याऽतिदुःखिनः ।
तीव्राशनिविनिर्घातघातितस्येव सर्वथा ॥५॥
उद्योगं तु तदन्वेषे प्रारेभे नरपुङ्गवः ।
मृगेन्द्रा इव कृच्छ्रेऽपि सत्त्वसारा हि सत्तमाः ॥६॥

सैनिकानादिदेशाऽसौ तस्य लाभे पटीयसः ।
जानक्या राघवाधीशस्तारापतिभटानिव ॥७॥

प्रवर्द्धमानधामासावुदीचीं प्रति चात्मना ।
भास्वानिव मधौ शश्वन्मुक्तजाड्यसमागमः ॥८॥

वृतः पत्तिसमूहेन तेजोराशिविराजिना ।
ग्रहराजिश्रिया भूपः प्रतस्थे धैर्यशेवधिः ॥९॥

युग्मम्

महेन्द्रसिंहस्तं तत्र व्यजिज्ञपदनाकुलः ।
गमनाय प्रभौ भक्ताः कृच्छ्रे ह्यात्मनिवेदिनः ॥१०॥

मयि सत्ययमायासः साम्प्रतं न तव प्रभो ! ।
किमस्यति तमोनूरौ यतेत स्वयमंशुमान् ॥११॥

न देव ! तव नष्टोऽयं किन्तु सर्वस्य बाधते ।
किमस्तान्तरितः सूर्यः कस्यचित्तमसे भवेत् ॥१२॥

तं विना देव ! न प्राणा मम स्थातुमपीश्वराः ।
कियत्तिष्ठन्ति पद्मानि प्रफुल्लानि दिनात्यये ॥१३॥

तद्वयस्येन स मयाऽन्वेष्यस्त्वं तिष्ठ निर्वृतः ।
अब्जानन्वेषणे का हि भास्करस्यापि मित्रता ॥१४॥

प्रोचे सचिवमुख्यैरप्यसौ भूपालपुङ्गवः ।
हनूमानिव दक्षोऽयमीदृक्कार्ये नियुज्यताम् ॥१५॥

भवतं साहसिकं शूरं विना भृत्यं न सिद्धयः ।
भूपतीनां न हि द्योताः क्वापि भानुमृते स्फुटाः ॥१६॥

न लभेय प्रवृत्तिं चेत् स्वमनोनेत्रनन्दिनः ।
तच्चितामधिरोहामि वीरपत्नीव निर्धवा ॥१७॥

इत्याधाय महासन्धां नृपादिष्टश्चचाल सः ।
परिच्छदेन स्वल्पेन तेजसा जितकेसरी ॥१८॥

युग्मम् ।

पुरग्रामाकराकीर्णां महीमालोकयन् मुहुः ।
तदर्थं भीषणां प्राप राक्षसीमिव सोऽटवीम् ॥१९॥

विभीतक[1]द्रुमा यत्र कायत्काककुलाकुलाः ।
भूतानेवाऽऽह्वयन्तीव शाखादोर्भिः प्रसारितैः ॥२०॥

भुजङ्गशीर्षरत्नांशुद्योतिच्छिद्रशताकुला ।
या वर्षा द्यौरिवाऽऽभाति खद्योतोद्योतिता निशि ॥२१॥

पलाशाः पुष्पसंवीता यत्र वातप्रकम्पिताः ।
पलाशा इव नृत्यन्तो रक्ताक्तवपुषो बभुः ॥२२॥

ताली हिंतालतालाली कोटिशो यत्र दृश्यते ।
रुक्षा पत्रदरिद्रा च किं राज्ञां सन्ततिर्यथा ॥२३॥

पदे पदे महादावप्लुष्यमाणमृगध्वनीन् ।
या तुष्टस्यान्तकस्येव धत्ते किलकिला-रवान् ॥२४॥

मृगाधिपतयः क्रूरा यत्रोच्छृङ्खलवृत्तयः ।
मृगानभिद्रवन्त्याशु कर्मांशा इव देहिनः ॥२५॥

उद्दण्डकोदण्डकराः सर्वसत्वान्तकारिणः ।
किराता यत्र दृश्यन्ते कृतान्तस्येव किङ्कराः ॥२६॥

पुण्डरीकद्युति[2] सिंहं ज्योत्स्नां यत्र पतिभ्रमात् ।
पुण्डरीकवधूर्भेजे छायया चित्रितं तरोः ॥२७॥

वृक्षस्थबर्हिणां बर्हाश्चित्रवर्णास्तता घनाः ।
आबिभ्रत्युपसंव्यानलक्ष्मीं यत्र वनश्रियः ॥२८॥

शिवाफलोपयोगेन गाढातीसारबाधितम् ।
शिवाकुटुम्बकं यत्र मांसायाऽपि न धावति ॥२९॥

शृङ्गारहास्यरसयो-र्दूरे या डिमरूपवत् ।
रौद्रस्येव पदं नृत्तप्रेतपात्रव्रजा बभौ ॥३०॥

---

१. भूतवासा । २. श्वेतवर्णं ।

[1]कौशिकद्रुमसंलीनं काकवच्छ्वापदव्रजम् ।
कौशिकस्त्रासयत्युच्चैर्यत्र घूघारवैर्घनैः ॥३१॥

कृष्णसर्पावलिर्यत्र मूषिकौघमनुद्रुता ।
कालिन्दीवीचिमालेव लक्ष्यते कालतोषिणी ॥३२॥

खगाः करिकरङ्केषु पतन्तः क्रूरनिस्वनैः ।
खगामिनामपि त्रासं यत्र यच्छन्ति दारुणाः ॥३३॥

यत्रामिषरसोन्मत्ताः स्फारफेत्कारफेरवाः ।
जयन्त्यट्टध्वनिप्रौढान्नक्तं नक्तंचरानपि ॥३४॥

वराहघातनोद्युक्ता यत्र तैरेव सैरिभाः ।
वराहवे भटा यद्वद् दंष्ट्रास्त्रैः पङ्गवः कृताः ॥३५॥

निस्त्रिंशसर्वलुण्टाक - भिल्लभल्लीहता ध्रुवम् ।
तत्प्रहारान् प्रशंसन्ति कणंतो यत्र सार्थिकाः ॥३६॥

मृगशीर्षहस्तचित्रोद्धतलुब्धकयुजि नभःश्रियां यस्याम् ।
मृग्यति करिकुलमनिशं, शरणं करुणं चकितनयनम् ॥३७॥

वसतिः कालकेलीनां रौद्रतायाः परं पदम् ।
दुःखानामाकरो धात्रा चक्रे या कौतुकादिव ॥३८॥

तामपि प्रविवेशाऽसौ स्निग्धो मित्राय दारुणाम् ।
विशेत् को वा न तिलवत् सङ्कटं स्नेहनिर्भरः ॥३९॥

अहो स्नेहः पदं सर्वमहाव्यसनसन्ततेः ।
यन्मित्रायाऽविशदयं यमस्यास्यं महाटवीम् ॥४०॥

तत्राऽप्येष निकुञ्जेषु मार्गयंस्तं निरन्तरम् ।
नोपलेभे स यत्नोऽपि तमःस्विव रवेः करम् ॥४१॥

गुञ्जन्मृगेन्द्ररौद्राणि गह्वराणि महीभृताम् ।
आलोकिष्ट स मित्राय प्रेम्णः किं वाऽस्ति दुष्करम् ॥४२॥

---

१. गुग्गुल ।

वानरं नरबुद्धयाऽसौ दध्यौ कोटरगं तरोः ।
तदेकाग्रमनाः स्याद्वा प्रेमणि क्वाविपर्ययः ॥४३॥

दत्तत्रासासु दुर्नार्दैर्भिल्लपल्लीषु पर्यटन् ।
वयस्यंनाऽऽससादाऽसौ दुर्लभा हि मनःप्रियाः ॥४४॥

दृष्टः शबरसेनासु नासौ तेन क्वचित् सुहृत् ।
दरिद्रस्य गृहे चिन्तारत्नं दृश्येत केन वा ॥४५॥

किरातानपि सोऽपृच्छत् तमव्यक्ताभिभाषिणः ।
अर्थिनो हि मनोऽभीष्टे युक्तायुक्तविवेचकाः ॥४६॥

यथा यथा च तद्वार्त्तां लेभे नाऽसौ प्रियामिव ।
रामवत् ससहायोऽपि प्राखिद्यत तथा तथा ॥४७॥

माऽभूद् वियोगः कस्यापि केनचिच्चित्तहारिणा ।
यदेषोऽन्वभवद् दुःखं तदानीमतिनारकम् ॥४८॥

अनाप्ततत्कथोऽप्येष नौज्झदन्वेषणोद्यमम् ।
दुर्दिने किमदृष्टाब्जस्तेजसो हीयते रविः ॥४९॥

वने न स प्रदेशोऽस्ति यस्तेन न तदर्थिना ।
आक्रान्तः स्नेहबद्धेन प्राणिनेव भवेऽटता ॥५०॥

अन्वेषयत एवास्य तं निदाघः समाययौ ।
तापिताशेषलोकोऽपि कोपं यो न तपत्ययः ॥५१॥

यश्चातितापकृद्भूमेर्भूमिभूतजलाशयः ।
जलाशयोन्मुखकरी करीरपरिपाकदः ॥५२॥

प्रियालमञ्जरीकान्तः कान्ताकण्ठश्लथग्रहः ।
ग्रहाविष्ट इवोद्धूत - धूतच्छदशमीशिराः ॥५३॥

दावज्वालायते स्फूर्जन् यत्रोष्णांशुकरोत्करः ।
प्रगेपि स्वाश्रयस्योच्चैर्नाम सत्यापयन्निव ॥५४॥

समन्तादवनिर्यत्र नखंपचरजःकणा ।
सोपानत्कानपि प्रायो व्यथयत्यध्वगान् पथि ॥५५॥

यत्र चैणा इवाध्वन्या मृगतृष्णा सुतृष्णजः ।
जलाशया हि[1] धावन्तो विपद्यन्ते मरौ घनाः ॥५६॥

गाढाश्लेषस्पृहा स्त्रीणां न सरागेऽपि कुङ्कुमे ।
प्रेयसीवाऽभवद् यत्र क्षणे सर्वो हि वल्लभः ॥५७॥

विदग्धानामभूद् यत्र प्रियाधारा गृहस्थितिः ।
चन्दनद्रवचर्चेव समयज्ञा हि सद्धियः ॥५८॥

उन्मूलयन्ति सच्छायानपि वान्तो महीरुहान् ।
उत्ताला वायवो यत्र क्व वा चण्डेषु मार्दवम् ॥५९॥

[2]मुर्मुराकारसिकताकणाः पवनपातिताः ।
दहन्ति चीरिका नेत्राण्यपि छायासु यत्र च ॥६०॥

अन्धत्वमिव यच्छन्ति यत्र ग्रामेषु योषिताम् ।
रेणूत्करा भृशं सान्द्रा वात्योत्क्षिप्ता दिने दिने ॥६१॥

मण्डलीपवना उच्चैरावर्तितरजोदलाः ।
नृत्यन्मूर्त्तमहाभूतलीलां दधति यत्र च ॥६२॥

मरुतो यत्र सध्वाना भ्रमन्तोऽन्योन्यसंहिताः ।
भूतेन्द्रा इव लक्ष्यन्ते रासकक्रीडितस्पृशः ॥६३॥

मध्याह्ने घर्मसंत्रस्ता वने चित्रगता इव ।
निसर्गचापलं हित्वा यत्र तिष्ठन्ति वानराः ॥६४॥

जगन्तीव सरांसीह यत्र नोज्झन्ति सैरिभाः ।
मलिना दुर्यशःपुञ्जाः कुकवीनामिव क्षणम् ॥६५॥

लोलज्जिह्वागलद्वारिसिक्तसंतप्तभूमयः ।
यत्र छायास्वपि स्वास्थ्यं लभन्ते न मृगारयः ॥६६॥

दन्तिनोऽन्तःसमाकृष्टवारिशीकरवर्षिणः ।
स्वदेहे दाहमानिन्युरन्तं यत्रातिखेदिनः ॥६७॥

यत्र जीर्णतरुस्कन्धोत्कीर्णच्छिद्रशताश्रयाः ।
अपि तापेन दह्यन्ते कीटकाश्चटका इव ॥६८॥

१. 'पि' इति पुस्तके पाठः । २. शिखरविकलवह्निः ।

वराहा अपि पङ्कानि न त्यजन्ति मृगा इव ।
यत्र छाया वनानीव घर्मदाहातिभीरवः ॥६९॥

पक्षिणस्तप्तभूपातपत्कस्वाङ्गैः सहस्रशः ।
यत्रापूर्वाशनातिथ्य कल्पयन्तीव रक्षसाम् ॥७०॥

गवाक्षाः सूक्ष्मवासांसि चन्दनं चन्द्रशालिकाः ।
यत्र सेव्यत्वमायान्ति विरोधादिव शैशिरात् ॥७१॥

तटरुहतरुपत्रश्रीविलोपापमाना -
दिव लघुतनिमानं सिंधवः संश्रयन्ते ।
दवदहनविदीर्यद्वेणुनादैर्गिरीन्द्रा ,
वनविभवविनाशं यत्र शोचन्ति नूनम् ॥७२॥

मलिनमुखविगन्धैः किंशुकादिप्रसूनै -
र्बहुभिरपि वसन्तस्याशुभैः किं प्रफुल्लैः ।
ध्रुवमिति तदवज्ञां शसितुं यो दधाति ,
स्मितसुरभिसुवर्णं मल्लिकापुष्पमेकम् ॥७३॥

रभसदयितपीतप्रौढलाटाङ्गनोद्य -
द्विशददशनवासःपाटला पाटलाऽपि ।
शुकहरितशिरीषस्पर्द्धयाकान्तगन्धा ,
विकसितवदनाऽभूत् यत्र कान्ते प्रियेव ॥७४॥

अविरतजलकेलिस्निग्धकाया दिनान्त -
र्मलयजरससिक्ताः कायमाने विशान्तः ।
शिशिरतरसमीरस्पर्शसम्मीलिताक्षा ,
हिमसमयसमं यं पुण्यभाजो नयन्ति ॥७५॥

दलत्कनककेतकीवदनचुम्बने लालसः ,
कठोरघनविस्फुरत्कुटिलकण्टकैराकुलम् ।
विशत्यलियुवा वनं तिमिरभीषणं यत्र च ,
श्रयन्ति किमु सङ्कटं न नवरागिणः कामिनः ॥७६॥

खरपवनखरांशूच्चण्डदण्डाधिराजा -
द्यसमघनसहायो दारुणस्तापलक्ष्म्या ।
सुरभिनृपसमृद्धिध्वंसने बद्धकक्षः ,
प्रतिनरपतिलीलां यः परां संदधाति ॥७७॥

तत्रापि खिन्नधीर्मित्र स तथैवाऽगवेषयत् ।
अत्यर्थिनो हि नाकालः कोऽपि स्वार्थप्रवर्त्तने ॥७८॥

स्वापापदेशतोऽनङ्गमूर्च्छावत्पान्थशालिषु ।
प्रपामण्डपदेशेषु शीताम्बुकणवर्षिषु ॥७९॥

द्राक्षालतागृहेष्वम्भःकुल्याशीतलवायुषु ।
उद्गीतकिन्नरद्वन्द्वोत्कर्णितैणौघराजिषु ॥८०॥

दुरितच्छेदनायेव चिरवृद्धकथापरे ।
ग्रामग्राम्यसमाजेऽपि गोष्ठीबन्धसदादरे ॥८१॥

पत्तनेषु पठच्छात्रध्वानैर्वृत्तजनश्रुतौ ।
स्तोमे मठानां विलुठच्छन्दब्रह्मलवे ध्रुवम् ॥८२॥

आपानेषु च सैन्येषु पद्यासु परिषत्सु च ।
नृपाणां न च लेभेऽसौ तममर्त्यमिव क्वचित् ॥८३॥

आदिकुलकं षड्भिः ।

तथापि न न्यवर्तिष्ट स ततो व्यवसायतः ।
धीरा हि न विषीदन्ति सादहेतौ महत्यपि ॥८४॥

पर्वतेष्वप्यसौ दृष्टिं पातयामास तन्मनाः ।
नष्टा[illegible] रत्नाः शङ्कयन्ति गुहास्वपि ॥८५॥

निखिलनगरग्रामारामानसाववलोकय -
न्नपि न परिशश्राम प्रेम्णा स्वमित्रदिदृक्षया।
ननु कियदिदं सीताहेतोः स्फुरत्प्रभुभक्तिना,
पवनतनयेनाम्भोनाथोऽप्यतारि सुदुस्तरः ॥८७॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते मित्रान्वेषणो
नाम दशमः सर्गः । छ. । १० ।

एकादशः सर्गः

तथैव तस्याऽटत एव विष्वक्, वसुन्धरां भूमिधराभिरामाम् ।
अदृष्टमित्रः स इवाश्रुवर्षी, पयोदकालोऽपि समुल्ललास ॥१॥

यत्राऽम्भोभृन्नरेन्द्रो रचयितुमिव साम्राज्यमेकातपत्रं,
युक्तः सैन्यैर्बकानां प्रतिनृपतिमिव ग्रीष्ममुच्छिद्य मूलात् ।
तृष्णां तस्यैव कान्तां हननसमुचितां तापिकां विष्टपस्या -
न्वेष्टुं विद्युत्कटाक्षैः कटु रटति रुषा व्योम्नि गर्जापदेशात् ॥२॥

धाराम्भःसायकौघं क्षिपति सरभसं यत्र योधानुकारे,
प्राणश्यन्मानशत्रुश्चकित इव मनो मन्दिरान्मानिनीनाम् ।
किं चात्यन्तं दिदीपे सकलविरहिणां मानसेऽनङ्गवह्नि -
स्तेनापूर्वेन्धनेनाचिररुचिरिव सुध्यातकान्ताकुचानाम् ॥३॥

शष्पैरादृष्टिपात दलितमरकतत्विड्भिरानद्धमध्या ,
कान्तेवाऽऽभाति सान्द्रासितवसनमहाकञ्चुका यत्र धात्री ।
पान्थस्त्रीहृद्विदारातनुरुधिरलवाभासिभिः शक्रगोपै -
स्त्वन्योन्यासङ्गवद्भिर्विरचितविलसत्पद्मरागावलीव ॥४॥

निन्ये यो वृद्धिमद्भिर्भुवि सकलनदीनीरदैरात्तनीरै -
रम्भोधेस्तद्वधूनां प्रियकरणरुचिर्नूनमुच्चैः कृतज्ञः ।
माद्यन्मद्गुप्रघोषैर्हरि[1]-निवहरवैश्चास्तुवंस्तां ध्रुवं यं ,
को वा नौचित्यकारी विदितसुचरितैः कीर्त्यते पूर्णकामैः ॥५॥

यत्र [2]स्तोककयोषितो घनजला वान्तिस्पृशोऽपि ध्रुवं ,
दृष्ट्वा गर्भभरालसा बकवधूस्तत्रापि बद्धस्पृहाः ।
कूजन्त्यः करुणं पयोदमनिशं याचन्त आत्मेप्सितं ,
लब्ध्वा तुच्छसमीहितोऽपि जगति प्रायेण को निःस्पृहः ॥६॥

मार्गेष्वम्बुभरावरुद्धगतिषु प्रस्थास्नुपान्थाङ्गना -
नेत्राब्जेषु यथा श्रवत्सु जलदेष्वच्छिन्नधारं पयः ।
आदित्या इव सोद्यमा अपि महातेजोनिधानत्वतः ,
कान्ताऽऽलिङ्गनलोलुपा इव नृपा यात्रां न यत्राऽदधुः ॥७॥

मधुरजलदनादैर्यत्र नृत्तप्रवृत्ताः ,
समदशिखियुवानः केकयाहूय नूनम् ।
प्रचिकटयिषवः स्वं तत्पुरो लास्यशिल्पं ,
युवतिजनमनोभ्यो मानमुद्वासयन्ति ॥८॥

ददति स चटुनागाः सल्लकीपल्लवानि ,
द्विगुणतररसानि प्रेयसीनां मुखेषु ।
तरुणमधुकरोऽन्तर्यूथिकायाः परागैः ,
परिचिततनुरासीद् यत्र गौराङ्गयष्टिः ॥९॥

कुटजविटपिपुष्पैर्नव्यधाराकदम्बैः ,
प्रतिवनमपनिद्रैः शोभितो यः शिलीन्ध्रैः ।
नवजलधरधारी तारताराबलीक -
द्विरदपतिविराजद् राजलीलां बिभर्त्ति ॥१०॥

---

१. चातक । २. मण्डूक ।

यत्र द्विरेफाः स्मितकेतकानि, श्रयन्ति हित्वा कमलं जलान्तः ।
विपन्निमग्नं त्यजता स्वसेव्यं, व्रीडाऽपि नो लुब्धमलीमसानाम् ॥११॥

नूनं शक्रः स्वचापं प्रकटयति घनध्वानटङ्कारकान्तं,
मुञ्चन् धाराम्बुकाण्डान् पथिकजनमभिक्रोधतस्तन्निवृत्त्यै ।
विष्वक् यस्मिंस्तडिद्भिर्नवनयनसहस्रं दधानाऽतितारं,
यद् राजा दुर्बलानां बलमिति विलसत् पक्षपातोऽबलासु ॥१२॥

यत्रावहन् प्रथममश्रुजलप्रवाहाः,
सम्भारतश्चिरगतप्रियभर्तृकाणाम् ।
पश्चान्निनादचकिताकुलसिद्धकान्ता,
कान्तावगूहनकृतो गिरिनिर्झरौघाः ॥१३॥

खद्योतैर्द्योतमानैर्नभसि भुवि जलासारवद्भिर्मरुद्भि-
र्भेकक्वाणैः सरस्सु द्रुततिषु शिखिनां ताण्डवाडम्बरैश्च ।
सोत्कण्ठा सर्वतोऽपि प्रतिदिनमबला यत्र चाधीयमाना,
भर्तृष्वाक्रोशमुच्चैर्ददति चिरतरप्रोषितेष्वप्रसन्नाः ॥१४॥

स्फूर्जत्सौरभयक्षकर्दमयुजः कान्तोपगूढा दृढं,
पीतस्वादुतदद्भुताधररसा यत्राखिलाः कामिनः ।
शृण्वन्तो जलदध्वनिं शिखिकुलस्यारब्धनृत्येक्षणाः,
पञ्चानामपि संश्रयन्ति सततं यत्रेन्द्रियाणां मुदम् ॥१५॥

ऊर्ध्वं प्रावृतनीलनीरदपटा वन्या लसत्कञ्चुका,
बिभ्राणा सुरगोपचित्रितमधोवस्त्रं तृणं विस्तृतम् ।
प्रौढप्रावृडिति प्रकल्पितनवाकल्पा करोत्यङ्गिनः,
सोत्कण्ठानभिसारिकेव हिमगुज्योत्स्नापिधानप्रिया ॥१६॥

तत्रापि तीव्रादरतोऽन्वियेष, सनत्कुमारं स महेन्द्रसिंहः ।
नदीषु वापीषु च निर्झरेषु, द्रोणीषु[1] च क्षोणिभृतां ततासु ॥१७॥

---

१. शैलयोः सन्धिषु ।

न किंवदन्तीमपि चापमैत्रीं, रुचिं यथा कैरवखण्डमन्तः ।
तथापि स प्रश्रयतोऽवतस्थे, वने प्रतिज्ञातधना हि धीराः ॥१८॥

सन्धार्यमाणप्राणस्य तत्सङ्गममनोरथैः ।
संवत्सरोऽतिचक्रामाऽन्वेष्टुस्तस्य भुवस्तलम् ॥१६॥

ततः स चिन्तयामास क्षितौ तावन्न विद्यते ।
असौ न हि न पश्येत् सद्व्यापृत[१] चक्षुरादरात् ॥२०॥

तद् विशामि विशाल किं भोगिभीम रसातलम् ।
दैवाद्भवेदसम्भाव्येऽप्यस्य देहिस्थितिर्नृणाम् ॥२१॥

उत्पतामि दिवं किं वा कमप्याराध्य नाकिनम् ।
देवतानां प्रसादस्यागोचरो यन्न किंचन ॥२२॥

किं वा विद्याधरश्रेणौ यामि सिद्धसहायकः ।
नागम्यं स सहायानां यदस्ति किमपि क्वचित् ॥२३॥

इत्थ यावदनेकध्यं ध्यायन्नध्याममानसः[२] ।
द्वित्राण्येव पदान्येष चचाल स्तिमितेक्षणः ॥२४॥

तावत् सारसहंसादिरवस्तेनोपशुश्रुवे ।
सुहृदासङ्गमं मङ्क्षु मधुरः सूचयन्निव ॥२५॥
युग्मम् ।

समाजगाम सुस्पर्शः स्पर्शनोऽप्यस्य सम्मुखः ।
मित्रोपश्लेषज मोदं यच्छन्निव सविग्रहम्[३] ॥२६॥

वयस्यमिव सुस्निग्धं चक्षुष्य नन्दन हृदः ।
वनं स पुरतोऽद्राक्षीदिलायामिव नन्दनम्[४] ॥२७॥

चुकूजुस्तत्र च क्रौञ्चोद्दण्डकारण्डवादयः ।
सवयोऽर्थिनमाह्वातु तं मुदा सत्वरा इव ॥२८॥

ननृतुर्नीलकण्ठा अप्यस्यासन्न महोत्सवम् ।
दर्शयन्त इवोत्केकाः समुदो बान्धवा इव ॥२९॥

---

१. विद्यमान । २. निर्मल । ३. मूर्त्त । ४. सुरवन ।

एवमन्तःसमाधानाधायिनानानिमित्तवान् ।
व्रजन् स तद्वनाभ्यासे प्राप पूर्णं जलैः सरः ॥३०॥

निमित्तावगमादन्तर्बहिर्वारिनिषेकतः ।
सोऽत्रेषन्निर्ववौ कान्तायुक्तः स्नात इव द्विपः ॥३१॥

निमित्तान्यनुलोमानि क्व क्व वा विजनाटवी ।
इत्यालोचयतोऽस्यालं चक्षुः पुस्फोर दक्षिणम् ॥३२॥

तस्यापसव्यः स्कन्धोऽपि ननर्त्तेव स्फुरन्मुहुः ।
चेतः समुल्ललासेवाऽऽकस्मिकप्रमदश्रिया ॥३३॥

श्रवणातिथितां चागान्मधुरो वल्लकीक्वणः ।
अम्भोदस्तनितस्पर्द्धिमृदङ्गनिनदैः सह ॥३४॥

किन्नरीकलगीतानि कोकिलाकूजितान्यपि ।
द्विषन्ति श्रुतिदोलायां दोलयामासुरुन्मुदः ॥३५॥

आमोदमप्ययं जघ्रौ तं दिव्यं तत्र कञ्चन ।
आजन्मापि न यः पूर्वं घ्राणगोचरतां ययौ ॥३६॥

विलोक्याद्भुतमुद्भूतं तत्राकस्मिकमीदृशम् ।
पुनर्विभावयामास कौतुकोत्कलिकाकुलः ॥३७॥

किमिन्द्रजालमेवैतदथ स्वर्गसमागमः ।
किं वा मम हृषीकाणामभूद् व्यत्याससन्ततिः ॥३८॥

उताऽदृष्टेन दुष्टेन केनाऽपि परिपन्थिना ।
मामुद्भ्रंशयितुं सत्वान्नाटितं कूटनाटकम् ॥३९॥

यथाग्नौ चम्पकोद्भेदो न्यग्रोधे पुष्पमञ्जरी ।
बालके श्मश्रू सम्भाव्यमेवं सर्वमिदं वने ॥४०॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

एवं वितर्ककल्लोललोलमानससागरः ।
गच्छन्क्षणं ददर्शैष प्रासादं मेरुडम्बरम् ॥४१॥

स्फाटिकं सप्तभूमं सन्मणिभिर्विविधैश्चितम् ।
शारदाभ्रमिवाश्लिष्टं सुरचापप्रभोत्करैः ॥४२॥

रत्नप्रभाभिराबद्धनानाशक्रशरासनम् ।
हसन्तमिव वर्षाद्यामेककोदण्डगर्विताम् ॥४३॥

जनौघाऽव्यक्तनादेन गुञ्जद्भृङ्गमिवाम्बुजम् ।
धूमैः कृष्णागुरोः सान्द्रैरुपर्यादर्शिताम्बुदम् ॥४४॥

ऊर्ध्वभूमौ महानीलप्रभास्वम्भोदविभ्रमात् ।
वलक्षाभिः पताकाभिर्वलाकाभिरिवाचितम् ॥४५॥

विचित्ररचनोच्चित्ररतिकेलिगृहाश्रयम् ।
वेश्यापाटकवद् भोगिलोकस्यानन्दनं दृशोः ॥४६॥

निपातोत्पातवद्विद्याधरैर्देवैरिवोज्ज्वलैः ।
आकीर्णमवतीर्णं कौ विमानमिव वज्रिणः ॥४७॥

आदिकुलकं सप्तभिः ।

तं दृष्ट्वा भावयामास क्वेयमृद्धिर्वनं क्व च ।
सर्वथा फलितः कल्पशाखी धन्वन्ययं महान् ॥४८॥

तत् प्रविश्यात्र मित्रस्य करवाणि गवेषणम् ।
फलस्येव महाक्षेत्रे कृषीबल इवादरात् ॥४९॥

आसन्नतरगस्यास्य कर्णकोटरमाविशत् ।
स्वरस्तारः शुकस्येव नग्नाचार्यस्य कस्यचित् ॥५०॥

यत् खड्गः खङ्गिलीलां[1] कलयति विलसन् कुम्भिकुम्भस्तनेषु ,
प्रोच्चैर्नानाबलानां त्वनभिमतकृतामादधत् खण्डनानि ।
पार्थक्य क्वापि गच्छन् सुनिविडपरिवारादपि प्रौढसार-
श्चित्रं नैवानुरक्तस्तदपि च सुरसद्वन्द्वभावावियुक्तः ॥५१॥

स्थातुं सङ्ग्रामभूमौ क्षणमपि पुरतो नाऽशकद्यस्य यक्ष-
स्तार्क्ष्यस्तेजःश्रियाऽलं प्रबलपरबलाम्भोधिमन्थाचलेन्द्रः ।

१. षिद्गलीलां, इति पुस्तके पाठः ।

शेषेसु व्योमचारिप्रभृतिषु गणना सर्पकल्पेषु को वा,
सोऽयं विद्याधराणां जयति दिनकरो धामभिश्चक्रवर्ती ॥५२॥

युग्मम्

सोऽचिन्तयन्निशम्यैतत् कोऽपि खेचरनायकः।
कीर्त्यतेऽत्र न मित्रं मे यत्तन्नामापि दुर्लभम्। ५३॥

अपाठीत् पुनरन्योऽपि मागधोऽगाधधीधनः।
व्यश्नुवानः प्रतिध्वानैर्द्यामिवातिपटुध्वनिः ॥५४॥

सन्त्येवासङ्ख्यसङ्ख्यप्रहतरिपुभटश्रेणयः पार्थिवेन्द्राः,
भूयांसः किन्तु विद्याधरपतिविलसद्गर्वसर्वङ्कषोऽन्यः।
नैव त्यक्त्वा नृपेन्द्रं कुरुकुलतिलकं कोऽप्यभूद् भूतधात्र्यां,
ज्योतिर्लक्षेऽपि सूर्यादपर इह भवेत् कस्तमस्काण्डकालः ॥५५॥

मेधानिर्द्धूतवाचस्पतिमतिविभवत्वेन सौन्दर्यसार-
प्रत्यस्तानङ्गरङ्गद्रुचिररुचितनुत्वेन चाश्चर्यभूमिम्।
रामावन्मंक्षु विद्याः शतश इह मुदा नूनमन्योन्यसेर्ष्याः,
संहर्षाद् व्यञ्जितस्वस्वगुणगणभराः शिश्रियुर्य मनोज्ञाः ॥५६॥

श्रीमान् विनिर्मलयशःकुमुदावलीभिः,
सम्भूषकः सकलदिग्वनिताकुचानाम्।
जीयादसौ निजकुलोदयभूधरेन्द्र-
प्रोद्यद्दिवाकर उदीर्णमहा महःश्रीः ॥५७॥

विशेषकम्।

महेन्द्रसिंहः श्रुत्वैतदपि चैवं व्यचिन्तयत्।
नासौ विद्याधरोच्छेत्ता न च कान्ताशतप्रियः ॥५८॥

कुरुवशोद्भवा भूपाः संभवन्तीह भूरिशः।
न ह्येक एव चन्द्रोऽभूद् रत्नं रत्नाकरेऽखिले ॥५९॥

तन्नमित्रमयं किन्तु तद्गोत्राह्वैव मोदिका।
रवेरभावे तद्भापि प्रातः स्याद् दृष्टिनन्दिनी ॥६०॥

अध्यवस्यत एवेत्थमस्यान्योऽप्यपठत् पुनः ।
नग्नाचार्यः सुराचार्यवचश्चातुर्यतर्जनः ॥६१॥

ये मूलात् स्कन्धबन्धं विदधति तरवस्ते जगत्यामसङ्ख्या,
ये तन्नम्राः शिरस्तस्तमपि विरचयंन्त्याशु ते केचिदेव ।
स्वीयां साम्राज्यलक्ष्मीं कुलसमुपनतां भुञ्जतेऽस्यां प्रभूता,
एकः श्रीग्राश्वसेनिर्निजभुजबलतः स्वीकृतास्वीयराज्यः ॥६२॥

रूपं सौन्दर्यसारं स्फुरितसहकृतं सौर्यमन्यासमानं,
कन्यानां रूपभाजां निरुपमनृपतिस्त्वस्य चाप्त्या द्वयं च ।
यस्याभूद् भूरिभूतेः सफलमफलिताऽरातिचक्रे हि तस्य,
श्रीमान् सोऽयं समस्तक्षितिपतिमुकुटं नन्दतात् खेचरेन्द्रः ॥६३॥

सनत्कुमारः सहदेव्युदारक्षेत्राङ्कुरः कल्पतरुः कवीनाम् ।
सम्पादनाच्चित्रसमृद्धिवृद्धेः, प्रवर्द्धतामुन्नतराजलक्ष्म्या ॥६४॥

आकर्ण्य कर्णपीयूषं वयस्यविषयं वचः ।
उच्चैरानन्दितस्वान्तः प्रासादं तं विवेश सः ॥६५॥

तत्रोच्चैरासनासीनमक्षतद्युतिसञ्चयम् ।
उदितं बिम्बमुष्णांशोरिवोदयशिलोच्चये ॥६६॥

मुक्ताकलापालङ्कारालङ्कृतं कण्ठकन्दले ।
सुनिर्झरद्वयोद्गारसारं मेरुमिवोन्नतम् ॥६७॥

कान्तया कान्तयोपेतं रत्येव रतिवल्लभम् ।
तत्कटाक्षच्छटाक्षीरस्नपिताननपङ्कजम् ॥६८॥

करपल्लवसंस्थाभ्यां युगस्य पणयोषितोः ।
चलच्चामरहंसाभ्यामवगाढप्रभाजलम् ॥६९ ।

नानाविद्याधरस्त्रीभिः पीयमानास्यदीधितिम् ।
वधूभिः सच्चकोराणामिव पीयूषदीधितिम् ॥७०॥

अन्तर्विद्याधरश्रेणिनिषण्णं सन्नशात्रवम् ।
सुराधीशमिवोदग्रं सुराणां संसदि क्षणम् ॥७१॥

पुरतः प्रकृतामन्दसङ्गीतकविधिं नटैः ।
नानाभिनयनिर्माणभरतस्मृतिदायकैः ॥७२॥

दन्तद्युतिलसज्ज्योत्स्नाभिरामस्य निशाकरम् ।
लीलया दधतं गोष्ठीं, सममासन्नकान्तया ॥७३॥

किं बहुना,

सा मूर्त्तिः सा सभा तस्य, लीलास्तास्ताश्च सम्पदः ।
योगिनोऽपि भवेच्चेतः सस्पृहं यदवेक्षणे ॥७४॥

सनत्कुमारमद्राक्षीत् तमसौ प्रियदर्शनम् ।
चक्रवाकमिव प्रातश्चक्षुश्चक्राह्वयोषितः ॥७५॥

दशभिः कुलकम्

पीयूषसागरे मग्नः किमहं किमु निर्वृतः ।
सिक्तः कर्पूरसम्मिश्रश्रीखण्डस्य रसैरथ ॥७६॥

आभवोपात्तसुकृतफलानन्दैरुताश्रितः ।
इत्यात्मानमसौ सम्यग् न विवेद तदा मुदा ॥७७॥

युग्मम्

हर्षोत्कर्षोद्गताशेषवपुः पुलककञ्चुकः ।
जलधाराहतप्राञ्चत्कदम्बश्रियमुद्वहन् ॥७८॥

आनन्दाश्रुप्रवाहेण प्लाविताखिलविग्रहः ।
वनभ्रमणखेदोत्थं श्रमवारि क्षरन्निव ॥७९॥

मुखे विकासं बिभ्राणः प्रातः पद्माकरो यथा ।
सर्वेन्द्रियेषु युगपद् भजन्निव परं सुखम् ॥८०॥

किं चित्रं यदसावङ्गे न ममौ मोदतस्तदा ।
क्षीराब्धिः किं क्वचिन्माति क्षपाकरसमुद्गमे ॥८१॥

चक्कलकम्

न मनागप्यमंस्तासौ तद्वनभ्रमणोद्भवम् ।
कष्टं गुर्वपि तद्दृष्टौ क्व वा तापो हिमोदये ॥८२॥

नूनमद्य निमित्तानि सत्यानि सकलान्यपि ।
तानि दैव्यः सरस्वत्यः प्रलयेऽपि हि नान्यथा ॥८३॥

स्निग्धे चिराय प्राप्ते स्युः केवलेऽपि मुदः पराः ।
किं पुनः प्राज्यलक्ष्मीके राकायामिव शीतगौ ॥८४॥

महेन्द्रसिंहस्तं पश्यन्नासीत् संस्तम्भितः क्षणम् ।
अनाख्येयरसात्कान्ताजनः कान्तमिवादृतः ॥८५॥

वाचोऽपि तत एवास्य पुस्फुरुर्न बहिस्तदा ।
सरित्सहस्रसम्पूर्णवारिधेरिव वीचयः ॥८६॥

नो राज्येन रतेन नापि न समं सर्वेष्टभोगेन च,
प्रादुष्यात् सुखमिद्धसौहृदजुषां शश्वद्द्वयस्येषु तत् ।
यद्यन्नातिशयाद्बहोश्च समयादन्विष्य विश्वं जगत्,
सम्प्राप्तेषु हि तेषु भाग्यनियतेः स्यादत्र लोकोत्तरम् ॥८७॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते मित्रसमागमो
नामैकादशः सर्गः । छ. । ११ ।

द्वादशः सर्गः

सनत्कुमारस्तं सम्यक् प्रत्यभिज्ञाय सम्भ्रमात् ।
शीघ्रमेवाऽलपत् सन्तो यत्सदा पूर्वभाषिणः ॥१॥

मित्र ! मित्र ! कुतो यूयमिहैवं विजने वने ।
न कदाचिच्छिलापट्टे सम्भवोऽम्भोरुहस्य यत् ॥२॥

एह्येहीत्यवदद् भूयोऽप्यभ्युत्थानपुरस्सरम् ।
क्वापि वैनयिके कुल्या नालसा जातु कर्मणि ॥३॥

तं तथा सम्भ्रदाद् बाढमुरःपेपं पिपेष सः ।
यथास्य निर्ययौ खेदः सर्वः स्वेदच्छलाद् बहिः ॥४॥

तदा समागमेऽपूर्वः स हर्षः कोप्यभूत् तयोः ।
सुरसाम्राज्यभोगोऽपि यत्तुलां नाधिरोहति ॥५॥

स प्रासाधयदेतेन स्वासनस्यार्द्धमञ्जसा ।
व्यज्येत हि परः स्नेहो लोकेपि कथमन्यथा ॥६॥

तत्प्रेमाचरितं पश्यन् कौतुकोत्तानलोचनः ।
विद्याधरजनः सर्वोऽप्यासीत्तत्र महादरः ॥७॥

महिमानं नयन्त्येव प्रभूणां सम्भ्रमा नरम् ।
वैदेशिकोपि यदयं मान्योऽभूत् सर्वपर्षदः ॥८॥

महेन्द्रसिंहः प्रत्यूचे तमथ श्रव्यभाषिणम् ।
अभ्राम्यं वत्सरं यावत् त्वत्कृते महतीं महीम् ॥९॥

प्रवृत्तिमपि नावापं तावकीं क्वापि नन्दनीम् ।
घनाघनघटाच्छन्नामिव वर्षासु चन्द्रिकाम् ॥१०॥

श्रेयो निमित्तवृन्देन सूचितं त्वधुनाऽऽप्नवम् ।
त्वां निधानमहाकुम्भमिव दुर्गतसेवकः ॥११॥

विद्याधरमहाराजस्तमूचे पुनरुत्सुकः ।
चक्रतुः पितरौ किं किं मद्वियोगदवार्दितौ ॥१२॥

अधत्तां वा कथङ्कारं स्वप्राणान्प्रोषिते मयि ।
क्षणमप्यासते यन्न तिमयः सलिलं विना ॥१३॥

स प्राह रामवत् प्राप्ते वनं तज्जनकाकृतिम् ।
त्वयि तत्पितरौ पूर्णामधत्तां शोककीलितौ ॥१४॥

किञ्च—

स्तम्भापचितसच्छायं हितपत्रलताद्युति ।
आसीच्छून्यपुराकारं अन्तःपुरमपि प्रियम् ॥१५॥

आस्यानि त्वद्वयस्यानां ग्रीष्मप्लुष्टदलश्रियाम् ।
अम्भोजानां रुचिं प्रापुः स्नेहार्द्राण्यपि सन्ततम् ॥१६॥

स कोऽपि नागरो नाऽऽसीद् यस्त्वयि प्रोषितेऽभवत् ।
पद्मबन्धाविव स्फारविकासः कमलाकरः ॥१७॥

कृत्वा प्रसादं रम्याऽथ स्वप्रवृत्ति प्रकाश्यताम् ।
अप्रकाशा हि न मुदे रूपवत्यपि नर्त्तकी ॥१८॥

कौतुकं तन्महद् यत्त्वं कथं केन क्व वाऽऽदृतः ।
कुतस्त्याः सम्पदो वैता लोकलोचनचन्द्रिकाः ॥१९॥

आशा न स्यात् कथं नाथ ! दुर्लभेऽपीह वस्तुनि ।
यदसम्भाविताऽस्तित्वोऽप्यागास्त्वं विषयं दृशोः ॥२०॥

एवं पर्यनुयुञ्जाने मित्रे सोऽचिन्तयन्नृपः ।
अत्रोत्तराप्रदाने स्यादज्ञता तावदात्मनः ॥२१॥

अन्यथाऽऽख्यानतः पापं यथास्थितनिवेदने ।
स्वगुणाविष्क्रिया वेद न च वृत्तं ममापरः ॥२२॥

विक्षेपकरणं मौग्ध्यं शाठ्यं व्याजान्तरोक्तितः ।
तत्कथं क्रियतामस्य कोविदस्येह निर्वृतिः ॥२३॥

त्रिभिर्विशेषकम्

किञ्चाऽऽत्मनः प्रशंसायां शिष्टाचारव्यतिक्रमः ।
नावदानं स्वमेते हि व्यञ्जयन्ति कथञ्चन ॥२४॥

इत्थं विकल्पकल्लोलाकुलमानसवारिधेः ।
प्रादुर्बभूव तस्यैवं प्रातिभज्ञानचन्द्रमाः ॥२५॥

एषा बकुलमत्येव श्रीप्रज्ञप्त्याः प्रसादतः ।
बुद्धास्माकीनवृत्तान्ता प्रियास्त्वस्य निवेदिका ॥२६॥

तामथाऽऽज्ञापयद् भूपो यथाबोधं निवेद्यताम् ।
वयस्याय समस्तोऽपि वृत्तान्तो मे तनूदरि ! ॥२७॥

मीलयेते पद्मवन्नेत्रे ज्योत्स्नयेव प्रमीलया ।
मामके मदिराक्षीति रतिवेश्म विशाम्यहम् ॥२८॥

तत्र चोभयतः प्रांशौ गङ्गापुलिनसुन्दरे ।
सहंसपक्ष्मतूलीके सितोत्तरपटास्तृते ॥२९॥
क्षीराम्भोधाविव स्वच्छे शयनीयेऽच्युते यथा ।
संविष्टे खेचराधीशे साऽवदत् कलभाषिणी ॥३०॥

युग्मम्

आर्य ! त्वन्मित्रवृत्तान्तः सिद्धान्त इव कापिलः ।
सत्त्वप्रकृतिवृद्ध्यादिलीलायितमनोहरः ॥३१॥
कस्य न श्रूयमाणोऽपि भवेदानन्दकन्दलः ।
वसन्ते पञ्चमोद्गारहारीव पिकनिस्वनः ॥३२॥

युग्मम्

कुमारो हि तदा दूरमपावाह्यत पत्तनात् ।
जवनेन तुरङ्गेण प्रमोद इव नागरः ॥३३॥
जन्मान्तरीय दुष्कर्मलवेनेव महाटवीम् ।
भवाटवीमिवाऽनायि तेनायं वीर्यशालिना ॥३४॥
यद्वा सुकृतपिण्डेन गुद्धेनेव श्रियं पराम् ।
क्षिप्रं प्रापयितुं शेषचक्रिभ्योऽभ्यधिकामिमाम् ॥३५॥

युग्मम्

पवनेनेव तेनैवादृश्यतामप्यनीयत ।
अकाण्डे सुप्रचण्डेन तूलवत् त्वरितं दृशोः ॥३६॥
स मनोजयिना धावन् रंहसाऽश्रान्तमश्रमः ।
अहोरात्रमहर्मात्रयायिनं रविमत्यगात् ॥३७॥
जितादित्यहरिर्वेगान्नूनं प्राप्तुं हरीन्द्रताम् ।
वनस्थानप्यसौ जेतुं हरीन् बभ्राम तद्वनम् ॥३८॥
द्वितीयेऽपि दिने तस्य तथैव द्रुतगामिनः ।
मध्याह्नः समभूद् दाववह्नितापाभिभावुकः ॥३९॥
यत्र भानुः प्रभाव्याजाद् वर्षत्यङ्गारसंहतिम् ।
आजन्मद्वेषवन्तीव कैरवाणि विहिंसितुम् ॥४०॥

छायाभ्यश्चातपत्रस्त मृगेन्द्रान् क्षुधितानपि ।
यत्र दृष्टैणयूथा अप्युत्सहन्ते न धावितुम् ॥४१॥

यत्र पानकरङ्केषु तीव्रतृष्णाः खगाघनाः ।
पिबन्तोऽपि न तृप्यन्ति तद्वार्यैन्योन्यघट्टनैः ॥४२॥

जैनवेश्मसु नैवेद्यं निवेद्यार्च्यस्य धार्मिकाः ।
यत्रान्तर्बहिरुत्तापान् मुच्यन्ते प्रस्तुतार्चनाः ॥४३॥

राज्ञो भोजनशालासु दृष्टसामोदभोजनाः ।
कथञ्चिद् विषगन्धान्धाश्चकोरा रोदनस्पृशः ॥४४॥

मयूराश्च प्रनृत्यन्तो बोधयन्तीह देहिनः ।
विरागरागयोर्हेतुरेक एवेति यत्र च ॥४५॥

युग्मम्

यत्र श्रोत्रियगेहेषु होमधूमचितेष्वपि ।
निर्मला एव दृश्यन्ते तत्प्रियाणां मुखेन्दवः ॥४६॥

चञ्चूत्क्षिप्तस्वपक्ष्माणः प्रियाचुम्बनलालसाः ।
यत्र छायासु विक्रुतीर्भजन्ते चटका अपि ॥४७॥

गजेन्द्रा अपि न स्नानैर्न प्रियापरिरम्भणैः ।
लभन्ते स्वस्थतां यत्र पच्यमाना इवोष्मणा ॥४८॥

कथञ्चिन्मत्तमहिषा व्यावृत्ताः सलिलाशयात् ।
भ्रमयित्वा दृशो यत्र लुठन्ति भुवि घर्मतः ॥४९॥

एकतः कर्दमे मग्नाः स्पृष्टास्तापेन चान्यतः ।
अन्वभूवन् समं यत्र पोत्रिणो हिमपावकौ ॥५०॥

अदृष्टपद्मान्तरित प्रियः स्निग्धोऽप्ययुज्यत ।
दृष्टयाऽपि तया को को न भीरुर्यत्र चाऽऽतपात् ॥५१॥

निवृत्तजनसञ्चारा राजमार्गा निशीथवत् ।
यत्राऽभूवन् महाघर्मकुकूलायित[1]-रेणवः ॥५२॥

१. कारिषाग्निः ।

दारुणे तत्र मध्याह्ने गच्छन् मार्गणवद्द्रुतम् ।
तथा शश्राम तुरगो न चचाल पदं यथा ॥५३॥

तस्थौ च स तथावस्थः स्थाणुवन्निश्चलाकृतिः ।
वाजिनो हि क्व वा लोके दृष्टाः सततगत्वराः ॥५४॥

अपेक्षाकारिणो नूनं नैवारब्धसमापकाः ।
यदेप नाऽपयद् देशं कुमारं हृदयेप्सितम् ॥५५॥

विघटन्ते हि तरलाः सुचिरं लालिता अपि ।
पातयामास यदयं कुमारं दारुणाटवीम् ॥५६॥

निश्चलस्य च तस्याऽऽसीदुच्छ्वासोऽप्यतिनिश्चलः ।
स्वामिनं ह्यनुकुर्वन्ति विनीताः सहचारिणः ॥५७॥

कुमारोऽवततारास्मात् तूर्णं पिपतिपोर्भुवम् ।
अतिश्रान्तोऽपि दक्षत्वाच्छवस्पर्शभयादिव ॥५८॥

स्वप्रभोरपकर्त्तायमितीव मुमुचे क्षणात् ।
प्राणैः स्वाम्यपि वाहोऽसावनार्यं को नु रुच्यते ॥५९॥

नूनं जलधिकल्लोलः स्वाभिधानस्य सत्यताम् ।
प्रकाशयितुमाश्वेव जगाम विल तदा ॥६०॥

कुमारः सुकुमारत्वान्मध्याह्ने मार्गखेदितः ।
तृष्णया शिश्रिये तत्र पिशाच्येवातिघोरया ॥६१॥

चचाल जलमन्वेष्टुं राज्यार्होऽप्यसहायकः ।
कस्य वा स्यात् स्थिरा लक्ष्मीः कल्लोलसहवासिनी ॥६२॥

विधीयतामहङ्कारः श्रीमद्भिः श्रीभवः कथम् ।
सकण्टकाटवीं पद्भ्यामटन्तं प्रसमीक्ष्य तम् ॥६३॥

तद्दृशां वनदेवीनामप्याक्रन्दविधिप्रदाम् ।
नूनमद्रष्टुमभवन् द्रुमास्तत्र ह्यदृष्टयः ॥६४॥

क्व फेरवारवाः कर्णातिथयः क्व च गीतयः ।
तस्यासन् सर्वदा कस्य सुखैकनियता दशा ॥६५॥

अत्यटन्नपि तवासौ नाऽऽससाद क्वचिज्जलम् ।
तन्निष्ठदृष्टिचित्तोऽपि निदाघ इव चातकः ॥६६॥

दूरे त्वपश्यत् सामोदं पुष्पैः सप्तच्छदं तरुम् ।
स्कन्धे द्विपकटाघर्षमदगन्धाभिभावुकैः ॥६७॥

अतिविस्तृतनीलत्वान्निरभ्रव्योमविभ्रमम् ।
महापुरुषवन्नानाफलार्थिप्राणिसंसृतम् ॥६८

सच्छायत्वात्तुषारांशुवद्दुत्तप्ताङ्गिनन्दनम् ।
श्रिया भृङ्गैश्च सन्नद्धं कमलाकरवत् सदा ॥६९॥

त्रिभिर्विशेषकम्

प्रतस्थे तं प्रति प्राज्ञः प्रतप्तस्तपनांशुभिः ।
लब्ध्वा गदो विषीदेत् कः सकर्णो व्याधिपीडितः ॥७०॥

यावत् सप्तच्छदच्छायां प्राप स श्रान्तविग्रहः ।
तावन्मूर्छा मुमूर्च्छाङ्गे तदीये विषवल्लिवत् ॥७१॥

भ्रमयन्ती दृशोर्द्वन्द्वं स्वेदयन्ती वपुर्लताम् ।
दर्शयन्ती तमस्काण्डं विष्वद्र्यञ्चं मुहुर्मुहुः ॥७२॥

[1]मुखलालामिवाकाले दलयन्ती च चेतनाम् ।
कान्तोपगूहनमुदं ददती खेदभेदनात् ॥७३॥

विशेषकम्

तडितेव प्रबलया तयाऽपात्यत सोऽवनौ ।
अशाय्यत क्षणं त्रातुमङ्कदेव्येव दुःखतः ॥७४॥

अत्रान्तरे तत् सुकृतैरिवाशु,
प्रणोदितः कोऽपि कुतोऽपि यक्षः ।
तं देशमागान्मणिभूषणांशु-
च्छटाभिरेनं स्नपयन्निवोच्चैः ॥७५॥

१. अमृतकलालक्षणा ।

प्रालेयशैत्यं परितर्जयद्भिः,
पीयूषमाधुर्यमपि क्षिपद्भिः।
हसद्भिरुद्भास्वरशारदेन्दु-
ज्योत्स्नाशुचित्वं पयसः कणौघैः ॥७६॥

अन्तःप्रवृद्धप्रणयाम्बुराशि-
समुच्छलद्बिन्दुगणैरिवैषः।
असिक्तसखिन्नमखिन्नबाहु-
स्तं सन्ततं सम्भृतकिङ्करश्रीः ॥७७॥

युग्मम्

प्रावीजयच्चांशुकपल्लवेन,
विपल्लवाविष्टममुं प्रयत्नात्।
असाध्यमत्रास्ति न किञ्चिदुद्यत्-
पुण्याधिराजस्य समुद्गतस्य ॥७८॥

इत्थं यक्षेण क्लृप्तप्रलयविलयकृत् योग्ययोग्याभ्युपायः,
प्रोन्मीलन्नेत्रपत्रः सपदि समभवद् राजबीजी वितन्द्रः।
शीतांशोरंशुजालैः कवचितमुकुलः कैरवाणां किमोघः,
स्यादुन्निद्रच्छदो नो कलितनिरुपमश्रीसमृद्धिर्निशायाम् ॥७९॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते यक्षदर्शनो नाम
द्वादशः सर्गः। छ.।१२।

त्रयोदशः सर्गः

वदनमस्य विनिद्रविलोचनं, समवलोक्य ननन्द स गुह्यकः ।
निरुपधिप्रणयामृतसिन्धवो, जगति नाम भवन्ति हि सज्जनाः ॥१॥

किमु तव व्यथते वद पुत्रक !, त्यज सहायवियोगसमुद्भवम् ।
विधुरमङ्ग ! न दुर्लभमस्ति ते, किमपि सन्निधिभाजि मयि क्षितौ ॥२॥

न वनमित्यवसेयमिदं मयि, स्थितवतीह समस्तकृतिक्षमे ।
नगरमप्यधिकं तदरण्यतो, भवति यत्र न सम्मतसङ्गमः ॥३॥

जनकतुल्यगिरं तमुदीक्ष्य स, प्रसृतलोचनपङ्कज ऊचिवान् ।
अयि सतां प्रथमप्रथितार्द्रधीस्त्वमिति कः कुत इत्थमिहागमः ॥४॥

कुत इदं सलिलं दलिता रति - प्रियतमाङ्गमिवानय उज्ज्वलम् ।
इति स पृष्ट उदाहरदुन्मिषद् - दशनदीधितिरोचितदिङ्मुखः ॥५॥

सततकान्तनिवासरुचित्वतः, सुरयुवाप्यवसं भुवि गुह्यकः ।
क्रमसमागतमप्यगुणं सुधीस्त्यजति धामगुणोद्धुरमाप्य तत् ॥६॥

ध्रुवमशेषवनातुलसौरभोद्गततया कुसुमैरिति सौरभे ।
विजितकल्पतरुश्रियि भूरुहे, विषमपत्र[1] इहैव वसाम्यहम् ॥७॥

सरसि हंस इवामृतभावतस्त्वदनुभावत आगममत्र च ।
न खलु षट्पदसंहतिमाह्वयत्युदितसौरभपद्धतिकेतकम् ॥८॥

सलिलमाहृतमत्र च मानसाद्, विमलमूर्त्ति यथा तव मानसम् ।
दिविषदां सरसः सततोन्मिषज्जलजजातरजः परिपिञ्जरात् ॥९॥

कथान्तरालेऽपि महेन्द्रसिंहः, सकौतुकः प्राह पिकस्वनां ताम् ।
आर्येऽद्भुतं कर्म तदस्य यत्को, वनेऽपि यत् प्राणदयां चकार ॥१०॥

न पुण्यमेवाद्भुतमस्य किन्तु, सद्वृत्तमप्यार्यविचित्रमेव ।
अतोऽभिधास्ये तदितो विचित्रै - र्वृत्तैरपीत्याह वसंवदासा ॥११॥

---

१. सप्तच्छदे ।

पिब यथेच्छमतुच्छमिदं पयः, सकलदोषविभेदरसायनम् ।
भवति यत्र मुदे दयितावपु - र्ललितमप्युपगूहनवञ्चितम् ॥१२॥[1]

इति यक्षवरस्य समं वचसा, मधुरं स पपौ शुचिशीतजलम् ।
हितदर्शितशुद्धपथानुगतौ, स्त्रगितीह सुखैषिण उद्यमिनः ॥१३॥[2]

जलपानविधेः स पराप मुदं, सकलाङ्गलतापरितापहरम् ।
न हि सीममहौषधिवीर्यगते - रिह विद्यत उत्तमकार्यकृतौ ॥१४॥

अथ सुस्थवपुः क्षितिपालसुतस्तमपृच्छदनुत्सुकवाक्यगतिः ।
कथमीदृश वारिसुधौघनिधि-र्निकटी भवति श्रमनाशपटुः ॥१५॥

अरणिस्थशिखीव वहिर्न बहुः, पुनरन्तरतीव स तापदवः ।
मम शान्तिमुपैष्यति यो हि परं, यदि तत्र विचित्रतनुस्नपनैः ॥१६॥

इति तस्य निशम्य वचो मुदितस्तमभाषत सोऽपि कृपार्द्रमनाः ।
रघुवंशपतेरिव वायुसुते, मयि कृत्यशतक्षमचारुबले ॥१७॥

तव भृत्यपदं दधति स्वरसाद्, भविता लघुलोलतरङ्गगतिः ।
निकटस्त्वदपेक्षितकार्यकरः, पयसः समुपाश्रय एष वरः ॥१८॥
युग्मम्

गमनं यदि वाञ्छति तत्र भवान्, नभसाऽहमितोऽपि नयामि तदा ।
न हि किञ्चिदसाध्यममर्त्यमनःपरिकल्पितमस्त्यखिलेऽपि जने ॥१९॥

अवगततदभिप्रायो यक्षस्तं मानसं सरोऽनैषीत् ।
न हि सीदन्ति सुभृत्या, विदितस्वामीङ्गिताः कार्ये ॥२०॥

तत्र हैम न हिमौघशीतलां, सन्ततिं स पयसामसेवत ।
कामिनीमिव विनिद्रपङ्कजैः, सस्पृहं तदवलोकिनीमिव ॥२१॥[3]

राजहंसकलकूजितोद्धुरां, चक्रवाकमिथुनस्तनस्थलाम् ।
लोलवीचिपरिनर्त्तितभ्रुवं, कान्तमानसविशेषशायिनीम् ॥२२॥
युग्मम् ।

सोऽपिवच्च विशदां मुहुर्मुहुस्तां तथा प्रथितमोदसम्पदम् ।
कामुकाकृतिरशेषविग्रहोत्तापहानिमभजद् यथा क्षणात् ॥२३॥

---

१. द्रुतविलम्बितम् । २. तोटकम् (त्रयोदशपद्यादारभ्य एकोनविंशतिपद्यपर्यन्तम्) ।
३. रथोद्धता (एकविंशतिपद्यादारभ्य त्रिंशत्पद्यपर्यन्तम्) ।

लीलया स परितः परिभ्रमन्, निर्वृतोऽथ वनराजिमाययौ ।
दृश्यदर्शनविवृद्धतृष्णयोश्चक्षुषोरमृतनिम्नगामिव ॥२४॥

त्यक्तरम्यनिजवाससंस्थिति - र्यत्र कान्तनिखिलार्थसीमनि ।
चित्रकेलिरसिताक्षयक्षकः, सन्ततं स वसति स्म कौतुकी ॥२५॥

काननस्थसुरकामिनीजनस्यापि दत्तनयनाम्बुजोत्सवम् ।
तं निरीक्ष्य स चुकोप गुह्यकः, शर्करापि कटुरेव पित्तले ॥२६॥

प्राग्भवीयगृहिणीनिमित्तकोपाऽऽत्ततीव्रतरगूढमत्सरः ।
तं स लोचनगत विलोकितुं, नाऽक्षमिष्ट गरुडं फणी यथा ॥२७॥

निर्निमेषनयनः सपाटलां, तत्र दृष्टिमधमः क्षिपन् रुषा ।
स्नातकान्तवपुषोऽस्य कुङ्कुमालेपकान्तिमतनोद् ध्रुवं तदा ॥२८॥

आक्षिपत् सपदि चैष तं रुषा, रामभद्रमिव रक्षसां पतिः ।
यास्यसि क्व मम दृष्टिगोचरं, त्वं गतोऽपि सह जीविते नरे ॥२९॥

तत् सम्प्रत्याश्रयेः शरण्यं, मरणं ते भविताऽन्यथानुमत्तः ।
प्राणप्रार्थी प्रकाशयेर्वा, त्वरितमनल्प पौरुषं विशिष्टम् ॥३०॥

प्रोचे वीरस्तं कुमारोऽसुमारस्त्राणं दीनो बिभ्यदेवाभ्युपेयात् ।
त्रासस्त्विन्द्रादप्यमोघास्त्रभाजो, बाहूत्सर्पद् वीर्यवत्वान्न मेऽस्ति ॥३१॥[1]

दुर्वाक्यं ते मर्षितं कौतुकित्वाद्, त्वद्बाहुश्रीनर्त्तनप्रेक्षणेषु ।
ईदृग्वाचं ह्यन्यथानात्मनीनं, सद्यः स्तब्धं चूर्णपेषं पिनष्मि ॥३२॥

आकर्ण्यैतद् गुह्यकः शारदार्कच्छायां त्रिभ्रत्तीव्रतापेन रौद्रीम् ।
रोषावेषान्मारुतं मारणाय, क्षमाभृत्सूनोर्वेगवन्त मुमोच ॥३३॥

तुङ्गक्षोणीरुट्शतोन्मूलनानि, प्रादुष्कुर्वन् रंहसा सस्वनेन ।
कल्पान्तोद्यद्वायुना स्पर्द्धमानश्चित्तोत्कम्पं यो जनस्याऽऽततान ॥३४॥

विश्वस्याऽपि स्तम्भिताक्षप्रचारो, रेणोर्वर्षैरन्धकारानुकारैः ।
नूनं दुष्टां तद्दृशं तत्र रुन्धन्, यो वाति स्मोद्बोधिताकालकालः ॥३५॥

विशेषकम्

१. शालिन्युक्ता (एकत्रिंशत्पद्यादारभ्य चत्वारिंशत्पद्यपर्यन्तम् ।)

हत्वा लोकान् भूरिशो हेलयैवा-त्यन्तानन्दान्नूनमारूढरंहाः ।
अन्योऽन्यं यस्ताडितैर्गण्डशैलै-र्मन्ये बाढं वादयन् कांस्यतालान् ॥३६॥

दूरोद्धूतैः पत्रहस्तैः प्रनृत्यन्, गायन् गाढं सूत्कृतैस्तीव्रमन्दैः ।
स स्फूर्त्तित्वान्नवमान्विष्टपेऽपि, व्यक्तां दध्रे दुष्टवेताललक्ष्मीम् ॥३७॥
युग्मम्

आवर्त्तैरावर्त्तनानि प्रयच्छन्, शैलानामप्युल्वणैस्तं कुमारम् ।
निन्ये भ्रान्ति सत्वरं चक्रभङ्ग्या, स प्रोन्मीलन्मण्डलीवात उग्रः ॥३८॥

चित्तेऽक्षुभ्यत् तेन नाऽसौ गभीरः, कायेऽप्यासीद् वज्रसारो न दुस्थः ।
किं कान्तश्रीः कालिमानं जलौघै-र्नीयेताहो यामुनै राजहंसः ॥३६॥

तत्राध्वस्ते केवलं मोघवृत्ति-र्दौस्थ्यं प्रापद् यक्षकोऽसौ विलक्षः ।
शैलेन्द्रे हि प्रोन्मदस्य द्विपस्य, प्रौढोऽपि स्याद् दन्तभङ्गाय घातः ॥४०॥

तदपि पुनस्तं हन्तुं समुद्यतस्तरुणनकुलमिव भुजगशिशुः ।
प्राकाशयत् स रूपं, विभीषणं रक्षसो निचितगगनतलम् ॥४१॥
आर्यागीतिः

हासै रौद्रैर्ब्रह्माण्डं यत् पूर्णं चक्रे भूयो भूयः ।
नूनं शब्दब्रह्मेव स्वैः कार्यैर्नादैः सङ्ख्यातीतैः ॥४२॥[१]

श्यामद्युत्या मेघच्छायां बिभ्रत् शम्पाकान्तिं दृग्भ्याम् ।
ध्वानैर्गर्जद् यद्वर्षाभां ग्रीष्मेऽप्याधात् पूर्णां रौद्रीम् ॥४३॥

कालस्यास्त्रीं लोलां जिह्वा-मास्याद् बाह्यां कुर्वद् गुर्वीम् ।
धुन्वत् खड्गं यत्पाणौ स्वे धृत्वा क्रोशान् भूरींश्चाऽदात् ॥४४॥

पादाघातैः सर्पाधीशं साहाय्यायोद्‌बुद्धं कुर्वत् ।
नूनं भूमिं कम्पाकीर्णां चक्रे वल्गन्नाना यच्च ॥४५॥

दन्ताग्रेष्वप्याविष्कुर्वत् किञ्चिज्जग्धान् जन्तोर्भागान् ।
न्यक्कुर्वद् यत्कालं तन्वा कृत्यैश्चासीद् भीष्मप्रष्ठम् ॥४६॥

तेनाऽप्येष क्षोणीभर्तुः सूनुः सेहे नैवाधातुम् ।
पात्रं भीतेरप्यल्पायाः किं नागः स्यात्तार्क्ष्यक्षेपी ॥४७॥

१. विद्युन्मालाछन्दः (द्विचत्वारिंशच्छ्लोकादारभ्यैकोनपञ्चाशच्छ्लोकपर्यन्तम् ।)

राज्ञः सूनुस्त्वेतत् प्रत्याधावत् रे ! रे ! क्व त्वं यासि ।
इत्थं जल्पंस्तावत्तेनोत्क्षिप्तः खड्गस्तत्र क्षेप्तुम् ॥४८॥

पुण्याल्लग्नो नाऽसावङ्गे, त्वेतस्यैषोऽप्यस्त्रं दध्रे ।
उत्पाद्योरुस्कन्धं शालं, सार्द्धं मूलैः शाखाभिश्च ॥४९॥

अथ दिवि लसद् रक्षो रूपं समीक्ष्य स यक्षकं,
नृपतितनयस्तेन क्रोधात्तथा समताडयत् ।
द्रुतमतिमहा ऊर्वोस्तीव्रं यथाऽपतदम्बराद्,
भुवि दधदधश्छिन्नस्योच्चैस्तमालतरोः श्रियम् ॥५०॥[1]

ततः सुरैः सिद्धगणैश्च तोषाच्चक्रे कुमारोपरि पुष्पवर्षः ।
स्निग्धैरिवाक्रान्तपरस्य पुंसस्त्रिलोक्यपि स्याल्लघुमित्रपक्षे ॥५१॥

दर्पात् सर्पास्तमभितदनु स, क्षुद्रो रौद्रानमुचदधमधीः ।
नो वेत्ति स्वं सुदृढविदलितोऽप्यज्ञोऽसज्ञाऽधरितखरशिशुः ॥५२॥

द्राघीयांसोंऽजनरुचिवपुषो, भूकामिन्या नवकचततयः ।
नूनं रेजुर्मणिकुसुमयुजो, ये विश्वस्योपहितभयभराः ॥५३॥

जिह्वायुग्मैररुणसुतरलै - र्विद्युल्लक्ष्मीमध उपदधतः ।
चक्षू रुच्या विषमिव भरतो, ये मुञ्चन्ति स्म घनमसितया ॥५४॥

तानप्येषोऽच्युतरथकरणि[2] - दृष्ट्याऽप्युच्चैरमृतमधुरया ।
शान्तिं निन्ये किमतनुसुकृता, नो कुर्वन्तीतरजनविषमम् ॥५५॥

यक्षो भूयो विषधरविसरै-र्बध्वा बाढं सकलवपुषितम् ।
चक्रेऽत्यन्तं विवशमशरणं, जीवं कर्मौघ इव बहुभवैः ॥५६॥

बद्धश्चैतैः सुरगिरिरिव स, भ्रेजे स्पृष्टो जलधरततिभिः ।
दीर्घश्यामाभिरभित उदयत्, कल्याणश्रीर्विबुधसुरुचितः ॥५७॥

एतांस्तंतूनिव स समभिनन्मंक्षु प्राणातिशयजलनिधिः ।
राज्ञः सूनुः शितगुरुपरशोः, किं वा चित्रं नलदविदलने[3] ॥५८॥

---

१. हरिणीछन्दः । २. गरुडसदृशः । ३. तृणविशेषः ।

रेजुः पार्श्वेऽस्य पतितभुजगा, मेरोः श्यामा इव तरुनिवहाः ।
यद्वा नाभिस्थितकमलजनैः, सान्द्राभासो मधुरिपुवपुषः ॥५९॥

सर्पाविष्टैर्विरहितवपुषो, लक्ष्मीरासीज्जलधरपटलैः ।
निष्ठ्यूतस्योज्ज्वलतममहसश्चण्डाभीशोः प्रमथिततमसः ॥६०॥

भ्रमरविलसिता[1]

इत्थं यक्षो बहुधा, पराजितोऽधिकतरां क्रुधं भेजे ।
जलदाभिभवादूर्ध्वं, दीधितिमिव दशशतमयूखः ॥६१॥

अवदच्च कुमारमयं रुषा, विदलितौष्ठपुटः कटुकं मया ।
शतशोऽवजिता बलभिद्बला, रिपुगणास्त्वयि का गणनाऽधुना ॥६२॥

यदि शक्रमुपैषि भयद्रुतो, यदि च लासि मुखेन जरत्तृणम् ।
तव नास्ति तथापि हि जीवितं, मृगशिशोरिव सिंहगुहायुजः ॥६३॥

नृपसूनुरकातरमानसस्तमतिसस्मयमेवमभाषत ।
वचनेन किमुद्धति फल्गुना, न हि जयन्ति परान् पटहस्वनाः ॥६४॥

यदि बालतृणेषु मृगो बली, मृगपतिं किमु हन्ति कदाचन ।
न च मूषिकवर्गपराजयी, जयति दन्तिनमुन्मदफेरवः ॥६५॥

चणकोऽतिसमुच्छलितोऽपि किं, दलयति स्थपुटं पृथुभर्जनम् ।
दिवि दीधितिकीटकदीधितिः, किमु पराजयते दिनकृत्प्रभाम् ॥६६॥

अतिबाल इव त्वमपि स्फुटं, दृढफले दशनाय समुद्यतः ।
द्रुतमाप्स्यसि चान्तरमायसे, चणकखण्डनपण्डितदन्तकः ॥६७॥

शरणेऽपि न तस्य भवेत् प्रियं, निजबलं न हि यस्य निराकृतेः ।
हरमूर्द्धगतोऽपि च राहुणा, कवलितः शशभृत् सहसा विना ॥६८॥

यदि चाद्रिपतिर्लुठति क्षितौ, विशति नागगृहं सितदीधितिः ।
जलराशिरुपैति भिदां स्थिते - र्गगनमुज्झति वैभवमात्मनः ॥६९॥

न तथापि वचोऽपि मनस्विनां, श्रयति दैन्यमनन्यसमौजसाम् ।
प्रलयेऽपि दधाति किमम्बरं, कठिनतामुपलप्रचयोचिताम् ॥७०॥

युग्मम्

१. द्विपञ्चाशत्पद्यादारम्य षष्टिपद्यपर्यन्तम् ।

वदनेन जरत्तृणसङ्ग्रहं, कथममी बत कुर्युरुदश्रवः ।
असहं रविरश्मिततेरपि, श्रयति कैरवमग्निचय न हि ॥७१॥

इति विक्रमसारवचःश्रुतेः, श्रुतिपथज्ज्वलितो वनगुह्यकः ।
नृपसूनुमभिव्यसृजन् मुहु - र्निविडमुष्टिततीः सुशिला इव ॥७२॥

हरिणप्लुता[1]

किं निपतन्ति घनौघाः[2] कृतान्तदण्डा अथवा ।
एवमनेकविकल्पोत्थानमदुः संयतिताः ॥७३॥

युग्मविपुला

मानप्राणद्विगुणान्, घातांस्तस्मै ददौ कुमारोऽपि ।
न प्रतिकारे तुच्छा, भवन्ति कुत्रापि विपुलेच्छाः ॥७४॥

यक्षोऽपि तैः प्रहारैः, प्रापच्छतशर्करत्वमुद्विग्नः ।
अद्रिरिव कुलिशघातैः, कठिनतमाङ्गोऽपि सहसैव ॥७५॥

मल्लवदङ्गेनाङ्गं, निपीडयन्तौ दृढं नियुयुधाते ।
सत्वं निष्कष्टुमिवाऽन्योन्यं विजिगीषया वीरौ ॥७६॥

तावितरेतरपिण्डितवपुषौ नो लक्षितौ विभेदेन ।
केनाऽपि नीरपयसी, इव हंसेतरविहङ्गेण ॥७७॥

शंसन्ति सुरा यक्षं, कुमारमन्ये तु खचरसिद्धगणाः ।
निजजातिपक्षपातो, विलसति साम्येऽप्यहो प्रायः ॥७८॥

विद्याधराङ्गनानां, कुमाररूपावलोकतृषितानाम् ।
न जये पराजये वा, चिन्तास्वार्थी हि सर्वोऽपि ॥७९॥

यद्यपि सममुत्थानं, पातोऽपि समः समाः प्रहाराश्च ।
भुजगपतिनकुलयोरिव, तयोस्तदा क्रोधकोटियुजोः ॥८०॥

विघटितसन्धिश्चक्रे, सर्वेष्वङ्गेषु सत्कलायोगात् ।
यक्षस्तेन तथापि, स्युर्महतामपि महीयांसः ॥८१॥

युग्मम्

अतिकुपितमना यक्षः, क्षणमपि परिचिन्त्याधात् ।
प्रहरणमविघात्यं यत्, कुलिशमिव परैस्तीव्रम् ॥८२॥

---

१. द्विषष्टिपद्यादारभ्य द्विसप्ततिपद्यपर्यन्तम् । २. लोहमुद्गरसमूहाः ।

मुद्गरमुज्ज्वलमायतबाहुः, सीरभुजः[1] शितसीरमिवैकम् ।
दूरमगच्छदमुं हि गृहीत्वा, मेष इव प्रतिहन्तुमनीचैः ॥८३॥[2]

तेन च धावनपूर्वममुं स, प्राहरदुन्नतवक्षसि गाढम् ।
मूर्तिमतेव समस्तनिजाङ्गोल्लासिबलेन निरायतिभाजा ॥८४॥

कौतुकलम्पटसिद्धवधूना - मश्रुजलैः सममेष पपात ।
क्षोणितले विनिमीलितनेत्रा - म्भोजविषादितखेचरवारः ॥८५॥

कूजितपुञ्जितपक्षिनिनादै - र्नूनमरोदिषुरुद्गतशोकाः ।
तत्र रुजा युजि काननदेव्यः, कस्य सुखाय हि सज्जनपातः ॥८६॥

मानसमध्यवहन् मृदुशीत - स्पर्शसमीरनिवर्तितमूर्च्छः ।
पङ्कजबन्धुकरौघविभिन्ना - म्भोरुहविभ्रममापदथैषः ॥८७॥

उत्थितवत्यथ तत्र कुमारे, कन्दुकवद्द्विगुणास्फुरिताढ्ये ।
कोकनदच्छवियक्षमभिस्राक्, न्यस्यति चक्षुरनक्षरसत्वे ॥८८॥

सोऽपि युयुत्सुरधावदमुं प्रत्युन्मदकाननसैरिभलक्ष्मीः ।
कल्पविवर्त्तसमुद्यतकाल - प्रेरितबालवयस्य इवोग्रः ॥८९॥

युग्मम्

वीरजनस्य हि हस्तनिविष्टं, सर्वमिहायुधमाहवकाले ।
येन बभार समुद्धृतमूलं, चन्दनशाखिनमाशु कुमारः ॥९०॥

किं वटचिह्नधरः प्रतियक्षः, किमु विधृतोरुकदम्बपिशाचः ।
आकलयन्निति गुह्यकराजस्तं विनिवृत्तरणाग्रह आसीत् ॥९१॥

कोपविवृद्धिमनुप्रतिवृद्धिं, यान्ति न सर्वपराक्रमलक्ष्म्यः ।
सातिशयानुशयोऽपि यदेषो - ऽवाञ्छदितः प्रपलायनमेव ॥९२॥

तथापि चोग्रमायया, जिगीषुरेनमादधे ।
स यक्षकः प्रवर्धनं, तनोर्भयानकं दिवि ॥९३॥[3]

खचरादिजनोपि तदाधाद्, वृद्धमवेक्ष्य विहायसि यक्षम् ।
मनसि ध्रुवमेष विधाता - ऽस्माभिरमाविनिपातममुष्य ॥९४॥[4]

---

१. वलभद्रः । २. दोधकवृत्तं छन्दः (त्र्यशीतिश्लोकादारभ्य द्विनवतिश्लोकपर्यन्तम्) । ३. प्रमाणिकाछन्दः । ४. वेगवतीछन्दः (चतुःनवतिश्लोकादारभ्य द्व्यधिकशतश्लोकपर्यन्तम्)।

अपरेऽभिदधुर्यदि मर्त्य, देव इहैष जयेत् किमयुक्तम् ।
करिराजहते मृगराजे, स्वल्पतनौ हि क एव विषाद: ।।९५।।

विदुरा: पुनराहुरहो किं, तार्क्ष्यशिशुर्भुजगस्य विजेय: ।
नररूपधर: खलु दिव्य:, कश्चिदयं स्फुरितै: कथिताऽऽत्मा ।।९६।।

इति वादिषु कौतिकिषूच्चैश्चन्दनशस्त्रवरेण विजघ्ने ।
स्फुरदूरुयुगे स तु तेन, क्ष्माभृदिवाऽशनिनाऽसुरराजा ।।९७।।

अतिदक्षतया पुनरेनं, निस्सहमापतनं विदधानम् ।
समताडयदारसमानं, तेन[1] करेण करीव तलद्रुम् ।।९८।।

छिनवृक्ष इवाचलमूर्द्ध्नो, नाग इव ह्रदिनीगुरुतटयाः ।
शिवजूटतटादिव वाऽम्भ:, सोऽपतदम्बरदेशत उच्चात् ।।९९।।

अभवद्विकल: स हतश्री:, कौरवराज इवोरुविघातात् ।
खचरादिदृशां तदवस्था - वीक्षणमप्यतनोद् गुरुतापम् ।।१००।।

स्वबलं य इहाकलयेन्नो, नूनमसौ हि विगुप्यति लोके ।
विजितप्रचुरारिरयं यत्तादृशमाप दशां नृपसूनो: ।।१०१।।

पशव: सकला न शृगाला, भूमिरुहा अपि न ह्युरुवूका:[2] ।
इति तत्त्वविदप्यमु मायाद्, योद्धुमहो स कुधीर्बलशक्रम् ।।१०२।।

रुरुधे यद् भूपनन्दनं, युद्धायैष तदेतदागतम् ।
सिंह: सुप्तो विबोधित:, करिपोतेन बलाज्जिगीषया ।।१०३।।[3]

वञ्चितसकलजनेक्षणमार्गस्तत्क्षणनिर्मितगुरुतरशैलम् ।
तदुपरि पातयति स्म स साक्षात्, पिण्डमिवोरुरुषां निचितानाम् ।।१०४।।

चूर्णनबुद्ध्या किमपि विलम्ब्या, क्षिपदथ शैलं तस्य शिरस्त: ।
तत्राऽपश्यदखण्डशरीर, वज्रमयत्वात् क्षितिपतनूजम् ।।१०५।।

सोऽपि समुल्लसिता तनुकोपो, यावदचिन्तयदस्योन्मथनम् ।
तावद् यक्षोऽतिशयविलक्षो, हत इव मर्मणि सव्यथ आसीत् ।।१०६।।

ज्ञात्वाऽजय्यं शेषैर्युद्धै:, प्रारभतैष परं भुजयुद्धम् ।
इतरप्रहरणविषयातीते, चक्रविमोक्षणमिव चक्रेश: ।।१०७।।

---

१. चन्दनेन । २. एरण्डा । ३. वैतालीय छन्द: ।

चिन्तयति स्म न तत्त्वं[1] मुग्धः, सर्वाजय्यं पार्थिवसूनोः ।
वज्रस्येवानलजललोहाक्षय्यं विष्टपविदितमपीह ॥१०८॥

प्रातर्कयत् कुमारः किमयं, शृङ्गविहीनो वृद्धो वृषभः ।
यदनेकध्यं विजितोऽपीत्थं, संज्ञाशून्यो वाञ्छति योद्धुम् ॥१०९॥

अथवा लोकप्रथितोपाख्या, चक्रीवान्नात्मानं विद्यात् ।
कर्णामोटं विना विसंज्ञो, हा हाऽज्ञानं दुःखनिदानम् ॥११०॥

यावज्जीवति बालिश एष, प्रोज्झति तावन्न स मितिबुद्धिम् ।
नानस्तमितो घर्ममरीचिर्ज्जगदुत्तापकतां परिजह्यात् ॥१११॥

तदयमनात्मविद तनुगद इव गुरुतरदोषसूत्रयिता-
क्षयमुपनेय उपक्रमसार्थविदा[2] भिषजेव वल्गता[3] ।
सम्प्रति हि मया न जातु तैमिर उपद्रवो निवर्त्तते,
विसरति तिमिरनिकरेऽपि स किन्तु निरङ्कुशो विवर्धते ॥११२॥[4]

इत्थमन्तरवमृश्य कुमारो, बाहुदण्डपरिपीडितमेतम् ।
आदधौ विबुधसंस्तुतवीर्यो, दैत्यभेदमिव पङ्कजनाभः ॥११३॥[5]

स्वं विमोच्य कथमप्यथ यक्षस्तं जघान विततोरसि मुष्ट्या ।
भूतले परिलुठन्न वशाङ्गः, सोऽपि मीलितविलोचन आसीत् ॥११४॥

मूर्च्छनाऽपगमनात् समुदस्थात्, सुप्तबुद्ध इव केसरिपोतः ।
क्रोधवाडवपयोनिधिराजो, राजसूनुरपहस्तितबाधः ॥११५॥

मुष्टिभिर्विजितशैलशिलाभि - र्वज्रदन्तपरिभूतिपदाभिः ।
अप्यमर्त्यवपुषां दलनीभिर्दार्ढ्यतोऽतिशयितादतिवेलम् ॥११६॥

अन्धकासुरमिवान्धकभेदी, शैलराजमिव निर्जरराजः ।
क्रुद्धनाग इव वा प्रतिनागं, प्राहरन्नृपसुतस्तममन्दम् ॥११७॥
युग्मम्

---

१. स्वरूपम् । २. शक्तिकलाविशेषरूपनिराकरणहेतुज्ञात्रा वैद्ये न तु लंघनरक्तश्रावलघनौषधविशेषज्ञात्रा । ३. सोत्साहं चेष्टमानेन । ४. द्विपदीछन्दः । ५. स्वागताछन्दः (त्रयोदशाधिकशतपद्यादारभ्य एकविंशत्यधिकशतपद्यपर्यन्तम् ।

गाढघातशतजर्जरिताङ्गः, प्राप शैलशिखरच्युतमूर्त्तेः ।
स्पन्दनस्य लुलितावयवस्य, श्रीविशेषमसकृत्प्रतिपक्षः ॥११८॥

आर्त्तनादममुचच्चितबाधो, मूर्त्तिमन्तमिव गर्वमखर्वम्[1] ।
क्रुद्धभूपसुतपाणिसमुत्थै-र्मुच्यते स्म न तथापि स घातैः ॥११९॥

एवमप्यपजहौ न यदेष, प्राणसार्थममरत्ववत एव ।
तद् ध्रुवं न हि पविक्षतपक्षो-ऽक्षीणमूर्त्तिरिह जातु गिरिः स्यात् ॥१२०॥

कण्टका इव खला न हि भङ्गादन्यथापि जहति व्यथकत्वम् ।
आरसन्तमपि नार्त्तममुं तद्विप्रमोक्तुमिह सोऽभिललाष ॥१२१॥

त्रिदशखचरसुन्दरीणां दयार्द्र भव-
न्मानसानां महाप्रार्थनानां शतै-
र्वदननिहिततर्ज्जनीकं सतां शोच्यम-
त्यन्तदीनं प्रभो मुञ्च मुञ्चेति च ।
अभिदधतमधीररावं पुनर्युद्धबुद्धे-
रपि त्यागिनं सारमेयायितं,
नृपतितनुज ओज्झदानन्दिताशेषदि-
व्यादिलोकस्तमुद्भ्रान्तिगं गुह्यकम् ॥१२२॥[2]

यक्षे जिते शिरसि तस्य पपात पुष्प-
वर्षः सहर्षसुरखेचरहस्तमुक्तः ।
सौरभ्यवासितसमस्तदिगन्तरालो,
मूर्त्तो यशःसमुदयो ध्रुवमिन्दुकान्तिः ॥१२३॥[3]

उद्घोषणा प्रववृते गगनेऽपि विष्वग्,
विद्याधरादिवदनाम्बुजखण्डजन्मा ।
निर्द्धूतविश्वसुभटोऽप्यसिताक्षयक्षो,
निन्ये द्रुतं वशमहो पुरुषोत्तमेन ॥१२४॥

१. प्रभूते । २. चण्डवृष्टिप्रपातो दण्डकः । ३. वसन्ततिलकं छन्दः (त्रयोविंशत्य-धिकशतमेकपद्यादारभ्य सर्गान्तपर्यन्तम् ।

आनन्दिपञ्चमविपञ्चनकोविदानां,
जैत्र्यः स्वरैः समदकोकिलकामिनीनाम् ।
लोकत्रयश्रवणदत्तसुधौघवर्षं,
सिद्धाङ्गना अपि जगुः प्रमदप्रकर्षात् ॥१२५॥

आयोधनेषु तुलितातुलकेवलस्व-
वीर्यं प्रशस्यमनयोरिदमेव लोके ।
यत्र त्वसङ्ख्यचतुरङ्गबलौजसैव,
सिद्धिः प्रवीरविहितैरपि किं घनैस्तैः ॥१२६॥

दृष्टाः श्रुताश्च बहवोऽपि रणाः समानां,
वैषम्यभागुभयथाऽप्ययमेव चित्रः ।
मर्त्यस्य तावदमरेण समं यदेष,
प्रादुर्बभूव च यदत्र जयो नरस्य ॥१२७॥

इत्याद्यनेकविधसप्रमदप्रवाद-
व्याजप्रवादितयश पटहे सुरौघे ।
श्रीमत्कुमारमुखदर्शनलोलयोषिद्,
दत्तावसादमभिजग्मुषि नाकलोकम् ॥१२८॥

एतत्प्रतापपरिभूत इवातिमन्दे ,
सूर्ये श्रयत्यपरशैलगुहान्तराणि ।
आलिङ्गितः सरभसं विजयश्रियाऽथ,
तस्माद् वनाद् द्विरदवन्निरगात् कुमारः ॥१२९॥

—चक्कलकम्

एकाकिनाऽपि हरिणेव विजित्य यक्षं,
नागं बलं च नरकं च यथा तमश्च ।
प्रावर्द्धत त्रिभुवनप्रथितप्रताप-
भाजापि मोदफलदाऽमलकीर्त्तिवल्लिः ॥१३०॥

अत्यद्भुतेऽपि तनुमप्यभजत् प्रवीरो ,
नोत्सेकमेष समरे विजये विविक्तः ।
किं वा विकारमुपयाति पयोधिनाथो ,
गाम्भीर्यभाग् गुरुतरङ्गभरेऽपि जातु ॥१३१॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते असिताक्षयक्ष-
विजयो नाम: त्रयोदश: सर्गः ।
छ. ।१३।

चतुर्दशः सर्गः

कतिपयपदमात्रमेषोऽपि यावज्जगाम
प्रभिन्नेभलीलागतिर्भूतलं भूषयन् ,
सर इव कमलैर्जपाकान्तिभिः पादपृष्ठैः
कलैः कोकिलानां रवैर्गीयमानो ध्रुवम् ।
सपदि तनुविभावितानेन विद्योतिता-
शेषदिक्चक्रवाला रतेर्ह्रीपदोन्मीलिका
नयनविषयमाशु तावत् समाजग्मुरस्या-
ष्टसङ्ख्यादिशाङ्कन्यका नूनमब्जेक्षणाः ॥[1]
लवणिमजितरम्भा भानुवेगाख्यविद्या-
धरनरपतिपुत्र्यो यक्षजेतुर्ध्रुवं याः ।
क्षितिपवरसुतस्योपायनायाशु नागै-
र्विबभुरवनिमूलात् प्रेषिताः स्वीयकन्याः ॥२॥

---

१. अर्णाख्यो दण्डकः ।

निरुपमनिजरूपश्रीवितीर्णस्वकान्ता-
गुरुपरिभवदुःखा अप्यभूवन् सुमान्याः ।
मदननरपतेर्या विश्वजैत्रास्त्रभावा-
दुपकृतिविदुरैर्यद् गण्यते नाऽपकारः ॥३॥

सुरभिषु वदनेषूत्फुल्लपद्मभ्रमेण,
भ्रमरयुगमुवासेवाशु नेत्रापदेशात् ।
शशिरुचिमपि यासां धारयत्स्वक्रमेण,
द्विवसतिवसनेच्छापूरणायेव लक्ष्म्याः ॥४॥

मदनशबरनेतुः प्रोच्चदुर्गाधिवास-
प्रमददमपि विश्वं जेतुमुद्योगभाजः ।
कुचयुगमपि पीनं लङ्घयामास यासां,
नृपतिरिव गुणाढ्यो हेलया तारहारः ॥५॥

जितजगत उदञ्चत् खेदतः स्नानभाजो,
लवणिमजललोलन्निम्ननाभीसरस्याम् ।
जघनपुलिन[1]-मारात् कर्त्तुमाभाच्च यासां,
स्मरधरणिभुजङ्गस्येव लीलाविहारम् ॥६॥

कलरणमणिकाञ्चीदामबद्धं नितम्ब-
स्थलमपि विरराज स्थेमवच्चारु यासाम् ।
निगडनपदमुद्यन्मत्तशृङ्गारयोनि-
द्विरदपरिवृढस्येवोल्लसच्छृङ्खलावत् ॥७॥

स्तनजघननितम्बाभोगभारं महान्तं,
कथमिव सुकुमारा नित्यमेता वहेयुः ।
ध्रुवमिति गुरुपीनस्तम्भविभ्राजि युग्मं,
ललितरुचि यदूर्वोर्निर्ममे यौवनेन ॥८॥

---

१. सैकतम् ।

रुचिररुचिसमुद्यल्लक्षणश्रीनिधानं ,
पदयुगमनुलीनं मञ्जुमञ्जीरयुग्मम् ।
मरकतमणिसारोद्भावि[1] भाति स्म यासां ,
फणियुगलमिवैतद् रक्षकं कुण्डलश्रित् ॥९॥

विरचितमिह धात्रा नूनमेतद्विधाना -
वपतितपरमाणुश्रेणिभिः शेषविश्वम् ।
युवतिमयमनीदृक् केन हन्तान्यथाभ्यो ,
लवणिमजलधिभ्यः कान्तरूपावधिभ्यः ॥१०॥

निधय इव कलानां यौवनस्येव वासाः ,
सकलगुणमणीनां रोहणाद्रेरिवोर्व्यः ।
ध्रुवमपरमिवोपादाय निर्माणहेतुं ,
निरुपमचरिताढ्याश्चक्रिरे या विधात्रा ॥११॥

मधुरगतिरथैष तास्तत्र संवीक्ष्य कान्ते वने
सुभ्रुवो वैबुधोद्यानलीलाविडम्बिन्यलं ,
त्रिदशयुवतयः किमेता अथो भूरिरूपश्रितो
विश्वमोहाय कृष्णेश्वरानङ्गपत्न्यः स्वयम् ।

प्रचुरतरविकल्पकल्लोलमालां न्यधाच्चित्तवारां
निधावित्थमुद्भूतकौतूहलापूरितो ,
भवति हि विदुषोऽपि विश्वातिशायि क्षणाधायि-
वस्तुप्रलोके महानेव मोदः क्षितौ सम्भ्रमात् ॥१२॥[2]

दृष्टोऽसौ ललितविलोलनेत्रपत्रै-
स्ताभिस्तत्क्षणलसितोरुमन्मथाभिः ।
चन्द्रं वा किमु न विलोकयन्ति हर्षा-
दभ्यासे चपलचकोरयोषितो हि ॥१३॥[3]

---

१. निर्यासमुद्भूतम् । २. अर्णवाख्यो दण्डकः । ३. प्रहर्षणीयम् (त्रयोदशश्लोका-दारभ्य एकविंशतिपद्यपर्यन्तम्) ।

पश्यन्तो निमिषविलोचनास्तदास्यं,
कन्यास्ताः क्षणमपि लेभिरे न तृप्तिम् ।
गावो वा किमु विरमन्ति शीततोयात्,
तृष्णार्त्ताः कथमपि मानसं पराप्य ॥१४॥

तद्दृष्टौ मदननिदाघतापिताङ्ग्य-
स्ताः स्वेदप्रवहमुचः क्षणाद् बभूवुः ।
शीतांशोः करपरिमर्शनादिवोच्चैः,
स्तम्भस्था रुचिरनवेन्दुकान्तपुत्र्यः ॥१५॥

संयोगे मधुसुहृदा चिराद् वनेऽस्मिन्,
किं कामः प्रमुदितमानसोऽयमागात् ।
ना चापः शरविकलश्च सोऽपि शश्वत्,
तन्नूनं पुरुषविशेष एष कोऽपि ॥१६॥
किं त्वीशो न दिविषदामपीदृशाङ्को,
भूयस्या नयनवनश्रियाश्रितत्वात् ।
नोपेन्द्रः शितितमदेहभीषणत्वा-
न्नेशानो विषमविलोचनत्वरौद्रयात् ॥१७॥

न ब्रह्मा वदनचतुष्टयाङ्कितत्वा-
दित्यस्यासुरसुररूपदर्पहन्तुः ।
त्रैलोक्ये क्वमपि वचो विचारमार्गं,
क्रान्त्वैव स्थितमिदमद्भुतं स्वरूपम् ॥१८॥

इत्युच्चैर्नवनवकल्पना नदीष्णा,
अप्येताः प्रवदितुमीशते स्म तं नो ।
माधुर्यं पयस इवाऽपि वाग्मिनाथः,
को वाऽलं भुवि महतां गुणाभिधायाम् ॥१९॥

चक्कलकम्

सोत्कण्ठाः क्षणमथ निर्विदाभियुक्ताः,
कम्पाढ्याश्चकितविलोचनाः सशङ्काः।
सासूयाः प्रमदभरालसाः सचिन्ता-
स्तत्रासन्निति बहुकामचेष्टितास्ताः ॥२०॥

आश्चर्यः स मदनदेशितस्तदानीं;
व्यापारो वपुषि बभूव कन्यकानाम्।
यं वक्तुं यदि परमीश्वरः फणीन्द्रः,
सोऽपि स्याद् बहुयुगकोटिजीवितश्चेत् ॥२१॥

इति विविधविलासदासीकृतामर्त्ययोषा मुहु-
स्तत्र विन्यस्तविस्फारिनेत्राम्बुजप्रोच्छलत्सम्मदाः,
द्विरदघटनिभस्तनान्तर्लुठद्दीर्घशेषायमाणा-
मलस्थूलमुक्तावलीभासिताकुण्ठकण्ठस्थलाः।
नृपतिसुतमभिप्रवृद्धातिशायिस्पृहावाशिताः[1]
शाद्वले कानने दानलेखाङ्कितं कुम्भिनाथं यथा,
स निकटतरमेत्य दन्तप्रभाधःकृतोत्फुल्लकुन्द-
द्युतिस्ता बभाषे स्मितक्षालितातास्त्रदन्तच्छद ॥२२॥[2]

कुतोऽत्र काः किमिति विभूषितं वनं,
निजस्य या वदत सरोजलोचनाः।
कजव्रजा न कठिनपर्वतावनौ,
प्ररोहणं विदधति जातु कोमलाः ॥२३॥[2]

ससम्मदप्रणयसुधारसश्च्युत-
ङ्गिराधरीकृतपरपुष्टनादया।
तमाश्ववादिपुरतनुस्मरस्मित-
प्रभाजलप्रकृततदास्यमज्जनाः ॥२४॥

---

१. करिण्यः। २. व्यालाख्यो
एकत्रिंशत्पद्यपर्यन्तम्।

अस्त्यस्मदीया प्रियसङ्गमाभिधा-
नेदीयसीतः प्रवरा महापुरी।
या सर्वथा दत्तदरिद्रताविधिः,
पुरोऽमराणामपि विश्वसम्पदः ॥२५॥

ततोऽधुना सकरुणमादृशे जने,
पुरीमिमां प्रति नरपुङ्गव व्रजेः।
गतः शनैः सकलमपि प्रमास्यसे-
ऽस्मदीयमाचरितमिहागमादिकम् ॥२६॥

पवित्रिता भवति च सा त्वया पुरी,
स्वदर्शनैरमृतपानसम्मितः।
भवादृशा न खलु विधेयसञ्चये,
किलेदृशे स्वयमपि नैव कोविदाः ॥२७॥

स कन्यकाः सपदि सभाजयन्मुदा,
व्यधादथाभिहितममूभिरञ्जसा।
विदो न हि प्रणयभरोपरोधिता,
न किञ्चनादधति वचः प्रियार्पितम् ॥२८॥

परापतां पुरमथ भूरिकञ्चुकि-
प्रदर्शिता नवमतदीयपद्धतिः।
लभेत वाभिमतमपीह धाम को,
न मार्गगो हितजनशुद्धभाषया ॥२९॥

यदा च स प्रचलितपूगकेसरं,
प्रभञ्जनैः कुसुमसुगन्धलालितैः।
विटैरिवोपवनमुपाययौ पुरः,
प्रभाकरः सपदि तदा तिरोदधे ॥३०॥

न कौतुकं कुवलयमोदबन्धुरे,
नृपाङ्गजे यदुदितवत्यनुष्णगौ।
अदृश्यतामभजत चण्डदीधितिः,
क्व वा स्थितिः शिखिनि कटे स्फटावतः ॥३१॥

निधिरपि महसो महोदयकारिणो, दिवसपतिरसौ जगाम शमं तदा ।
कलयति हि न कं कृतान्तमहाभटः, स्वसमयवशतः समर्थशिरोमणिः ॥३२॥[1]

सुरक्तसूर्यामभिवीक्ष्य पश्चिमा-मीषद्ध्रुवं श्याममुखास्तदेर्ष्यया ।
सद्यो बभूवुः सकला दिगङ्गनाः, पत्युर्विपक्षानुगमो हि दुस्सहः ॥३३॥

प्राच्याः समामस्तदिशेऽपि सम्पदं, दिवाकरे यच्छति रागशालिनि ।
तत्राविशेषज्ञशिरोमणौ महारुषेव भेजे तमसस्तति वनम् ॥३४॥

यदाकुलव्याहृतयो विहङ्गमाः, संजग्मुरुच्चैः शिखराणि शाखिनाम् ।
लोकान्तरं प्रापुषि पद्मबान्धवे, क्रन्दन्त्य सुस्थाः स्म तदुच्छुचो ध्रुवम् ॥३५॥

ह्वातुं प्रियं वासकसज्जयोषित-स्तल्लालितः केलिकलापिपोतकः ।
आरुह्य यष्टिं क्षणमुच्चुकूज यत्तन्निष्क्रयं दित्सुरिवैष तां प्रति ॥३६॥

भविष्यदासन्नवियोगविस्फुटच्चक्राह्वचेतः क्षतजेन सम्प्लुतम् ।
रक्तं जलं नूनमधुस्तदापगाः, सन्ध्याभ्ररागप्रतिबिम्बचुम्बितम् ॥३७॥

गतेऽपि चास्तं तिमिरप्रमाथिनि, क्षणं व्यजृम्भन्त न तामसाश्चयाः ।
मृगाधिराजे पतितेऽपि यन्मृगाः, सद्यस्तदासन्नचरा भवन्ति नो ॥३८॥

नीलं क्वचित् क्वापि सपाटलं नभो, निष्पच्यमानाम्रफलस्य विभ्रमम् ।
दधौ नृणां कालविशेषनिर्मितां, दशां विचित्रां प्रतिपादयद् ध्रुवम् ॥३९॥

श्यामैकरूपत्वमथ क्षणाद् दधौ, द्यौः [2]पुण्डरीकाक्षतनूरिवाभितः ।
का निर्मला स्याद् विगते महोनिधौ, लोकान्तरं प्रेयसि वा महीयसी ॥४०॥

अस्तङ्गते चाथ रवौ खगेश्वरे, तमोमहानागबलानि सर्वतः ।
निरङ्कुशं कौशिकवृन्दमोदका - न्याविर्बभूवुर्भुवनोदरेऽखिले ॥४१॥

असिच्यन्तेवाऽलं मृगमदरसैर्वासभवना-
न्यगृह्यन्तेवोच्चैः सकलकमलिन्यो मधुकरैः ।
समाच्छाद्यन्तेवाऽसिततरपटैः स्त्रीकुचतटाः ,
महाकोलाभासे विलसति जगत्यन्धतमसे ॥४२॥[3]

---

१. अपराजिता छन्दः । २. विष्णुवपुरिव । ३. शिखरिणीछन्दः ।

किं गर्भवासस्थमुताऽञ्जनास्तृतं, किं वोरुगारुत्मतपञ्जरं श्रितम् ।
अथाऽहिलोके पतितं जगत्तदे त्यवेदि सम्यग् न बुधेश्वरैरपि ॥४३॥

बभूवुरुन्निद्रदृशोऽभिसारिका, विशेषतोऽन्या अपि कौशिकाङ्गनाः ।
तमस्यपि स्फूर्जति दृष्टिरोधिनि, क्व वा सुदुश्चारिषु लौकिकी स्थितिः ॥४४॥[1]

दृश्यत्वमापुर्द्वितये च तत्र, ग्रहा दिवि क्षोणितले प्रदीपाः ।
रुध्येत केन प्रसरः सुधाम्नां, चण्डत्वभाजोऽपि मलीमसेन ॥४५॥

महौषधीनां गिरिगह्वरेषु, प्रदीपनं सातिशयं तदाऽभूत् ।
तत्स्पर्द्धयेवोद्धतविप्रयोग-दवस्य चित्ते च रथाङ्गनाम्नाम् ॥४६॥

स्मितं दधच्छक्रदिगङ्गनायाः, सुधारुचेः सङ्गसमुत्सुकायाः ।
मुखं रुचां जालमलञ्चकार, कर्पूरपारीपरिपाण्डुमूर्त्ति ॥४७॥

श्रियं तदाऽशिश्रियदिन्द्रकाष्ठा, समर्गलां शेषसमस्तदिग्भ्यः ।
का स्यान्न संश्लेषिता प्रियेण[2], प्रियान्तराध्यक्षममन्दलक्ष्मीः ॥४८॥

किर्मीरितं व्योमशशिप्रभाभि-र्विष्वक् तताभिः श्रियमादधार ।
गङ्गाकलिन्दात्मजयोर्नदस्य, मूर्ध्नोर्द्धं ववृद्धप्रमदाततेर्वा ॥४९॥

तमःपटोऽप्यंशुशरैर्विभिन्नः, स्वकार्यकुण्ठोऽजनि कर्मठोपि ।
शुद्धान्तिके[3] दृष्टिविघातकत्वं, नाशुद्धिभाजोऽपि विजृम्भते यत् ॥५०॥

समुद्ययौ श्वेतरुचः कलाऽथ, पौरस्त्यदिक्कुम्भिशिरोङ्कुशश्रीः ।
दंष्ट्रावशिष्टेव हतस्य दूरं, तमो वराहाधिपतेर्विजिह्मा ॥५१॥

चकोरदयितानने ष्वमृतबिन्दुवृन्दश्रुतिं ,
ततान हसनश्रियं कुमुदकोशगर्भेष्वलम् ।
जगद्विजयपाटवं मकरकेतुबाणेष्वहो ,
कलापि हि कलावतो विविधसाध्यसिद्धिक्षमा ॥५२॥[4]

श्रीखण्डसान्द्रद्रवचर्चितोद्य - ल्लाटीललाटश्रियमाससाद ।
दलं सितांशोरमृताशिनां यत्, सुधौघपाने चषाकयते स्म ॥५३॥

---

१. वंशस्थ छन्दः । २. सपत्नीसमक्षं । ३. समीपे । ४. पृथ्वीछन्दः ।

आदाय नूनं कुमुदाकराणां, रुचः समग्रा अपि शीतरश्मिः ।
करैर्निजैरेव न वो विधाता, क्रमेण सम्पूर्णतनुर्बभूव ॥५४॥

तित्यक्षुरप्येष सुरेशितुर्दिशं, तस्यां क्षणं पूर्णकलोऽन्वरज्यत ।
कलाभृतः काममरक्तमानसा, अपि स्वकान्तासु न विक्रियास्पृशः ॥५५॥

उत्सृष्टरागोऽपि कुमुद्वतीनां, चुचुम्ब वक्त्राण्यथ कैरवाणि ।
ररञ्ज चेन्दुः शुचितास्पदानि, स्वाधीनकान्तप्रमदामनांसि ॥५६॥

क्षीराब्धिवीचिप्लुतवत्सुधौघ - प्रस्नातवद्दन्तसमुत्थबद्धा[1] ।
सितोत्पलोत्कीर्णवदिन्दुरश्मि - च्छटास्तृतं क्षोणितलं बभासे ॥५७॥

विकासलक्ष्म्यामपि कैरवाणि, नादुर्मुदं चक्रगणाय काञ्चित् ।
कुर्युः समृद्धा अपि दैवदग्धे, जने गुणं कं खलु नीचभाजः ॥५८॥

मनस्विनीनां मदनोऽपि मान - ग्रन्थिं समुद्ग्रन्थितवाननाप्य ।
[2]साचिव्यमिन्दोः किमु वा न साध्यं, प्रसाधयेत् प्रौढसखा प्रवीरः ॥५९॥

वकोटकोके[3] न न हंसकोके - ऽप्यभूद् विभेदः स्फुरिते हिमांशौ ।
जडात्मनि स्फूर्जति साध्वसाध्वोः, क्व वा विशेषः प्रगते स्फुटोऽपि ॥६०॥

कान्ताः सुरक्तानपि रङ्क्तुमीशान्, यन्मण्डनान्याप्तुरद्भुतानि ।
तत्प्रज्वलद्वह्निशिखासु नूनं, निचिक्षिपुः शीतलगाज्यधाराः ॥६१॥

तथाभिरामेऽपि न शीतरश्मौ, स्मितानना पङ्कजिनी बभूव ।
सूर्यप्रिया का दयितान्तरे स्यात्, पतिव्रता जातु सहासवृत्तिः ॥६२॥

सृजति जगतस्तापोच्छेदं सुधाकिरणेऽनिशं,
मृगशिशुदृशां कामक्रीडाः प्रवर्त्तयति स्फुटाः ।
नृपतितनयोऽप्यागाद् गुञ्जन्मृदङ्गघनभ्रमो-
न्नटितशिखिभिः कान्तं सौधं नभश्चरभूपतेः ॥६३॥[4]

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते चन्द्रोदयवर्णनो नाम

1. द्विरदरदनघटितमिव । 2.

पञ्चदशः सर्गः

स विवेश नृपेन्द्रगृहं शनैः, कञ्चुकिदर्शितमार्गविभागः ।
शुचिशोकविवर्जितमेणदृक् - चित्तमिवाशु युवातिविदग्धः ॥१॥[1]

स निनाय समस्तविभावरीं, लोचनपक्ष्मनिमेषमिवाशु ।
सुखितः शयनीयगतो महाराज इवोज्झितखेदविबाध ॥२॥

अथ एकोनविंशत्यावृत्तैः प्रभातवर्णनमाह—

परिहाणिमुपेयुषि शर्वरी - शीतरुचोः परिरम्भविनोदे ।
कुमुदादिपरिच्छददुर्दशा - दर्शनशोकभरादिव सद्यः ॥३॥

तिमिरेऽपि दिशं लघुवारुणीं, गच्छति नूनमनुष्णमरीचेः ।
शरणं गरुडाग्रजन्मकरै - र्निर्दयताडितजर्जररूपे ॥४॥

सकलां रजनीं[2] परिचुम्बितां, मुञ्चति नित्यरतामपि लक्ष्मीम् ।
शशभृत्यथवा क्व कलङ्किनां, स्नेहपरेऽपि जने सुमनस्त्वम् ॥५॥

शशिनोऽपि चकोरकुटुम्बिनी - निर्भरपानविधेः सुकृशेऽङ्गे ।
ध्रुवमुद्धुरदीधितिसञ्चये, म्लानमुपेयुषि मातलिकाभे ॥६॥

अरुचित्वमुडुष्वपि यात्स्वलं, नूनमसुस्थसितांशुविलोकात् ।
शुचयः क्व नु कान्तियुजोऽथवा, स्वामिनि कालकलाकलिताङ्गे ॥७॥

रजनिक्षयतोंऽशुविमोक्षण - व्याजत ईक्षणतोयमिवेन्दौ ।
क्षरति प्रमदासु हि रागवान्, किं न करोत्यतिनिन्द्यमपीह ॥८॥

बहुचक्रविहङ्गयुगेषु तं, कामिजनादिव सन्ततयोगम् ।
स्ववियोगपणार्पणतः समादित्सुषु हर्षविनिर्भरहृत्सु ॥९॥

अलिकुलकलरवचयमिषविहित-
श्रवणसुखदशशधरगुणकथने ।
तदनुदयविमुख इव कुमुदवने,
निमिषति सशुचि सकलशुचि वृषभे ॥१०॥[3]

---

१. उपचित्र छन्दः (१-९ पद्यपर्यन्तम्) । २. अभिव्याप्य । ३. मणिगुणनिकराख्यं छन्दः ।

कुक्कुटवासितमन्त्रनिनादे, विदधति मानमहाविषशान्तिम् ।
भीरुजनस्य नितान्तविषीदन् - मृदुतरमञ्जुलकायलतस्य ॥११॥

पक्षिकुलेषु कुलायशतानि, प्रविरचयत्सु सजीवनिभानि ।
उद्भवदुद्धुरभूरिनिनादै-रनुकृतयौवतहुङ्कृतिभेदैः ॥१२॥

इन्द्रदिशोऽपि मुखे श्रयति स्राक्, श्रियमतिशोणितरत्नशिलायाः ।
नूनममर्षवशात् सितरश्मौ, वरुणदिगाश्रयिणी स्फुटरागे ॥१३॥

उच्छ्वसितानि मनाक् कमलानि, स्तनसुभगानि सरोरुहिणीषु ।
संदधतीषु वधूष्विव नूनं, निकटनिजप्रियसङ्गमहर्षात् ॥१४॥

पङ्कजिनीषु मधुव्रतनादै - र्मधुरमिनोदयतो मुदितासु ।
गायनवृत्तिपराष्विव लोलद्विकचपलाशसुलास्यशुभासु ॥१५॥

दुष्टजनस्य हि साधुविषङ्गोऽप्यफल इतीव दिशत्यनुविश्वम् ।
सर्वपदार्थविभासिदिनेशोदयहतदृष्टिनि कौशिकवृन्दे ॥१६॥

कोकनदच्छविमभ्रसरोऽन्ते - ऽरुणतिलकाकृतिमिन्द्रदिशोऽपि ।
काञ्चनविभ्रमकन्दुकलीलां, सकलहरिच्छिशुमुग्धवधूनाम् ॥१७॥

धातुविपाटलकुम्भविभाग - द्युतिमुपयाति सुरद्विपनेतुः ।
वासरनाथनवोदितबिम्बे - ऽप्युदयगिरौ धरणीकुचकुम्भे ॥१८॥

युग्मम्

वारवधूनिवहे नृपसौधाद्, बहिरुपयाति शनैरतिखिन्ने ।
जागरतो निशि सान्द्रनखाङ्कै-र्व्यथिततनौ वसनाग्रविषङ्गात् ॥१९॥

मलयजमलयजतरुभरवहनात् ,
परिमलसुरभितसमभुवनतले ।
सुरतविबलबहुयुवतिकृतमुदि ,
प्रवहति सुशिशिर उषसि च पवने ॥२०॥

---

१. द्रुतमध्या छन्दः (११-१९ पद्यपर्यन्तम्) । २. मणिगुणनिकराख्यं छंदः ।

बुबुधे स कुमारधुरीणो, मङ्गलपाठकतूर्यनिनादैः ।
पटुभिर्जलनाथतरङ्ग - ध्वानभरैरिव कैटभभेदी ॥२१॥[1]

कुलकम्

निजपस्त्य इवाखिलभृत्य-प्रस्तुतवैनयिकोऽथ विभाते ।
अगमन्नृपसन्निधिमेष, श्रीकलितः कमलापतिलीलः ॥२२॥

खचरेन्द्रवरोऽपि तमाशु, स्वागतभाषणपूर्वमतन्द्रः ।
उदतिष्ठदभिप्रथितोद्यद् - गौरवमात्मगुरुं मघवेव ॥२३॥

न महानवसीदति कृत्ये, क्वापि शुभे गदितुं ध्रुवमेतत् ।
विदधौ नृपसूनुरपूर्वां, तस्य महाप्रतिपत्तिमभिज्ञः ॥२४॥

अमृतद्युतिवत्सुकलत्वाल्लोचनकान्तमशेषजनानाम् ।
निजगाद महीपतिरेनं, केसरिविष्टरसंस्थितिसुस्थम् ॥२५॥

मम जीविततोऽप्यतिकान्ता, रूपविडम्बितकामवधूकाः ।
प्रमदोचितविश्वकलाग्र्याः, सन्ति शुभाचरिता वरकन्याः ॥२६॥

प्रथितेन भविज्ञतयार्चिर्मालिमहामुनिना[2]-ऽप्यतिदिष्टाः ।
असिताक्षजयी ध्रुवमासां, भर्तृवरो भवितेति पुरस्तात् ॥२७॥

तत एव दिनाद्धनमाभिस्त्वत्पथसम्मुखमाश्रितमारात् ।
मुनिवाक्यत आगमनेक्षा - ऽवश्यविधायि परादनुरागात् ॥२८॥

तदवश्यमतृष्णमना अप्यर्हसि कर्त्तुमकालविलम्बम् ।
वसुसंख्यचतया विदितानां, सम्प्रति पाणिपरिग्रहमासाम् ॥२९॥

चक्कलकम्

परिभाव्य ततो नृपमौल - र्वाक्यमिति प्रणयान्वितमेषः ।
सममंस्त भवन्ति महान्तो, ह्यर्थितवस्तुनि न प्रतिकूलाः ॥३०॥

अमृतमधुरगिर इभपतिगमनाः,
परिगतसुखकरनृपसुतवचनाः ।
प्रतिपदमधुरिह मुदमतिसुभगा,
निजजनकसदसि खचरनृपसुताः ॥३१॥[3]

---

१. वेगवतीछन्दः (२१–३० पद्यपर्यन्तम्) । २. तापसेन । ३. मणिगुणनिकराख्यं छन्दः ।

गणिते विदोषगुणपात्रे, सर्वशुभग्रहैश्च परिदृष्टे ।
गणकेन शुक्रधिषणेन, प्राज्ञनुतेऽथ शस्ततरलग्ने ॥३२॥

स विवाहमङ्गलममूषां, प्रस्तुतवान् मुदा खचरनाथः ।
प्रविडम्बितद्रुपदकन्या - पाणिनिपीडनोत्सवविशेषम् ॥३३॥

युग्मम्

उदघोषयन् निजपुरेऽसौ, दानमवारितं कनकराशेः ।
स्वसमं समस्तमपि विश्वं, कर्तुमिवेच्छन्नधरितकर्णः ॥३४॥

विदधुः प्रसाधनमनेकाः, सम्यगलङ्क्रियानिपुणनार्यः ।
नृपपुत्रिकासु सकलासु, रूपनिरस्तकामदयितासु ॥३५॥

क्षुरिमौलिना पदनखेषु, स्वीकृतदर्पणाकृतिषु तासाम् ।
विहिते विशोधनविधौ हि, क्षोणिपदत्तस्वर्णनिकरेण ॥३६॥

विमले निवेश्य तपनीयस्यासन आदधुः स्नपनमासाम् ।
स्तनकुम्भशोभिनवकुम्भैः, स्वर्णमयैः सुगन्धिजलपूर्णैः ॥३७॥

युग्मम्

वसनैः सितांशुकरचौरैः, प्रावृतकाञ्चनाङ्गलतिकास्ताः ।
सुरशैलतटच इव रेजुः, शारदवारिदान्तरितरूपाः ॥३८॥

सधवाश्चतस्र इह चक्रु - स्तन्तुसरैर्मुदावमननानि[2] ।
कुलयोषितोऽर्त्यनुपलब्ध्यै, प्रावरितुं शरीरमिव तासाम् ॥३९॥

गुरवो निचिक्षिपुरमूषां, लाजकणान् यशःशकलरूपान् ।
सकलौषधिप्रचयनिर्यद् - गन्धसुगन्धिकेशयुजि शीर्षे ॥४०॥

चरणतलानि सान्द्रतरयावकलेपभाञ्जि ,
प्रविदधिरे प्रसाधनधनाभिरिहाशु तासाम् ।
अविरतसङ्गयाचनपरायणरागवन्ति,
ध्रुवमनुपाधिरागसुभगानि यथाम्बुजानि ॥४१॥

---

१. केतुमतीछन्दः (३२–४० पद्यपर्यन्तम्) । २. प्रोञ्छणकानि । ३. वाणिनीवृत्तम् ।

चन्दनेनान्वषेचि क्षणादाननं,
पत्रवल्लेः प्ररोहाय नूनं घनम्।
ताभिरोष्ठोऽपि तच्चित्तवद्रागवा-
नप्यकारि प्रकामोज्ज्वलो यावकैः ॥४२॥

अञ्जनं नेत्रयोः श्यामयोरप्यथा-
न्न्यस्तमिन्दीवराङ्के यथा षट्पदः।
कान्तवस्तुन्यकान्तोऽपि कान्ति दधा-
त्येव सम्पूर्णचन्द्रे यथा लाञ्छनम् ॥४३॥

आहिता पत्रवल्ली च कास्तूरिकी,
शोभते स्मेभकुम्भप्रतिद्वन्द्विनोः।
रक्षणायेव शृङ्गारसर्वस्वयो-
र्मण्डली भोगिनः पीनवक्षोजयोः ॥४४॥

स्थासको रोचिकस्तूरिकाकल्पित-
स्तल्पवत्कामिनां नेत्रविश्रामभूः।
भालभागेषु तासां विशालेष्वलं,
चन्द्रबिम्बार्द्धलीलेषु चाङ्काकृतिः ॥४५॥

जात्यजाम्बूनदालङ्कृतिप्रोज्ज्वला-
श्चक्रिरेऽङ्गे समस्तेऽपि ताः कन्यकाः।
सद्रसा दोषरिक्ताः सुशब्दश्रियः,
सत्कवेः काव्यवाचो यथा सद्गुणाः ॥४६॥

कन्यकावत्कुमारं कुलस्त्रीकुला-
न्यादधुश्चारुसंस्कारभाजं तनौ।
शाब्दिकाः सर्वविद्यामुखं वा ध्वनिं,
विश्वविश्वार्थसम्पादकार्थप्रदम् ॥४७॥

---

१. स्रग्विणीछन्दः (४२-५० पद्यपर्यन्तम्)।

रत्नभूषाभिरुद्भासितोऽङ्गेऽभितः ,
सोऽशुभन्नेत्रपीयूषसद्‌वृष्टिभिः ।
स्थास्नुभिः पार्श्व एवाङ्गनाभिस्तदा ,
कान्तिवीचीपरीताङ्घ्रिकाभिर्यथा ॥४८॥

प्रांशुसिंहासने सोंऽशुमद्‌भूषण -
श्चन्द्रिकाचारुरिन्दुर्यथा दिद्युते ।
प्राच्यशैले त्रिलोकीकुरङ्गेक्षणा -
कैरविण्योघनिद्रार्त्तिसर्वङ्कषः ॥४९॥

कन्यकास्तत्प्रियश्चाऽरुचन्नाननैः ,
स्वादुताम्बूलरक्ताच्छदन्तच्छदैः ।
एकदेशोद्भवत्पल्लवालोहितैः ,
सस्मितैः पङ्कजैर्यद्वदब्जाकराः ॥५०॥

शङ्कुनिवेशनिश्चितबहुशुभतरफलं ,
ज्यौतिषिकेण लग्नमनुपममुपदिशता ।
सन्निधिमत्समोदभरखचरनरपते -
रादध उद्यमः समुपयमविधिकरणे ॥५१॥[1]

आरुह्य मङ्गलसितद्विरदं कुमारो -
ऽसंख्यैर्नभश्चरबलैरनुगम्यमानः ।
छत्रप्रसाधितशिराः सुमनाः प्रतस्थे ,
शक्रो यथा त्रिदशकोटिशतानुयातः ॥५२॥

अग्रे प्रनृत्तरमणीशतदत्तदृष्टिः ,
[2]शैलूषवर्यनिकरैरभिनीयमानः ।
चक्रीव विश्वविजयी स्वपुरप्रवेशे ,
चक्राङ्कपाणिरुपयामगतो विरेजे ॥५३॥

१. ऋषभगजविलसितं छन्दः । २. नट ।

संवीक्ष्यमाणललितः पुरसुन्दरीभिः,
सोत्कण्ठमुद्भटमनोभवविभ्रमाभिः ।
स प्राप निर्जितसुरेन्द्रविमानकान्ति -
मुद्वाहमण्डपमखण्डमनोरथश्रीः ॥५४॥

मुक्तावचूलशतसान्द्ररुचा विलिप्ता,
यत्रासितोपलतुलाः[1] स्फटिकाश्मलीलाम् ।
ऊहुः प्रहृष्टविहसद्बहुजन्यलोक -
स्फूर्जद्द्विजांशुनिकरोपहता इवोच्चैः ॥५५॥

शशिविशदवितानस्तोम उज्जृम्भमाणा,
वरकनकमयानां दीधितिर्भूषणानाम् ।
सरसि सरसिजानामुल्लसन्ती समन्तात्,
प्रसृमरमकरन्दालीव यत्राऽऽबभासे ॥५६॥

घनघुसृणरसौघैः पङ्किले यत्र कान्ताः,
कुचकलशभरार्त्ताः सश्रमं लास्यमापुः ।
अगुरुतिलकगन्धोन्मिश्रकर्णोत्पलश्री -
चटुलमधुकरालिक्षिप्त-[2]चक्षुःप्रचाराः ॥५७॥

प्रिययुवतिषु यत्रोद्दामतूर्यप्रणादैः,
श्रुतिपथपरिमान्द्यात् संज्ञयाऽध्युर्युवानः ।
व्यवहृतिमनुवेलं भ्रूविलासादिभावा -
नसकृदिव मनोज्ञान् शिक्षितुं कामशिष्टान् ॥५८॥

जितसुरवनिताभिर्नर्मरम्याङ्गनाभिः,
स्मितमुखकमलाभिः सोऽथ तत्तोरणान्ते ।
किमपि च वरदेयं याचितः स्मेरवक्त्रः,
शतगुणितमयच्छत्तत्प्रमोदेन ताभ्यः ॥५९॥

१. स्तम्भोपरितनपट्टाः । १. अंतरित ।

त्रिदशपतितनूज[1]-स्पर्द्धिलीलोऽवतीर्य ,
द्विरदपतिहिमाद्रेः काञ्चनाऽयो[2]ऽग्रकाञ्च्याम् ।
वररुचिमणिमय्यां भ्रूकुटिं तत्र भंक्त्वा ,
प्रकटितशुचिवृत्तः प्राविशन्मण्डपं सः ॥६०॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते विवाहमण्डपागमनो
नाम पञ्चदशः सर्गः ।छ. ।१५।

षोडशः सर्गः

अथानुयायिव्रजमस्य माण्डपे, कन्यासखीभिर्विनिवार्यतोरणे ।
अनीयताऽन्तःसदनं नृपाङ्गजो, यत्र स्थितास्ता परिणेयबालिकाः ॥१॥

ज्योत्स्नापिधाना इव तारतारिकाः, प्रच्छादिताङ्गीर्विशदेन वाससा ।
स तत्र ताः प्रेक्ष्य ममौ मुदा तनौ, न पूरितायामिव विश्वतद्गुणैः ॥२॥

आसां मुखोद्घाटनमङ्गलं कुरु, प्रातर्दिशां सूर्य इवातिरागवान् ।
प्रदाय लक्ष्यं कनकस्य मादृशां, पणं विना रत्नमिहाप्यते न हि ॥३॥

इत्थं सनर्म्मप्रणयं सखीजनैः, स व्याहृतः सस्मितमाह दीयते ।
मह्यं न किं तन्ननु तुल्यकार्ययो-रेको हि याच्यः क्व नु नीतिरीदृशी ॥४॥

स हासयित्वेति मुहुर्मुहुः सखी-र्दत्वा हिरण्योच्चयमाशु भूरिशः ।
अपावृतीनि च्छविभाञ्जि वारिदोन्मुक्तेन्दुबिम्बप्रतिमानि तत्क्षणम् ॥५॥

व्रीडाऽवनम्राणि मुदोन्मुखानि स, स्मरोल्लसद्विभ्रमभारसंयुजाम् ।
अपश्यदास्यान्यथ चन्द्रपद्मयोश्चपेटसज्जानि विवाह्यसुभ्रुवाम् ॥६॥
चक्कलकं चतुर्भिः

---

१. जयन्त । २. मुशल ।

कौसुम्भरागं समुवाह कङ्कणं, करेण वक्षोरुहभोगसंस्पृशा ।
अच्छिन्नतत्केलिरुचिः समीपगं, मूर्त्तं सदा रागमिवैष भूपसूः ॥७॥

सत्कौतुकं कज्जलपुण्ड्रकादिकं, दधुः सुवेषा अपि ते वधूवराः ।
नावश्यधार्यं समुपेक्षते कृती, विरूपमप्यङ्कमिवामृतद्युतिः ॥८॥

ततः स ताभिश्चतुरन्तवेदिकां, सार्द्धं स्वकान्ताभिरिवामराधिपः ।
आरोहदुल्लोचविलम्बिकौसुमस्रगन्तरालध्वनितालिनीकुलाम् ॥९॥

भूयादयं पात्रमशेषमङ्गलश्रियः कुमारः प्रतिपादयन्निति ।
समुच्चचारोच्चतरस्तदा ध्रुवं, कर्णामृतं मङ्गलतूर्यनिस्वनः ॥१०॥

विडम्बयन्त्यः कलकिन्नरीध्वनीन् ,
मुदा जगुर्मङ्गलगीतसन्ततीः ।
माऽभत् स्वभर्त्रा विरहो ध्रुवं कदा-
प्यस्मद्वदासामिति सप्रियाः स्त्रियः ॥११॥

विवाहकालेऽपि समुत्सुका इव, प्रसृष्टरक्तत्वसमत्वदूषणाः ।
प्रागासजन् पाणियुजो नखांशवो, वधूवराणामनुहस्तपल्लवाः ॥१२॥

समं वधूभर्तृकराब्जसङ्गमं, दुरापमप्याप च हस्तलेपकः ।
यत्तत्तपः किञ्चिदपूर्वमादधौ, ध्रुवं न काम्योपगमोऽन्यथा भवेत् ॥१३॥

वेद्यां मधुप्राज्यघृताक्षतादिभिः, प्रदीपिते मङ्गलजातवेदसि ।
दोषापवर्गक्षमदोप्रदीधितौ, सहस्ररश्माविव लोकपूजिते ॥१४॥

तत्पुण्यसर्वस्व इव प्रज्जृम्भिते, हृद्ये शिखाभिश्च तदैव सप्तभिः ।
प्रदक्षिणावर्त्तमथाभ्रमन्वधूवराः सुमेराविव तारकेन्दवः ॥१५॥

युग्मम्

कन्यापिताऽद्ये परिवर्त्तने ददौ, वराय भारायुतकोटिकाञ्चनम् ।
एतद्वदाजन्मविशिष्टरागता, भूयादमीषामिति भासयन्निव ॥१६॥

हारार्द्धहारादिविभूपणं बहु, प्रदाद् द्वितीये विमलं विनिर्मलः ।
ईदृग्गुणा ईदृशकीर्त्तिसञ्चयं, कुरुध्वमाश्वेवमुदाहरन्निव ॥१७॥

स्युः पात्रसङ्गेन विनैहलौकिकान्यामुष्मिकाणीव न वैभवान्यहो ।
पात्रञ्च कच्चोलकटाहकादिकं, ध्रुवं 'ददौ चेति मुदा'[1] तृतीयके ॥१८॥

निश्वासहार्याणि स हंसलक्षणा-न्यदात् तुरीये वसनानि भूरिशः ।
मनोरथैः पात्रमवाप्य कोविदः, किं किं न दद्यान्मुदितो मनोहरम् ॥१९॥

अत्रान्तरे हर्षवशाद् यशोऽर्थिना, पक्षद्वयेनाऽप्यतुलो व्यधीयत ।
जनोपचारः फलमस्ति सम्पदां, किं वाऽन्यदुद्वाहमहोत्सवव्ययात् ॥२०॥

अपूर्वसौरभ्यभराधिवासिता-ऽऽशाचक्रवालानि विलेपनानि तत्[2] ।
अदाद् दवीयः सुरलोकसम्भवं, गन्धं जनं द्रागनुभावयद् ध्रुवम् ॥२१॥

सुस्निग्धगन्धानि मधुव्रतव्रजध्वनिप्रगीतानि विलोचनामृतम् ।
दामानि पौष्पाणि हृषीकसन्ततेरानन्ददान्यक्रमशश्च भूरिशः ॥२२॥

कर्पूरपारीपरिणद्धमुद्धुरं, ताम्बूलमामोदिपवित्रिताऽधरम् ।
स्वर्गेऽपि दुष्प्रापमितीव तज्जयं, महस्य निर्व्यञ्जयितुं भुवस्तले ॥२३॥

हस्त्यश्वचेलामलभूषणादिकं, प्राज्यं तथा विश्ववितीर्णकौतुकम् ।
समस्तलोकाय यथा न सोऽनुवद्, दधीचिकर्णावपि कामितप्रदौ ॥२४॥
चतुर्भिश्चक्कलकम्

तत्पाणिपीडाविधिरेवमद्भुतो - ऽभवज्जगत्तोषपदं विभूतिभिः ।
सुवृत्तभाजां भुवि किं न मोदकृज्जायेत वा पूर्णविधोरिवोदयः ॥२५॥

विद्याधरेन्द्रेण कुमारशेखरः, स्वकन्यकाभिर्व्यरुचत् स सञ्जितः ।
अष्टाभिरष्टापदभूधरो यथा, दिग्भिस्त्विषाश्लेषित उष्णरश्मिना ॥२६॥

सायं समागादथ वासमन्दिरं, समं वधूभिर्नृपसूनुरुन्मनाः ।
अध्यास्त तत्रापि स हंसपक्ष्मभृच्छय्यां विशालां नवनीतकोमलाम् ॥२७॥

चिराय सम्प्राप्य च चातुरीचणाश्चकोरनेत्राः कविदेवतोपमाः ।
विदग्धगोष्ठीसुखलाभलालसः, प्रश्नोत्तराण्याशु स पृच्छति स्म ताः ॥२८॥

पेठुश्च ता व्यस्तसमस्तमञ्जरी - प्रवर्धमानाक्षरपद्मश्रृङ्खलाः ।
नानाविधा जातिभिदा मनोहराः, प्रश्नोत्तराणां निजवल्लभप्रियाः ॥२९॥

१. 'ददाविति स मुदा' ... स्यादतश्चोपरिधृत एव पाठः साधुः ।
२. पक्षद्वयम् ।

तथाहि—

का प्रार्थ्यते विश्वजनेन सादरं ?,का वा विजेया बत चक्रवर्त्तिनाम्?।
कीदृग् नृपः स्यान्न पराभवास्पदं?, भात्यम्बरे वन्दनमालिकेव का? ॥३०॥

अथोक्त्वा तातताततीरूपां काचित् ततावलीम् ।
दयिताऽऽलोकयामास सस्मेरं वल्लभाननम् ॥३१॥

प्रिये ! किमत्र वक्तव्यं प्रसिद्धा सारसावली ।
नर्मणा पुनरप्याह सैव भंग्यन्तरेण तत् ॥३२॥

ब्रूते बलं दीर्घ इनो विभक्तौ, कस्यां शितिः ? कोऽत्र लये च धातुः ? ।
कः काचसर्पिः समतां दधाना ?, धातुष्त्रभक्ष्या बत धार्मिकाणाम् ॥३३॥

शालनकश्रेणिरपि स्यात् कीदृक्षा विनेह लवणेन ।
गतिमत्प्रत्यागतिमच्चेदं हि ततावली सैव ॥३४॥

प्राह कुमारो विहसंस्ततावली यदि न कथ्यते रोषात् ।
अन्या त्वया तदोत्तरमप्यन्यद् दीयते न मया ॥३५॥

सस्मितास्वथ सर्वासु भूयोऽप्यन्याऽपठत् पटुः ।
मञ्जुलं मञ्जरीजात्या[1] प्रश्नोत्तरमनुत्तरम् ॥३६॥

लक्ष्मीणां केह सत्ता दयितहृदि भवेत् कीदृशी स्त्रीषु साध्वी,
साधुः कीदृक् क्रुधं प्रत्यथ भवति हृदः कीदृशी चास्य माया ।
विष्णौ लक्ष्मीश्च कीदृक् प्रवदति च किमप्यक्षरं कंठ्यता कि[2] ।
मत्तोऽभूद् दुःखखिन्नः कथमथ विलपेद् वासुदेवैकभक्तः ॥३७॥

जगत्त्रितयवन्द्यत्वाद् देवत्वेनोत्तमाऽत्र का ? ।
व्यक्ता ततावली चेह त्तीततातीततेतता ॥३८॥

मञ्जरीति च विज्ञप्तः सोऽवदद् देवि ! ते मुखात् ।
सुधैव स्रवतीत्येषा श्रीमहावीरदेवता ॥३९॥

ततः सकौतुकान्यापि प्राह प्रिय ! भवादृशाम् ।
ईदृग्विधैर्न विद्वत्ता स्यादेभिर्विदितैरपि ॥४०॥

---

१. प्रतौ तु–मञ्जीरजात्या इति पाठः । २. कीदृशी ।

तदस्मदुदितं किञ्चिदादृतेन निशाम्यताम् ।
इत्युक्त्वा साऽपठद्दन्तज्योत्स्नाधौताधरा मुदा ॥४१॥

का कामस्य प्रसूः का स्फुरति च नयनान्तः सदाऽप्याह चन्द्रः,
प्रस्थास्नोः स्वीयसैन्यानुगत इह भवेत् कोग्रगो राघवस्य ।
आढ्यानां काः किलान्ध्यं विदधति वितताः सप्रभाः स्युर्निशायां,
काः शश्वत् कीदृशो वा प्रथित इह गुरुः शम्भुचूडामणिः कः ॥४२॥

वर्द्धमानाक्षरं चेदं वृत्ताद्यर्धे ततः परम् ।
चलद्विसर्गसञ्ज्ञं हि, तातातितिरिति स्फुटा ॥४३॥

ततावलीह तन्नाथ! प्रोच्यतामुत्तरं लघु ।
व्रीडां विहाय सर्वाभ्यः श्रीयतां वा पराजयः ॥४४॥

आखवोऽप्यस्मदोकःस्था ईदृशानि विदन्ति भोः! ।
तत् त्वां किमहमाचक्षे व्यक्तस्तारापतिर्यतः ॥४५॥

सा विद्वन्मानिनी प्राह विलक्षेव पुनः प्रियम् ।
जात्यन्तरमितोऽप्यन्यच्चिन्त्यतां चतुरोत्तम ! ॥४६॥

गीतं शंसन्ति कीदृक् किमिह तनुभृतां दुःखदं रागियुग्मं,
कीदृक् कं वा जघानामरपतिरभजद् द्यूतदोषः कमुच्चैः ।
अर्द्धं किं कं च सभ्याः सदसि विवदिषुं वारयन्ति स्म गावः,
प्रायः किं वा चरन्ति प्रखररविकरं वासरं कीदृगाहुः ॥४७॥

पद्यं विपरीतमिदं, सुव्यक्ततरा ततावलिरपीह ।
तततततततालतमित्युत्तरमाशु प्रसीदेह ॥४८॥

कमलवनदवानल-मित्युत्तरमत्रापि पठ पुनः किञ्चित् ।
विषमतरमिति प्रोक्ता, पटिष्ठबुद्धिः पपाठेदम् ॥४९॥

को नादो वायसा स्याल्लसति मुहुरथाहाभिलाषः कुलीना ।
नालीयन्ते न केऽत्र प्रवदति च भिदा कीदृशी मेखला स्यात् ।
वध्वास्तूर्णं व्रजन्त्याः शशधरतिलकस्येह दृष्टिप्रनिर्यद्-
वह्निज्वालाकराला समभवदलघुः कीदृशी रोषभाजः ॥५०॥

शृङ्खलाजातिरेषाऽस्यां, ततालिस्ताततातता ।
श्रुत्वेदमुत्तरं प्राह, कुमारः कामदारणा ॥५१॥

विचित्रमेवं मुकुलं यथाम्बुज, प्रश्नोत्तरं सूर्य इव प्रकाशयन् ।
आमोदयत् [1]सारसिनीर्यथैष ताः, किं वा न सर्वस्य मुदे महात्मनाम् ॥५२॥

तासां हृदि प्रेमतरुं सुरूपजं, वैदग्ध्यदृष्टिः[2] सुतरामवर्धयत् ।
नृपाङ्गजस्येन्दुकलेव सागरं, कल्लोलमालाकुलितं कुलीरकः ॥५३॥

विदग्धयोग्यैरनुरागचारुभि-र्नानाविनोदैरिति सर्वशर्वरीम् ।
सम्भोगभंग्यादिभिरप्यनुत्सुको-ऽतिबाह्यनिद्रामभजत् क्षणं प्रगे ॥५४॥

ततः प्रबुद्धः स्वमपश्यदुच्छ्वसत्, फणीश्वरश्रेणिविलाविलक्षितौ ।
लुठन्तमाः किं न्विदमित्थनेकशो, वितर्कयत् कौतुकभ्रान्तमानसः ॥५५॥

धिक् संसृतिं यत्र मुहूर्तमात्रतस्तनूभृतो नाटकपात्रभङ्गिभिः ।
सुरर्द्धिसंस्पर्द्धिमहोत्सवस्पृशो-ऽप्यहो लभन्ते परमाधमश्रियम् ॥५६॥

क्व ताः परित्रस्तकुरङ्गलोचनाः, शिवाः क्व चैताः परुषस्वराशुभाः ।
पीयूषहालाहलपात्रता क्षणान्नूनं तदाऽत्रैव विलोक्यते जनैः ॥५७॥

विभावयन्नेवमथैष कङ्कणं, करस्थमालोक्य चिरादखिद्यत ।
किमिन्द्रजाल किमु विभ्रमो मतेः, प्रतारयत्येवमुताऽत्र कोऽपि माम् ॥५८॥

किं वा विकल्पैरसिताक्षयक्षकान्नैतद् विधाता खलु सम्भवेत् परः ।
शिशून् समाश्वस्तहृदो नयेत कः, कृतान्ततोऽन्यः परलोकपद्धतिम् ॥५९॥

ततः समालम्ब्य धृतिं महाशयः, प्रचक्रमे विक्रमसारशेवधिः ।
क्रमैरलङ्कर्तुमुदीर्णपौरुषो, मृगेन्द्रवद्भूरिमृगां वनावनीम् ॥६०॥

अथाऽस्य तत्रापि मुदे मनोभवा-द्वितीययोनिर्ध्रुवमाययौ शरत् ।
कान्तेव तत्पुण्यचयप्रयोजिता, विकासिनीलाम्बुजलोललोचना ॥६१॥

विगलितजलदालिश्यामता पद्मनेत्रा,
रुचिरशशधरास्या बन्धुजीवाधराढ्या ।
मदकलकलहंसारावरम्या चकाशो-
न्मिषितकुसुमहासा कस्य नाऽभून्मुदे सा ॥६२॥

१. कमलिनी । २. दर्शन ।

यत्राऽसंख्यानि वीक्ष्यामलमधुरपयःपूर्णलीलासरांसि,
प्राणिन्दन्नल्पकालाश्रयमनिकटगं मानसं राजहंसाः।
आकृष्येव प्रणादश्रियमसितगलेभ्यो[1] जगुस्तानि नूच्चैः,
कूजव्याजेन पक्षोन्नमनविनमनैः खे प्रनृत्ताः प्रमोदात् ॥६३॥

मधुकरततिश्लेषावेशात् सकज्जललोचनं,
हसदनुवनं व्याकोशत्वात् कलं विषमच्छदम्।
परिमलभरैर्यूनां यत्र प्रकामविहारिणां,
समदवनितानिःश्वासश्रीविलासमुदं ददौ ॥६४॥

प्रियतमनववर्षास्तद्वियोगेन नूनं,।
दधुरतिशयशोकात् पाण्डिमानं पयोदाः।
शुकततिरपि यत्रेन्दीवरस्मेरमाला-
श्रियमधित वनान्तः श्रीशरच्छ्रीप्रवेशे ॥६५॥

पुण्ड्रेक्षुखण्डेष्ववरुध्य दृष्टी - विलासिनीनां नयनामृतेषु।
व्यज्जृम्भतोद्दामबलो मनोभू - र्यत्राप्तसाहाय्य इव प्रवीरः ॥६६॥

नमति कलमगोप्याः पादपद्मं कुरङ्गी,
ततिरवनतमूर्धा तत्कलोद्गीतिसक्ता।
मसृणचरणपाता सन्निकर्षं श्रयन्ती,
ध्रुवमुपनतदास्यप्रश्रया यत्र रात्रौ ॥६७॥

सृजति शशधरोऽपि प्रांशुभिः स्वांशुजालै-
र्जलदविरहदीप्रैस्तारका निष्प्रकाशाः।
शरदि ननु जडात्मा को ह्यवाप्तातुलश्रीः,
शुचिमपि निजपक्षं नावमन्येत मानात् ॥६८॥

स्फुरत्प्रतापं स्वपतिं विलोक्य, मुदेव यत्राऽभवदब्जिनी द्राक्।
प्रबुद्धपङ्केरुहवक्त्रलक्ष्मीः, सरःस्वशेषेसु नभोऽमलेषु ॥६९॥

ग्रीष्मे शफोत्पादितभङ्गतापान्याहत्य रोधांसि तरङ्गिणीनाम्।
यत्रोन्नदन्तो वृषभा विषाणैः, स्ववैरनिर्यातनसौख्यमापुः ॥७०॥

---

१. मयूर।

मनस्विनीनामसनं वितेने, मानस्य तीव्रस्य विलोकितं सत् ।
यत्रासनं नूनमिहात्मनाम्नो, यथार्थतालाभकृते विनिद्रम् ॥७१॥
बाणैः स्मितैः प्रोषितभर्तृकाणां, हृदि व्यथं दुस्सहमादधद्भिः ।
बाणत्वमाविष्कृतमाशु सत्यं, श्रीपुष्पबाणस्य हि यत्र शस्त्रैः ॥७२॥
मृगेक्षणाः कुङ्कुमकेसराणि, स्मितान्यपि प्राददिरेऽत्र नैव ।
कर्णावतंसाय सुगन्धलोलभृङ्गाकुलानीक्षणरोधभीत्या ॥७३॥
कारण्डवानामपि नादडम्बरं, मिश्रं रवैः सारसवामचक्षुषाम् ।
व्यधाद् ध्रुवं कामनरेन्द्रतुष्टये, तद्वेणुवीणास्वरमङ्गलं शरत् ॥७४॥

हृदयमिव खलानामुग्रकार्कश्यपात्रं,
कुटिलतरमितीव स्वं रुरुः शृङ्गमौज्झत् ।
विमलशशधरांशोः सज्जनस्येव सङ्गाद्,
ध्रुवममितमदाढ्यो यत्र कान्तोपगूढः ॥७५॥

रम्यामिवालोकयितुं शरच्छ्रियं,
कुम्भोद्भवो यत्र मुनिः समुद्ययौ ।
रम्यस्य रम्यत्वदशा हि सा परा,
वीतस्पृहाणामपि या मनोहृतिः ॥७६॥

विधूतविषमच्छदोच्छलदतुच्छगन्धोद्भवत्-
प्रतिद्विपमदभ्रमान् समदवारणान् गर्जयन् ।
वनेषु वनितासखान् सपदि कामिनः प्रीणयन्,
ववौ मधुरशीतलो बत समीरणो यत्र च ॥७७॥

वनेऽपि तस्यां शरदि प्रपोषभृ-
त्येणेक्षणायामिव रक्तमानसः ।
सम्पन्नपञ्चेन्द्रियविश्वगोचरो,
दिनान्यनैषीत् कतिचित् सुखेन सः ॥७८॥

इक्षूत्करो हंसरवश्च पुष्पितं,
वनं घनं केसरपुष्पसौरभम् ।
यत्रानिलः शीत उपास्यतेऽनिशं,
कथं न तत्र प्रमदोऽतुलो भवेत् ॥७९॥

इति शरदि समन्ताद् विस्फुरन्त्यां कुमारो-
ऽप्यमृतकिरणमूर्तेरंशुभिर्विश्वमित्रैः ।
निशि नियमितखेदस्वेदबिन्दुर्ननन्द,
स्वगृह इव वनेऽपि स्वैरसञ्चारचारुः ॥८०॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते शरद्वर्णनो नाम
षोडशः सर्गः ।छ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः

कदाचिदस्याथ गजेश्वरश्रियः, सत्त्वोत्कटस्योद्भटहस्तशालिनः ।
शिलोच्चयो विन्ध्यगिरीन्द्रविभ्रमः, समापतद् दृष्टिपथं वनेऽटतः ॥१॥

तस्यापि मेरोरिव चूलिकाशिरस्यत्युन्नता सौधमतल्लिकासिता ।
वीक्षाम्बभूवे हसिताऽमरालयश्रीस्तेन भाभिः कृतमण्डनादिव ॥२॥

जगत्त्रयादाहृतसारवस्तुभिः, सर्वैर्मयेनेव[1] विनिर्ममेऽत्र या ।
लोकोत्तरास्याः कथमन्यथाऽभवल्लावण्यलक्ष्मीर्जनताविलोभिनी ॥३॥

वनागमोद्वाहमहादिकौतुक - प्रलम्भितान्तःकरणः स वीक्ष्यताम् ।
अचिन्तयन्नूनमियं न वास्तवी, मरीचिकास्वम्बुमतिर्यथा मरौ ॥४॥

न दध्नि विश्वासमुपैति तात्त्विके, दुग्धेन दग्धो वृषदंशको यथा ।
तथा स तत्राऽमलचाक्षुषप्रमा - विनिश्चितायामपि राजनन्दनः ॥५॥

तथापि तत्प्रेक्षणगाढकौतुको, जगाम तां स्फाटिकभित्तिशालिनीम् ।
सत्तोरणोपान्तनिविष्टचन्द्रकि-स्वरैः कृताकारणमङ्गलामिव ॥६॥

तस्याः प्रवेशे स्थिरपक्षिबिम्बनच्छलेन चित्राङ्कितभित्तिसंयुजः ।
पुस्फोर तस्य त्वपसव्यलोचनं, दुरापवस्तुप्रतिलम्भसूचनम् ॥७॥

---

१. दैत्यशिल्पी ।

तन्मूर्धनि प्राच्यशिलोच्चयोन्नते, क्रान्ते कुमारेण विवस्वता यथा ।
समासदत् सा[1] श्रियमाशु कांचन[2], ब्रह्माण्डभाण्डोदरवत्प्रभावता ॥८॥

वडूर्यरत्नद्युतिवीचिलम्भित - प्रमृष्टमेघाङ्कनभोऽङ्गणश्रियि ।
तत्सप्तमक्ष्मातल इन्दुदीधितिं, विडम्बयन्तीं स ददर्श कन्यकाम् ॥९॥

हराद्वियुक्तामिव सर्वमङ्गलां, लक्ष्मीमिव क्षीरनिधेर्विनिर्गताम् ।
शचीमिवाऽऽश्चर्यसमागतां क्षितौ, सर्वानवद्यावयवप्रसाधिताम् ॥१०॥

उत्कीर्णरूपामिव चन्द्रबिम्बतः, समुद्धृताङ्गीमिव पद्मगर्भतः ।
विभिद्य वाऽऽरोहणमुत्थितामिव, प्रभाजलोत्तालतरङ्गवाहिनीम् ॥११॥

जगद्वशीकर्तुमिहावतारितां, मूर्त्तां स्वकान्तामिव चित्तजन्मना ।
स्वशिल्पकोटिप्रथनाय वाऽद्भुतां, प्रकाशितां सृष्टिमिव स्वयम्भुवा ॥१२

चतुर्भिश्चक्कलकम्

प्रति प्रतीकं स कुतूहलः क्रमान्न्यरूपयत्तामिति रूपशालिनीम् ।
अहो मुखं शारदशीतदीधिते-रिवोद्गतं भात्यकलङ्कभागतः ॥१३॥

इयं न कान्तिः क्वचिदम्बुजन्मनि, श्वेतद्युतौ त्वीदृगहो न सौरभम् ।
इतीव विष्वग् गुणभोगलालसा, शिश्राय लक्ष्मीर्मुखमेतदुज्ज्वलम् ।१४॥

नेत्राधराद्यद्भुतरत्ननिर्भरं, मुखाब्जमस्या जडधिं विनिन्दति ।
निर्वासितप्रोज्ज्वलधाममन्दिरा - ऽमृतद्युतिप्रायसुरत्नसञ्चयम् ॥१५॥

सुस्निग्धनीलाकुटिलालकावलिः, परिस्फुरन्ती वदनाम्बुजं प्रति ।
लीनालिमालानिभृतेव लालसा, दन्तच्छदस्वादुरसे प्रकाशते ॥१६॥

निर्वासितः शोकभरान्धकारो, हृन्मन्दिरात् पृष्ठमसेवतेव ।
अस्याः प्रलम्बासितकेशहस्त-व्याजेन निर्व्याजजगत्प्रियायाः ॥१७॥

माल्यं हि सर्वस्वमिवासमेषो - राराधनायेव सदाऽपि गुप्तम् ।
केशान्तरे रक्षति रक्षिकेव, बालाऽपि वैदग्ध्यनिधानमेषा ॥१८॥

ज्योत्स्नागुणव्यूतमिवाघनं सितं, शिरोंऽशुकं दर्पणकीर्त्तितस्करम् ।
दधाति सर्वावयवप्रकाशनादियं जगल्लोचनमोदचन्द्रिका ॥१९॥

---

१. सौधमतल्लिका । २. अपूर्वाम् ।

ललाटपट्टः पट्टहाटकद्युति-र्यतीक्षितोऽस्याः क्षणतः किलाऽरतिम् ।
भ्रूलेखया राहुरुचेव सक्तया, दलीकृताक्षा महिमांशुसम्मितः ॥२०॥

निरायतः सत्तिलकोऽत्र मन्मथ-प्रवीरसज्जीकृतभल्लिविभ्रमम् ।
बिभर्त्ति दृष्टोऽपि विहस्तकामिनां, स्वेदप्रकम्पौ परितः प्रसारयन् ॥२१॥

कौटिल्यतः कामधनुर्लता तुलां, प्राप्याऽपि हीना सविलासनर्त्तनैः ।
साम्यापमानं न ददौ नतभ्रुवो, भ्रुवोस्तु चक्षुः कमलालिलेखयोः ॥२२॥

नासा प्रकाण्डोल्लसिता लतेव, विभाव्यते यौवनपादपस्य ।
भ्रूवल्लरीप्रान्तनता नु लीला - कटाक्षपुष्पातिभरादिवास्याः ॥२३॥

तीक्ष्णे सुदीर्घे सरले च पक्ष्मले, विलोचने धत्त इहैतदीयके ।
प्रारब्धविश्वत्रयसिद्धिमन्मथ - क्षोणीपतेरप्रतिघातिबाणताम् ॥२४॥

मन्ये मनोभूः सविलासनेत्रयो-रस्याः स्वकार्यौघनिवेशतः कृती ।
अभीर्गिरीशात् कृतकृत्यतासुखी, सुष्वाप वक्षोरुहदुर्गमण्डले ॥२५॥

आभ्यां[1] नवं कर्म कुतोऽपि शिक्षितं, हृतो यदन्तःकरणानि कामिनाम् ।
असङ्गते अप्यथवा न कौतुकं, वामस्मराचार्यविनेयतेदृशी ॥२६॥

अन्तश्चरद्भृङ्गविकासिपङ्कज-श्रिणो अपि श्यामलगर्भयोगतः ।
वक्त्रेन्दुबिम्बोदय एव जृम्भिते, विलोचने चित्रमचित्रचित्रिते ॥२७॥

कान्तेः कलापेन शशाङ्कमण्डलं, दास्यव्रतं प्राप यदाशु शारदम् ।
बिभ्रद् विलासायुधदर्पणभ्रमं, विभाति चास्या द्वितयं कपोलयोः ॥२८॥

कामांकुरोद्भूतलतेव नीला, कस्तूरिकापत्रलताऽपि तत्र ।
छायां[2] दधाति ध्रुवमङ्गजन्मप्रतप्तकामीक्षणभृङ्गशान्त्यै[3] ॥२९॥

समुच्छलन्नीलमणीद्धकुण्डले, बिम्बच्छलेनाऽतनुतः कपोलयोः ।
चलत्कुरङ्गाकुलचन्द्रमण्डल-द्वयप्रतीतिं मकुराभिभाविनोः ॥३०॥

सौन्दर्यसम्भारभृतत्वतो ध्रुवं, गण्डस्थले मांसलताप्रसाधने ।
प्रीतिं प्रदत्तः सततं च चक्षुषो-रस्याश्चकोरीचलचारुचक्षुषः ॥३१॥

---

१. लोचनाभ्याम् । २. छायां शोभामथवा तपाभावः । ३. सन्तापोपशमाय ।

सुसंस्थितेनेक्षकचक्षुरेणक प्रकामवन्धोद्धुरशिल्पशालिना ।
श्रोत्रद्वयेन स्मरदीर्घवागुरा, लक्ष्मीभृतामोदमियं प्रयच्छति ॥३२॥

तत्कुण्डले जैत्रमहास्त्रचक्षुः - कटाक्षलक्षप्रतिपूरितस्य ।
आस्यस्य मीनाङ्करथस्य चक्र - भ्रान्ति प्रदत्तो मणिरश्मिनद्धे ॥३३॥

समुन्नताग्रेण रुचिच्छटाछलात्, प्रस्नप्यमानेन निरन्तरं स्वयम् ।
नासापुटेनाङ्गजकेलिवल्लकी-कोणस्य[1] कान्ति सरलेन बिभ्रता ॥३४॥

विभात्यसौ भ्रूयुगपक्ष्मचन्द्रकिच्छदच्छटाछत्रकमध्यसंस्पृशा ।
तद्दण्डकौतूहलमाशु पिप्रता, रोचिष्णुचक्षुः कमलाशिरस्यलम् ॥३५॥
युग्मम्

सुपक्वविम्बोफलपाटलप्रभः, प्रभासतेऽस्या रुचिरो रदच्छदः ।
रागेण सर्वाङ्गगतात्मरूपतः, सर्वस्वनिर्यास इवावतारितः ॥३६॥

अयं भवेत् किं रतिवल्लिपल्लवः, प्रवालखण्डः किमु कामवारिधेः ।
नाऽनोदृशो येन कथञ्चिदीक्षणादपि प्रकुर्याद् विकृतं जगन्मनः ॥३७॥

निवेशितोऽत्रैव सुधारसः सुरै-र्नूनं यदस्मै स्पृहयन्ति कामुकाः ।
विहाय माधुर्यभृदिक्षुशर्कराखण्डादिवस्तूनि विहस्तमानसाः ॥३८॥

अत्यद्भुतोऽस्याः कलकण्ठकन्दलो, यो यौवनोत्तुङ्गपलाशिकन्दलः ।
तथापि विक्षिप्तपिकाङ्गनास्वनै - र्माधुर्यसंहूतमृगासु गीतिषु ॥३९॥

जग्राह कम्बोर्मधुरध्वनिं ध्रुवं, रेखात्रयेणाऽपि समं स्फुरन्नयम् ।
विलुप्तसर्वस्व इवातिपाण्डुरां, धत्ते तनुं तेन शुचा स सर्वदा ॥४०॥

हारप्रभाजालजलान्तरुत्थितो, वक्त्रोत्पलाधारतया दधात्ययम् ।
नालश्रियं चक्रनिभोन्नमन्मुखस्तनप्रकामप्रकृतान्तचुम्बनः ॥४१॥

अस्या अपूर्वं करयुग्ममम्वुजं, रक्तांगुलीपत्रततिप्रसाधितम् ।
यदस्तकालेऽपि सहस्रदीधितेरवेदनाजं विनिमीलनापदः ॥४२॥

किं वर्ण्यतां मार्दवमस्य मादृशै - र्यदग्रतः प्रापदशोकपल्लवः ।
शिलाविलासं नवनीततूलिका - सुस्पर्शमूर्त्तेररुणत्विषां निधेः ॥४३॥

---

१. वीणावादन ।

रेखापदेशान्मकरोऽङ्गजेन, व्यतीर्यते वाङ्कवरः करेऽस्यै ।
स्वस्मादभेदं गदितुं विलासै-र्नृपेण भृत्याय यथाऽऽतपत्रम् ॥४४॥

कराब्जयोः कौतुकमल्लिकाश्रियो - र्नखप्रदीपप्रभयातिसान्द्रया ।
निर्वर्त्यते शोणमणीद्धचक्रक-द्वयं विनोदार्थमिवात्मनोऽम्बरे ॥४५॥

मृणालसौन्दर्यविनिन्दिमार्दवात्, कान्त्यापि कश्मीरजकीर्त्तिलोपकम् ।
आन्दोलनैर्नूतनचूतवल्लरी-र्विडम्बयद् भाति भुजालताद्वयम् ॥४६॥

सुमांसलं स्निग्धरुचेर्निधानमिदं ह्यधोऽधोऽप्युपचीयमानम् ।
दधाति तत्कालजकुम्भिकान्ताकरश्रिय लोलदलोलगात्र्याः ॥४७॥

हिरण्मयाऽलङ्कृतयः प्रकोष्ठतः, सौन्दर्यसारात्समवापुरिन्दिराम् ।
नवाद्भुतं यत्सरसापि नीरजं, प्रसाध्यते संभृतवारिसम्पदा ॥४८॥

अस्या हि तारुण्यमहामतङ्गजप्रोन्नम्रकुम्भस्थलविभ्रमं घनम् ।
भाति स्तनद्वन्द्वमुदूढचन्द्रकि-स्वर्णोरुकुम्भाकृतिनीलचूचुकम् ॥४९॥

अन्तर्मनोजन्मशराहतत्वतो, विनिर्गतौ नूनमशेषतो बहिः ।
कुमारमृद्विभ्रमभृत्युरःस्थले, पयोधरौ प्रापतुरुन्नतिं पराम् ॥५०॥

माऽभूत् कदाचिन्मनसि प्रवेशनं, [1]मन्योरितीव स्तनयोर्युगं दधौ ।
अन्योन्यसंश्लेषमतीवरक्तयो-र्द्वन्द्वं दिवेवाम्बुनि चक्रवाकयोः ॥५१॥

सुवृत्तमप्यूर्ध्वगतैः सरन्ध्रकै-र्मुक्ताफलैः शश्वदहं विघट्टितम् ।
इतीव चास्याः कुचकुम्भमण्डलं, विषादिवक्त्रेण बिभर्त्ति कृष्णताम् ॥५२॥

अस्याः सुवृत्तं विमलं यशोऽभवन्, मद्व्याजतः शाश्वतमात्तविग्रहम् ।
इति स्तनाग्रे स्फुरति प्रभाषितुं, मुक्तावली नूनमियं जनाय च ॥५३॥

वक्षोजकुम्भास्यनिपातिनी सिता, मुक्तालताऽस्याः सरलत्वशालिनी ।
राज्याभिषेकाय मनोजभूपते-र्द्धाराऽमृतस्येव विभाव्यतेऽथवा ॥५४॥

भुजङ्गनिर्मोकमनोहरा स्तनप्रसाधनोकञ्चुलिका कलाचिके ।
प्रकाशयन्ती मणिचारुकङ्कणे, अस्यास्तनुं प्रापयति श्रियं पराम् ॥५५॥

१. शोकस्य ।

कन्दर्पकोदण्डविविक्तलस्तक[1]-श्रीहारि मध्यं स्वत एतदीयकम् ।
पीनस्तनानल्पभरादिवाऽधुना[2] धत्तेऽशनेर्मध्यभ्रुवोऽपि तानवम् ॥५६॥

रेखात्रयाऽऽधारतया मया समः, कण्ठः सभूषो ध्रुवमेवमीर्ष्यया ।
निर्भूषणं मध्यमवाप तानवं, तुल्यात् पराभूतिरतीवदुस्सहा ॥५७॥

निम्नं[3] स्वसौन्दर्यसुधारसप्लुतं, विभाति चास्याः शुभनाभिमण्डलम् ।
जगज्जयश्रान्तमनोजभूपतेः, क्रीडासरः कान्तिमखण्डितां दधत् ॥५८॥

विराजते नाभिनदानुगामिनी, रोमावली शैवलवल्लरी ध्रुवम् ।
प्रोच्छालितामज्जनकेलिसङ्गतश्रीजाङ्कमीनेन विलोलचक्षुषः ॥५९॥

दृष्ट्वेव वा मध्यमपेतभूषणं, कृशं शुचेवाङ्गजसङ्गियौवनम् ।
रोमावलिं नीलमणिस्रजं ददौ, तस्मै परिष्कारविशेषमव्ययम् ॥६०॥

शुक्शाकिनीं रोद्धुमिवोर्ध्वमायतीं[4], हृदि प्रवेशाय वलित्रयच्छलात् ।
रेखात्रयं यौवनयोगिमान्त्रिकः, प्रादादिहास्यास्तनुमध्यसीमनि ॥६१॥

अस्या नितम्बस्थलमप्यनङ्ग - क्रीडामृगक्रीडितभूमिरेका ।
क्रमोन्नतं यद् विपुलं म्रदीयो, बिभर्त्ति गङ्गापुलिनस्य लक्ष्मीम् ॥६२॥

दुग्धाब्धिसंवर्तितसत्तरङ्ग - भङ्गिप्रबद्धोद्धुरनीविबन्धम् ।
डिण्डीररुक्पट्टमयं बतास्या, नितम्बवासोऽपि मुदं तनोति ॥६३॥

निम्नाद् ध्रुवं नाभिनदाद्विनिर्गतो, लावण्यवारिप्रचयस्तरङ्गवान् ।
मूले[5] नितम्बं तु ततः समास्तृणन्, विराजतेऽस्याः परिधानभङ्गितः ॥६४॥

अस्याः सदा कुण्डलितस्वरूपभाक्, दधाति नीलाश्मनिबद्धमेखला ।
[6]रतिप्रमोदाद्भुतरत्नशेवधि-श्रोणिस्थलीरक्षकभोगिविभ्रमम् ॥६५॥

काञ्च्यां रणत्किङ्किणिकाः कलस्वनै-राहूतमीनध्वजवल्लभा ध्रुवम् ।
अस्याः कथं कामिततिस्सदान्यथा, समीपगाऽप्याशु रतिं विगाहते ॥३६॥

अकुंकुमालेपनमेव पिञ्जरं, शिलानिघर्षं च विनापि कोमलम् ।
रुतेऽपि यन्त्रं परिलब्धवृत्ततं, सृष्टिर्न वा काचिदिदं स्वयम्भुवः ॥६७॥

---

१. मध्यप्रदेशः । २. यौवनोदये । ३. गभीर । ४. गच्छन्ती । ५. नाभेरधोभागस्यैवादौ । ६. संभोगानन्दः ।

ऊरुद्वयं नूनमनङ्गधन्विनस्तूणीरयुग्मं सकलेषु पूरितम् ।
तत् प्रेक्षकान् मक्षु भिनत्त्ययं कथ, मृगान् यथा कामिन उत्सुकोऽन्यथा ।।६८।।
युग्मम्

इदं ध्रुवं मन्मथमत्तदन्तिनो, बन्धार्थमालानयुगं न्यवेश्यत ।
प्रजासृजा तेन लसन्ति विभ्रमा, निरंकुशा एतदवेक्षकाक्षिषु ।।६९।।

स्पर्शः समग्रावयवातिकोमलः, कान्तिः पराद्रावितकाञ्चनादपि ।
ममेति नूनं स्वगुणोग्रतामदात्, भूषान्तरं बाह्यमिदं दधाति नो ।।७०।।

वृत्तानुपूर्वं युगलं च जङ्घयोरस्याः स्फुरच्चम्पकदामकोमलम् ।
बालातपालंकृतमाधवीलता, प्रकाण्डकान्तं वितनोति मे मुदम् ।।७१।।

विभाव्यतेऽस्याश्चरणद्वयं चलत्पयोजयुग्मं सरसः समागतम् ।
इमां हि लावण्यनदीं निषेवितुं, पङ्कावगाहव्यथनादिव त्रसत् ।।७२।।

निगूढगुल्फं विसरत्प्रभाजल-स्नानेन शुद्धं समतातिबन्धुरम् ।
वैषम्यमात्रापि न शौचभाजनेष्विति प्रवादं प्रथयद् ध्रुवं भुवि ।।७३।।

हृदि प्रवेशार्थमिवाम्बुजारुणं, रागेण सेवाकुशलेन सेवितम् ।
सौन्दर्यगर्वादिव शश्वदुन्नतं, कौटिल्यविद्वेषि च साधुवत् सदा ।।७४।।

मञ्जीरनादैः कलहंसविभ्रमं, तदङ्गनानां जनयद् गृहेष्वपि ।
सौस्थ्यं समुत्पादयति प्रचारतः, स्युर्योषितां के हि मुदे न सुस्वराः ।।७५।।

दीप्रारुणाऽस्याः पदयोर्नखावलि - र्दिवाकरश्रेणिरिवावभासते ।
एतन्मुखव्याजगृहीतपङ्कज - स्वबन्धुमोक्षार्थमुपान्तचारिणी ।।७६।।

वक्त्रेन्दुनिर्माणविभावनेच्छया, वाऽस्या ध्रुवं विश्वसृजा प्रकल्पिता ।
विनिर्मला पूर्णशशाङ्ककोमला-ऽनुगामिनी शाश्वतदर्पणावलिः ।।७७।।

अमोघमस्त्रं सुहृदो मनोभुवो, द्रक्ष्यामि नीलोत्पललोचनां कथम् ।
इमामितीवानिशमीक्षितुं स्थिता, कुतूहलाद्वा क्षणचन्द्रसन्ततिः ।।७८।।

प्रत्यङ्गमप्येवमियं मनोहरा, किमुच्यतां तन्निचयात्मिका तथा[1] ।
गुणाञ्चिता कान्तिकलापसङ्गता, सुवृत्तमुक्तामणिमालिका यथा ।।७९।।

१. मनोहरा

रोचिष्णुरोचिःश्रवणप्रसाधना, सुहृत्तलक्ष्मीर्गुरुदर्शनान्विता ।
मन्दारभूषा कविचन्द्रसस्तुता, दिवा तुलां रोहति निस्तुलाप्यहो ॥८०॥

एषापि किं यूनि निवेशयेत् क्वचित्, स्मिताब्जकान्तां स्वदृशं स्पृहावती ।
सुधाम्बुधारा निपतेत् क्व वा मरा-वमर्त्यभोगार्हजलाशयोचिता ॥८१॥

आजन्म च स्यादपदुःखसन्तति-र्निर्वाणवन्मंक्षु कटाक्षितोऽनया ।
आलिङ्गितस्तूपमिति प्रथोज्झिता, नन्दालयो नन्दति धन्यशेखरः ॥८२॥

किं प्रीणयेन् मामपि तिर्यगीक्षितै-रियं कदाचिन् मदनद्रुकन्दली ।
क्व दुर्गतस्यौकसि कल्पशाखिनः, शाखा फलेद्वाऽकृतपुण्यकर्मणः ॥८३॥

यावन्महामोहभुजङ्गमोल्लसत्, स्मरोदयोद्गाढविषो व्यचिन्तयत् ।
इत्थं कुमारः समुदैत् कुमारिकामुखाद् ध्वनिस्तावदतीवशोकभाक् ॥८४॥

आर्द्राणि चेतांसि पतत्रिणामपि, स्वरूपसंक्रान्तिवशादिवाऽदधत् ।
तरूनपि प्रोच्छलदण्डजस्वनैः, सुदुःखशब्दानिव सन्निधिश्रितः ॥८५॥

श्रीविश्वसेनक्षितिपालदेहजः, सनत्कुमारः शरणं ममाऽधुना ।
भूयान्महादुःखशिलापरम्परा - निपीडिताशेषतनोस्तनो'-रिति ॥८६॥

विषादिनीं तद्वदनात् स गामिमां, निशम्य चन्द्रादिव धूमसंहतिम् ।
सुधारसाद्वा विषमां विषच्छटां, सम्भावनातीतपदां व्यकल्पयत् ॥८७॥

क्व मूर्त्तिरीदृक् ?क्व च दुःखमीदृशं ? क्व मामकं नाम वने क्व कन्यका ।
गौरीपतेः कामविघातकत्ववन्,मिथो विरुद्धं प्रतिभात्यदोऽखिलम् ॥८८॥

अनेकधैवं प्रविकल्पकोविदः, सोऽपृच्छदेनां मधुरस्फुटाक्षरम् ।।
भद्रे !तवाऽसौ वनवासविप्लुतेः[2], सनत्कुमारो भवतीह किं पुमान् ॥८९॥

त्राणं त्वमस्य प्रतिपद्यसे यतः, का वा त्वमत्राऽऽपतिता कथं वने ।
दुःखातिरेकोऽपि कुतः सुलोचने !, निवेदयेदं सकलं कलानिधे !॥९०॥

कौतूहलं बालकवन्ममेक्षिते, सदिन्द्रजालप्रतिमे ! तवेहिते[3] ।
तत्तथ्यवाचा परिपूरयद्द्रुतं, यत्सर्वथाऽऽनन्दकृतः सुदृष्टयः ॥९१॥

---

१. कृशायाः । २. उपद्रवः । ३. चेष्टिते ।

दृष्ट्या पीयूषवृष्ट्या ललिततरलया नन्दितस्तावदस्मि,
स्मेराक्षिक्षेपसारं, यदि तु कलगिरा नन्दयेन्नन्दनीयम्।
दद्यां नूनं तदानीं जलनिधिमथनोत्थास्नुपीयूषलब्धि-
स्वर्गिप्रीतेर्हि दास्यव्रतमनवरतं सोऽन्तरित्याऽऽलुलोचे ॥६२॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते सुनन्दासमागमनो
नाम सप्तदशः सर्गः ॥छ. ॥१७॥

अष्टादशः सर्गः

सगद्गदं प्राह ततः कुमारिका, साकेतनाम्नो नगरस्य रक्षितुः।
'सुराष्ट्रभूपालशिरोमणेर्महादेव्याः सुता चन्द्रयशोभिधाभृतः ॥१॥
उमा हिमाद्रेरिव दुग्धवारिधेः, पद्मालया वा जनकस्य सर्वदा।
स्वप्राणितादप्यधिकं च वल्लभा, नाम्ना सुनन्देत्यहमत्र विश्रुता ॥२॥
महीतलाऽलङ्करणं गुणश्रिया, सनत्कुमारो मम भद्र ! वल्लभः।
वाचा हृदा चानुसृतो न पाणिना, परं मया दग्धकदैवदग्धया ॥३॥
तस्मै यतोऽहं प्रतिपादिता पुरा, भक्त्या पितृभ्यां गुणपक्षपाततः।
के वा गुणाढ्या न भवन्ति भाजनं, पुरस्क्रियाया मणिमालिका यथा ॥४॥
यतः स रूपेण विनिर्जितस्मरः, परास्तकीर्त्तिर्महसा महोनिधेः।
कलाकलापेन कलानिधिं हसत्युद्वेष्टि शौर्येण मृगाधिनायकम् ॥५॥
नैमित्तिकेनाऽऽदिदिशेऽस्य जन्मनि, 'प्राज्यंसुराज्यंखचरेष्वपि स्थिरम्।
प्रशस्यता सा हि मृगस्य भूतले, यदिन्दुबिम्बेऽपि सदा विलासिता ॥६॥

---

१. नाम।

तथा—

प्रचण्डमार्त्तण्डविडम्बितेजसो-ऽसिताक्षयक्षस्य तिरस्क्रियाविधिः ।
प्रौढावदानेन जगत्सु या प्रथा, सैवावदातं फलमत्र जन्मनः ॥७॥

विधास्यते चास्य विनिर्जितामर-श्रियाऽङ्गसौन्दर्यगुणेन शंसनम् ।
स्वयं सुधर्माधिभुवाऽप्यनेकशस्तत्पुण्यपुञ्जं तुलयेत् सुरोऽपि कः ॥८॥
त्रिभिर्विशेषकम्

राधाव्यधाद्यद्भुतशिल्पशेवधि-र्यः [1]प्राग्भवानप्यजयन्नृपाङ्गजान् ।
गुणोत्थकीर्तिप्रचयेन सर्वथा, स कल्पशाखीव दुरापदर्शनः ॥९॥

परम्परितरूपकालङ्कारेण तद्वर्णनं वृत्तद्वयेनाह—

सत्यानुषङ्गातिशयाऽसुरारिः, क्षमाधृतिस्थैर्यमहावराहः ।
कलाकलापाश्रितिशारदेन्दुः, पद्मालयक्रीडनराजहंसः ॥१०॥

नानाबलासंस्मितपुष्पमासः, सरस्वतीवक्त्रविलाससिन्धुः ।
गुरुक्रमाराधनदेवराजः, सनत्कुमारः स कुमारराजः ॥११॥

संख्यातिगानेष समाश्रितो गुणानेवं प्रकारान् विजिगीषया ध्रुवम् ।
एकैकशौर्यादिगुणोद्धति स्पृशां, सिंहादिकानां विचचार भूतले ॥१२॥

अपि प्रमीयेत मणिव्रजो जनै, रत्नाकरस्यापि सुरानुभावतः ।
सुराधिपेनाऽपि न तस्य सदगुणाः, शक्याः प्रवक्तुं गुरुसंयुजाऽप्यहो ॥१३॥

इति श्रुते दूतमुखेन सद्गुणे, तस्मिन् कुमारे जनकेन सत्वरम् ।
तस्मै प्रदत्ताऽस्मि वसुन्धरा यथा, रामेण विप्रप्रचयाय सादरम् ॥१४॥

ततः प्रभृत्येव ममाऽप्यभूत्तरां, तत्राभिलाषो मधुरे फले यथा ।
औत्सुक्यचिन्तादिमहालताततेः, प्ररोह उद्बुद्धमनोभवोद्भवः ॥१५॥

नक्तं दिवं मां न विमुञ्चति क्षणं, चिन्ता प्रसन्ना सुसखीव दुस्थिताम् ।
स्मरामि त धीर तदेकमानसा, शुद्धं परं ब्रह्म यथैव योगिनी ॥१६॥

सोत्कण्ठमुत्कीर्त्तनमस्य गौरवात्,करोमि नीतेव गुणैः स्वनिघ्नताम्[2] ।
तल्लाभरिक्ता च कदाचिदुद्विजे, सच्चक्रवाकी निशि केवला यथा ॥१७॥

---

१. भगीरथादीन् । २. आत्मायत्तताम् ।

क्व प्राप्स्यसे मन्दतमाऽल्पपुण्यया, त्वं कल्पशाखीव जगत्प्रियप्रदः।
इत्थं कदाचित् प्रलपामि मन्दिरोद्याने च सीतेव वनेऽतिदुःखिता ॥१८॥

लुठामि भूमौ लुलिताऽलकावलि-र्हसामि नृत्यामि च रोदिमि क्षणम्।
उन्मत्तताभाक्तदनन्यभावतो, भवामि चान्येव कदाचिदञ्जसा ॥१९॥

ज्वरस्तथा रोहति कर्हिचिद् यथा, समीपगस्याऽपि सखीजनस्य मे।
सद्यो मदुच्छ्वासतनूष्मतापिताः,प्लुष्यन्ति कण्ठेष्वपि पुष्पमालिकाः॥२०॥

शून्येक्षणाऽन्तःकरणा वदामि नो, चित्रार्पिताङ्गीव कदापि निश्चला।
तन्नास्ति दुःखं सकलेऽपि भूतले, तदप्रयोगेऽनुभवामि यन्न भोः ॥२१॥

[1]दशस्ववस्थास्विति चित्तजन्मनः,सा कापि न प्रापि मया तदानया।
दग्धास्तु ताः प्रत्युत मां प्रतिस्थिताः,प्रत्येकमप्याशु सहस्रशो ध्रुवम् ॥२२॥

त्रपाकरं स्वं चरितं तदित्यहो,
वक्तुं न युक्तं परसाक्षिकं मम।
साधोः कथञ्चित् पिशितोपयोगतो-
ऽप्यस्थ्नो विबन्धः किमु युज्यते गले ॥२३॥

असाम्प्रतं चेह निजोरुदर्शनं, परस्य लज्जादियुजः कुलस्त्रियाः।
तवोपरोधान्महतस्तथाप्यदः, [2]प्राकाश्यताऽस्वस्थहृदा मयाऽधुना ॥२४॥

पितुर्गृहेऽप्येवमनेकशः क्षता, शोकेन दावेन मृणालिका यथा।
भुञ्जे न सौस्थ्येन वरान्नमप्यहं,विषाक्तवत् तद्गतमानसाऽनिशम् ॥२५॥

सुस्पर्शशय्यापि निदाघतापिता, स्थलीव मत्स्याः परिवर्तनादिकृत्।
सम्पद्यतेऽपाद्यमपीह पादयोः, सुशीतमप्यग्निरिवातितापकम् ॥२६॥

इत्थं शरीरस्थितिवर्जिता कृशा, निर्वेदभाक् क्वापि च जीवितादपि।
अकार्षमङ्क्षणदा मुखे सखीः, प्रलम्भ्यपाशग्रहणोन्मुखं मनः ॥२७॥

तथापि संगोप्य विकारमात्मगं, शिरो ममाऽद्य स्फुटतीव बाधया।
स्वपिस्म्यतस्तूर्णमिति प्रियाः सखी-र्व्यसर्जयं सायमपि च्छलेन ताः ॥२८॥

---

१. अभिलाष-चिन्तन-स्मृति-गुणकथा-उद्वेग-प्रलापो-न्माद-संज्वरजडता-मरणरूपासु।
२. प्रकाशिष्यते च।

शय्यामुपारोहमहं स्ववाससा, वृत्त्यानानं श्वाससविशेषसोष्मणा ।
ततोऽधिकार्त्तेः सहसा स्वमन्दिराद्, विनिर्गता बन्धनिकेतनादिव । २९॥

गत्वा गृहोद्यानमशोकपादपे, बध्वा च पाशं कुलदेवताः प्रति ।
व्यजिज्ञपं नाऽहमितः परंसहा, दुःखौघमेवं परिसोढुमुज्ज्वलम् ॥३०॥

निधाय कण्ठं तदिहैव पाशके, व्रजामि लोकान्तरमर्त्तिहानये ।
सम्पद्यते क्वापि न निर्वृतिः परा, विना महायासतितिक्षणं[1] यतः ॥३१॥

तत्रापि युष्माभिरनुग्रहस्तथा, कार्यो यथा स्यान्मम तेन सङ्गमः ।
सद्यं कुमारेण फलन्ति किं न वा-ऽचिन्त्यप्रभावा ननु कल्पवल्लयः ॥३२॥

एतच्च साश्रुप्रतिपाद्यपातितोद्गतं मया कण्ठविबन्धिपाशकः[2] ।
समं शरीरेण तरोर्महोच्छ्रयात्, किं वा न कुर्वन्ति हि दुर्लभार्थिनः ॥३३॥

ततः परिभ्रेमुरिवाखिला दिशो, भूमौ पपातेव नभः सतारकम् ।
प्रोवास निःश्वासखगोऽपि पञ्जरा-दिवाङ्गतः पातविबाधनादिव ॥३४॥

मिमील चक्षुश्च मदीयदुर्दशा, दृष्टयक्षमं नूनमरुद्ध तत्क्षणात् ।
प्राणैः समं वागपि दैन्यभीतितः, सर्वं तदान्यत्वमिवाऽऽययौ जगत् ॥३५॥

तदैव दैवान्मम पार्श्वमागमत्, प्रियंकरा नाम सखी सुवल्लभा ।
प्रश्नाय संवेशनधामसस्थिते-र्जागर्त्ति पुण्यं हि विपद्यपि क्वचित् ॥३६॥

सा मामपश्यत् सपदि प्रलम्बितां, तरोस्तले पाशनिवेशिकन्धराम् ।
चक्षुर्निमेषस्वनशून्यचेष्टितां, स्वयं प्रनृत्तामिव यन्त्रपुत्रिकाम् ॥३७॥

हा! हा!! किमेतन्नृपपुत्रिसूत्रितं, नवं त्वया नाटकमेकपात्रकम् ।
महान्धकारे च विलोचनक्षमः, सामाजिको मादृश एव यस्य च ॥३८॥

इत्याद्युदस्रुप्रलपन्त्यनेकधा, साऽत्रोटयत् कण्ठत आशुपाशकम् ।
कार्यैकनिष्ठातिपटिष्ठबुद्धयो, दक्षा भवन्ति व्यसनेऽपि नाऽऽकुलाः ॥३९॥

उत्तालचेलाञ्चलवातवीजनै - र्वक्षःस्थलाद्यङ्गविमर्दनक्रमैः ।
साऽऽश्वासयन् मामविलम्बतो महाभिषक्चिकित्सेव तनूं सरोगिण ॥४०॥

---

१. सहनम् । २. बद्धकण्ठपाशं शरीरं पातितमित्यर्थः ।

मामन्वयुङ्क्त[1] प्रणयातिपेशलं, किं स्वामिनि! प्रस्तुतमेतदीदृशम् ।
युष्मद्विधाः कार्यविचक्षणाः कथं, दशामिमामात्मनि चिन्तयन्त्यपि ॥४१॥

मया तु किञ्चिन्न ह्रिया प्रजल्पितं, तथाऽप्यबोध्येव तया स्वबुद्धितः ।
[2]निदानमस्य[3]प्रतिभा हि भासयत्यर्कांशुवत् किं किमहो! न निर्मला ॥४२॥

प्राबोधयन् मामिति सा विचक्षणे, विज्ञाततत्त्वापि कथं विमुह्यसि ।
दृष्टे हि चन्द्रे न कदापि शङ्कते, सुधीर्विपर्येति तु को निशागमे ॥४३॥

तत् त्वामनु ज्यौतिषिकेण भाषितं, पितुः पुरस्तादिति किन्नु विस्मृतम् ।
सनत्कुमारस्य तुरीयचक्रिणः, स्त्रीरत्नमेषा नियतं भविष्यति ॥४४॥

तत्सर्वथा स्वस्थमनाः स्वमन्दिरे, भुजङ्गकन्येव सुखेन लीलया ।
क्रीडन्त्यमा केलिसखीभिरुच्चकै-रास्वस्व वश्यार्थविधौ हि का त्वरा ॥४५॥

सम्बोध्यमामित्थमनेकधाऽनयच्छय्यां न चाऽमुञ्चदतः परं क्षणम् ।
साऽस्मत्समीपं सुहृदो ह्यनाकुलास्तिष्ठन्ति कुत्राऽसुखिते प्रिये जने ॥४६॥

सा प्रत्यहं शेखसखीभिरन्विता, विनोदयत्यद्भुतभूरिकेलिभिः ।
मामादृता सत्यमितोऽवभाषते, स्वर्गो हि सन्मित्रमिति श्रुतेर्वचः ॥४७॥

दीव्यन्त्यथ स्वर्णमहार्घकन्दुकैः, कदाचिदात्मीयगृहस्य कुट्टिमात् ।
छलेन केनाऽपि दशास्यकीर्त्तिना, सीतेव तूर्णं गगनेऽवतारिता ॥४८॥

मुहूर्त्तमात्रेण च तेन लम्भिता, प्रासादरत्नं स्वबलप्रसाधितम् ।
एतत् स दृष्टश्च मयातिभीतया, विद्याधरश्चेति विनिश्चितो धिया ॥४९॥

आश्वासिताऽलंकृतिदानसामभिस्तथापि नैवान्वभवं सुखासिकाम् ।
स्वयूथ्यहीना करिणीव केवलं, वहाम्युदस्रुप्रतिवासरं मुखम् ॥५०॥

विहाय मां चाऽत्र वनाय सोऽगमद्, विद्यां शुभां साधयितुं महस्विनीम् ।
तत्रापि सिद्धेर्दिनमद्य सप्तमं, स सिद्धविद्यः परिणेष्यते किल ॥५१॥

यत्कांदिशीकेह वने मृगी यथा, बन्दीव सुस्निग्धसखीगुरूज्झिता ।
तद् भद्र ! तिष्ठाम्यतिदुःखितेत्यतः, सनत्कुमारं शरणं समाश्रयम् ॥५२॥

---

१. अपृच्छत् । २. कारणं । २. मदनुष्ठितस्य ।

त्वं कल्पशाखीव मरौ सुदुर्लभः, शैलाग्रभूमाविव वा सुधारसः।
अमानुषे दुर्गवनेऽद्य वीक्षितः, सुदुस्त्यजो लोचनतापसातिथिः ॥५३॥

दृष्टे त्वयि प्रागमदद्य बान्धवा, योगोद्भवं दुःखमदुःखदर्शन।
आस्वादिते व्याधिहरे रसायने, किं तिष्ठति क्वाप्युदरस्य वेदना ॥५४॥

दृग्वाग्विलासानुगतां विलासिनावित्थं मुदं यावदिमावुदूहतुः।
कोकाविवाम्भोरुहखण्डसुस्थितौ, तावन्नभस्तः सहसा स आपतत् ॥५५॥

वज्राशनिः किं ? किमु पिण्डितो दवः ?,
क्षयाय किं वा प्रलयानलः क्षितेः ?।
प्रभास्वरत्वेन भयानकत्वत -
श्चाशंक्यमानो बहुधेति खेचरैः ॥५६॥

स्त्रीरत्नसान्निध्यसुसिद्धविस्फुरद्-विद्यामदात् [1]कक्षतयेक्षितापरः।
न पल्वलाम्भो भुवि माति कुत्रचित्, स्वल्पेऽपि वर्षाभ्युदये नवेऽथवा॥५७॥

विद्युद्वेगोऽङ्गभूः ख्यातोऽशनिवेगस्य भूपतेः।
विद्यादोर्दण्डदर्पेणाऽधमो यो रावणायते ॥५८॥

चक्कलकं चतुर्भिः

ततः सुनन्दानयनाङ्कम्पा-तिरेकमागत्य समादधानः।
उत्क्षिप्य दोर्ष्णा गगनं निनाय, व्यालं[2] पतत्रीव कुमारमेषः ॥५९॥

हा! हा!! हतास्मीत्यनिशं रसन्तो, सोरस्थलाघातमियं पपात।
शोकेन भूमौ सहसाऽसमेन, ह्यकाण्डकाण्डेन[3] हृदि क्षतेव ॥६०॥

अबान्धवेऽप्यप्रतिमानमेवं, विजृम्भते क्वापि तदैव सख्यम्।
आनन्दनः केकिकुलस्य केन, प्रेर्येत नृत्याय नवः पयोदे ॥६१॥

प्रागेव दुःखौघकदर्थितेयं, यदीदृशीं प्राप दशामवाच्याम्।
तद्गाढगण्डोपरि दावदाहस्फोटस्फुटो नूनमजायताऽस्याः ॥६२॥

नभस्तले तेन निरुद्धसव्य - बाहुप्रचारोऽप्यपसव्यदोषा।
मुष्टिप्रहारैर्जितवज्रघातैस्तं प्राहरद् वीरवरः कुमारः ॥६३॥

---

१. तृणविशेषतुल्यतया। २. भुजगम्। ३. शर।

सहस्रशस्तैः सततं हतस्याऽनश्यद् वपुष्टो बलमस्य पुष्टात् ।
निर्मथ्यमाने हि सुरैः पयोधौ, क्वाऽवस्थितिस्तत्र सुधालवस्य ॥६४॥

विद्याऽपि पुस्फोर न काचिदस्य, क्षुण्णस्य तत्राऽप्रमितैः प्रहारैः ।
प्रभेव दीपस्य सुविस्तृताऽपि, प्रचण्डवातैरनिशं हतस्य ॥६५॥

स्तां[1] वा सुपुष्टे अपि शक्तिविद्ये, त्राणाय तेनाऽस्य तथापि दैवात् ।
न हीशमूर्द्धस्थितिभेश्वरत्वे, ग्रहक्षणे चन्द्रमसोऽपि न स्तः[2] ॥६६॥

तं लीलया व्योमचरं विशस्याऽऽजगाम तत्रैव पुनः कुमारः ।
मृगे हते को हि मृगाधिपस्य, शटाकचेऽप्युद्भवति प्रयासः ॥६७॥

ततः कृतान्ताकृतितो विपक्षादनाप्तकायव्यसनं पुरस्तात् ।
कीरी यथौतोर्विकृतात् स्वकान्तं, ननन्द तं वीक्ष्य तथा सुनन्दा ॥६८॥

शुग्भारतो मोदभरः समर्गलस्तद्दर्शनेऽस्याः समभूत् सुदुर्वचः ।
विदेहजाया इव लूनराक्षसाधिपावनीरुक्दयितावलोकने ॥६९॥

साऽपृच्छदेनं बहुमानपूर्वकं, नभोगमाद्यागमनान्तचेष्टितम् ।
सोऽप्याख्यदस्यै सकलं यथास्थितं, प्रश्नोत्तरे प्रेमयुजो हि लक्षणम् ॥७०॥

भद्रे ! न भेतव्यमितोऽपि खेचराद्, यज्जीवनाशं स ननाश पुण्यतः ।
तार्क्ष्योग्रधाम्नो महतोद्य तावकादाशोविषाभो जगतोऽपि तापनः ॥७१॥

आश्वास्य तामेवमरातिसूदनस्तत्रावतस्थे स कथापरायणः ।
विलोलतद्दृष्टिसरोजभानुमानुच्छ्वासयंस्तां च सरोजिनीमिव ॥७२॥

निशम्य तत् सा मुमुदे मृगेक्षणा, वाक्यं विपक्षक्षपणाभिधायकम् ।
को वा न नन्दत्यभिवाञ्छिते श्रुते, ध्वनौ घनस्येव शिखण्डिमण्डली ॥७३॥

विस्रब्धमेषा मुदितान्वयुंक्त तं, रहस्यशेषं चरितं स्थिराऽऽदितः ।
पुण्यैः परिप्रश्नधिया विदग्धया, प्रेयान् प्रसन्नो विजने ह्यवाप्यते ॥७४॥

निवेद्यते कामिजनेन सुभ्रुवे, गुह्यं तदादेशमृतेऽपि रागतः ।
तत्प्रश्नवाक्यामृतमाप्य किं पुनस्तदेत्यभाषिष्ट स राजनन्दनः ॥७५॥

---

१. भवेतां वा । २. न न विद्येते ।

श्रीविश्वसेनाङ्गरुहः कुदैवतः, सनत्कुमारोऽहमिलां परिभ्रमन् ।
विजित्य यक्षं परिणीयकन्यका, इहागमं त्वं च गतासि दृक्पथम् ॥७६॥

एतच्छ्रुतौ नम्रमुखी सकम्पा, स्तम्भोरुरोमाञ्चपवित्रगात्रा ।
एकाऽपि नानास्फुटभावकान्ता, नटीव सा तत्समये बभूव ॥७७॥

उक्तो मुहूर्त्तोऽप्यतिभूरिविघ्नः, श्रेयांसि चावश्यमनर्थभाञ्जि ।
क्षेपोऽसमीचीन इहेति हित्वा, त्रपां निरुद्धप्रियसङ्गवार्त्ताम् ॥७८॥

तं सा सुनन्दा प्रतिपादितास्मि ते, भद्रा सुभद्रेव पुरा किरीटिनः[1] ।
पित्रा तदत्र क्रियते विलम्बनं, किमर्थमित्युत्कलिकाकुलाभ्यधात् ॥७९॥
युग्मम्

पाणिग्रहे तामिति वीक्ष्य सत्वरां, गौरीमिवानन्यवराभिलाषिणीम् ।
स तद्वचः प्रश्रयतोऽन्वमन्यत, स्युः सर्वदा कालविदो विचक्षणाः ॥८०॥

हृष्टा नवेन्दीवरपत्रशोभया, दृष्ट्याऽथ सा वन्दनमालिकां दधौ ।
लावण्यपुण्यामृतपूर्णपीवर - स्तनद्वयेनोन्नतपूर्णकुम्भकौ ॥८१॥

स्मितस्फुरन्निर्मलदन्तदीधिति - प्रपञ्चतः कल्पितपुष्पमङ्गला ।
सुपञ्चमोद्गीतपिकाङ्गनास्वरा - नुसारचारीगतिनृत्यतत्परा ॥८२॥
युग्मम्

तत्प्रेमतो नूनमबालकेकिभिस्तदैव केकाध्वनिभिर्मनोरमैः ।
तथाविधैरेव हि सारसस्वरैः, समं समेत्य श्रुतिकोटरामृतम् ॥८३॥

प्रारभ्यते वाऽऽनकनादमिश्रितः, श्रीदुन्दुभिध्वानविधिः परिस्फुटः ।
इत्थं वनेऽस्याः समपद्यताऽखिलं, विवाहयोग्यं लघुगीतवादनम् ॥८४॥
युग्मम्

पर्याप्तपाणिग्रहणोपयोगिवस्तुन्यथालात्करपल्लवं सः ।
करेण तस्याः स्मरकेलिवल्लेरिवोद्गतं लोहितपल्लवं स्राक् ॥८५॥

स्त्रीरत्नमेषा हि यदेतदीयः, स्पर्शो नवः कोऽपि करः सुधांशोः ।
सहस्रसंख्यापरदारसङ्गश्रमोग्रसूर्योष्महरः क्षणाद्यः ॥८६॥

---
१. अर्जुनः ।

इतश्च तस्याऽम्बरचारिणः स्वसा, संसिद्धविद्यार्चनकृत्यसत्वरा ।
सन्ध्यावली नाम तमेव भूधरं, सन्ध्येव ताराभरणा समाययौ ॥८७॥

शुशोच चालोक्य निजं सहोदरं, सक्तं भुवि क्षोणिभुजङ्गवद्‌दृढम् ।
स्त्रीरत्नरागं चिरसञ्चितं ध्रुवं, मूर्त्तं स्रवन्तं रुधिरापदेशतः ॥८८॥

मनोरथाः प्राणिगणस्य चान्यथा, दुर्दग्धदैवस्य च वृत्तिरन्यथा ।
तथा हि सा तत्र समाययौ कथं, कथं च कार्थं विपरीततामगात् ।८९॥

चुकोप सा बान्धवजीवहारिणे, समस्ततद्वाञ्छितभङ्गकारिणे ।
ररञ्ज चैनं प्रतिसंस्मृतस्फुरद्, दैवज्ञवाग् या सहसोपशान्तिभृत् ॥९०॥

तस्यैव तत्रैव रुषः शमस्य च, क्षणेन भावो हि महाकुतूहलम् ।
न हीन्दुबिम्बे भवतोऽमृतानलौ, गतिर्विचित्राऽशुभकर्मणोऽथवा ॥९१॥

भ्रात्रन्तकस्यैव वधूर्भविष्यसीत्युक्त पुरा दैवविदा ममाऽग्रतः ।
इति ब्रुवाणा तमुपाजगाम सा, सेव्यो हि वह्निर्गृहदाहदाय्यपि ॥९२॥

उपस्थितां तां च करग्रहाय, पृष्ट्वा सुनन्दां स हि पर्यणैषोत् ।
प्रियाननुज्ञातमतिप्रियं चेत्, तथापि कुर्वन्ति न दक्षिणा यत् ॥९३॥

साऽथ स्वस्य पितुर्विचिन्त्य महतीं यात्रां प्रिये भाविनीं,
विद्युद्वेगनिमित्तिकां भटघटासंघट्टसंहारिणीम् ।
प्रज्ञप्ति निखिलान्यमन्त्रकलितां विद्यामदात् सम्मदा-
च्छ्रीमद्भूपसुताय तायनकृते विश्वस्य च स्वस्य च ॥९४॥

यस्याः सद्ध्यानतः स्यात् परचरितगतिर्व्योमसञ्चारशक्ति-
र्नानारूपक्रियापीक्षणयुगविषयातीतताऽमोघताऽस्त्रे ।
दिव्यान्याग्नेयमुख्यान्यनुपममहिमान्यायुधान्याजिभूमौ,
प्रायः पुण्यानुसारादिति भवति शुभं सत्वभाजां समस्तम् ॥९५॥

एषा विद्यासहस्रत्रितयपरिकरा यत् किलैकाऽपि शश्वद्-
दीप्रप्राज्यप्रभावा जगति भगवतो सर्वविद्यासु शक्ता ।
तत् सिद्धायां किमस्यां न भवति कृतिनः सिद्धमत्यद्भुतं यत्,
किं वा चिन्तामणौ स्यान्न वश मवनौ पाणिपद्मावगाढे ॥९६॥

लाभे तस्याः कुमारः श्रिय इव बलिजिन्मोदधामाधिकश्रीः,
प्राज्योद्गाढप्रतापः शरद इव सदाऽप्यंशुमाली सुवृत्तः।
दुर्धर्षः पञ्चवक्त्रः कनकगिरिगुहागर्भभित्तेरिवाऽभू-
न्नानासम्पन्नको वा भवति हि निचितः श्रेष्ठविद्याप्रतानैः ॥९७॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते प्रज्ञप्तिलाभो
नामाष्टादशः सर्गः ॥छ. ॥१८॥

एकोनविंशतितमः सर्गः

स्थास्नोस्तत्र कुमारस्य कान्ताद्वितयसंयुजः।
शशाङ्कस्येव सौम्यस्य रेवतीरोहिणीस्वजः ॥१॥

एकस्यापि सधामत्वाद् भूषणस्य नगश्रियः।
उदयाचलचूलाया इवाभ्युदितभास्वतः ॥२॥

वधूविप्रेक्षिताऽऽलापेष्वनङ्गेन क्षणेक्षिणा।
सौभाग्यविजितेनेव सेव्यमानस्य सादरम् ॥३॥

हरिचन्द्र-चन्द्रसेनाभिधौ तत्रैयतुः क्षणात्।
रंहसोच्छ्वासपूर्णास्यौ विद्याधरकुमारकौ ॥४॥

द्योतयन्तौ दिशः कान्तिमण्डलेन सुराविव।
वर्मितत्वेन सत्पक्षावृताङ्गौ तार्क्ष्यकाविव ॥५॥

दीप्रशस्त्रावलीदीप्तौ सज्ज्वालौ ज्वलनाविव।
शिरस्त्राणमणित्विड्भिः कल्पितेन्द्रायुधौ दिवि ॥६॥

मेरुपादाविवाब्दाङ्कौ गौरौ श्यामलकङ्कटौ।
विकासिलोचनौ फुल्लपद्मौ पद्माकराविव ॥७॥

सप्तभिः कुलकम्

आलोकिष्ट कुमारस्तौ विस्मयस्तिमितेक्षणः ।
तादृग्गुणाश्रयत्वेन भीमशान्तौ नृपाविव ॥८॥

तत्पादनलिनद्वन्द्वं प्रणम्यार्थविशारदौ ।
विनेयाविव तौ मूर्ध्नि प्राहतुः प्रकृताञ्जली ॥९॥

देवनारदतोऽवेत्य त्वत्तः सूनोः परिव्ययम् ।
अर्जुनादिव कर्णस्याऽशनिवेगः क्रुधं ययौ ॥१०॥

स हि विद्याधराधीशः स्वामी रत्नपुरस्य च ।
तृणायितान्यभूपालः सैन्यविद्यावपुर्बलैः ॥११॥

नानासमरसम्पन्नविजयो बलिराजवत् ।
मनस्विनामसौ मौलिर्मृगाणामिव केसरी ॥१२॥

न तेन स्पर्द्धते कोऽपि खेचरेष्वपि भूपतिः ।
धनी क्रीडति को [1]व्यालेनाऽबालः कालसाक्षिणा ॥१३॥

तत्क्षणव्यञ्जितानर्थश्चापकारिण्यसंशयम् ।
दुराचारं नरं हन्तुं कृतान्तः किं विलम्बते ॥१४॥

करदीकृतनिश्शेषभूपालः स्वप्रतापतः ।
न हि सम्बद्ध एवार्कः सर्वमस्यति शार्वरम् ॥१५॥

निसर्गासिहनः सोऽयमाशीविष इवाहतः ।
दण्डेनेव सुताऽश्राव्यवृत्तान्तेन गरीयसा ॥१६॥

अन्तर्दुःखौघसङ्घट्टात् स स्तम्भित इवाऽभवत् ।
क्षण रोषदवालीढवपुस्तरुतया ध्रुवम् ॥१७॥

रेखात्रयं स भ्रुकुटौ कालदण्डत्रयाकृति ।
समं जगत्त्रयं हन्तुमिव दध्रे नृपस्ततः ॥१८॥

विदधद्भ्यामिवाशेषां सभां रक्तच्छटास्तृताम् ।
पाटलद्युतिचक्षुर्भ्यामुद्वमामेव स क्रुधम् ॥१९॥

विष्टपप्रत्तवित्रासैर्मुहुर्मूर्धविधूननैः ।
दशाऽपि दिक्पतीन् नूनं तर्जयामास कोपनः ॥२०॥

---

१. सर्पेण ।

स्वेदबिन्दुस्रुतिव्याजादमर्षोऽन्तरमानिव ।
विकारो हि विषस्येव तस्याङ्गं बहिरानशे ॥२१॥

सर्वाङ्गेष्वतिरौद्रत्वं स महीयः समुद्वहन् ।
युगान्तोत्कटकोपस्य कृतान्तस्य दधौ श्रियम् ॥२२॥

तादृशे सति भूपाले तदाश्रितनृपा अपि ।
प्रापुः पिङ्गाम्बुजान्तस्थास्तादृक्त्वं भ्रमरा इव ॥२३॥

स संरम्भमभाषिष्ट विष्टपस्य भयानकः ।
और्ववह्निवदुर्वीशो रक्तनेत्रप्रभाशिखः ॥२४॥

येनाऽघाति कुमारो मे हतं तेनाऽखिलं कुलम् ।
अग्रसूचीविनाशे हि ताले किमवशिष्यते ॥२५॥

इतः परिभवान्नान्या पराभूतिर्गरीयसी ।
छिदाति बाधिका देहे का हि मूर्धच्छिदोऽपरा ॥२६॥

अपि सह्येत चोत्कृष्टाऽशनिवृष्टिः सुकष्टदा ।
मानिना न तु पुत्रस्याश्रव्यवार्त्ता श्रुतिव्यथा ॥२७॥

वैरनिर्यातनान्नान्यो ममार्थः प्राणधारणे ।
सूर्योदयस्य किं साध्यं तमस्काण्डक्षतिं विना ॥२८॥

वरं कक्षो वरं लोष्ठो वरं तूलं वरं रजः ।
न तु वैरप्रतीकाराभावनिष्फलपौरुषः ॥२९॥

येनारातिवने रोषदावः सद्यो न पात्यते ।
श्वासमात्रावशेषस्य किं तस्य जनुषः फलम् ॥३०॥

शेषशीर्षमणिप्रख्यैः किं धनैः किं पराक्रमैः ।
पराभवपराक्रान्तैर्जीव्यते यत्र मानवैः ॥३१॥

अरातिशोणितजलैरेव रोषानलो मम ।
शम्यते न तु तत्प्राणदर्शनेन्धनराशिभिः ॥३२॥

तत्सर्वथा स मे सूनुः सामन्तोऽसौ स च प्रियः ।
य एवारातिविटपिच्छेदनैकमनाः सदा ॥३३॥

नृपस्यैवं वचः श्रुत्वा ससंरम्भं सपौरुषम् ।
सभासदः क्रुधा तत्राऽजायन्त ज्वलनोपमाः ॥३४॥

प्रलयानिलधूमालिसोदरां भीषणत्वतः ।
परुषामुद्गिरन्ति स्म ते गिरं गुरुमत्सरात् ॥३५॥

स्वेदभ्रुकुटिकम्पाद्या विकृतीर्मद्यपा इव ।
असंख्यास्ते दधुस्ताश्च या वाचामप्यगोचराः ॥३६॥

अन्यान्भीमांस्तथा भेजुर्विकारांस्ते परःशतान् ।
यथाऽलक्ष्यन्त विश्वस्याप्याऽसुघातोद्यता इव ॥३७॥

निसर्गामर्षिणः शूराः स्वामिनोऽन्ते जिताः कथम् ।
न दीप्येरन् मरौ वायुसखा इव दवानलाः ॥३८॥

अस्त्रेष्वपि रणोत्साहात्ते चक्षूंषि निचिक्षिपुः ।
कार्यसिद्धिनिदानेषु सद्भृत्येष्विव भूभुजः ॥३९॥

आदिश्यन्त भटैर्भृत्यास्तनुत्राहृतिहेतवे ।
निर्वर्माणो हि न जयश्रीयुजः कर्णवन्मृधे ॥४०॥

एतया तव गृह्णीत हेतीरित्यादि भारती ।
भटानामाकुला तारा व्याप शस्त्रप्रभेव खम् ॥४१॥

सदस्यशनिवेगस्याऽशनिपात इवाऽऽकुले ।
जगतीव क्षयाक्रान्ते पुरे च तुमुलध्वनौ ॥४२॥

तदन्तिकान्निरातङ्कश्चतुरो वाग्विशारदः ।
अस्मज्जनकयोः पार्श्वमायाच्चित्रगतिश्चरः ॥४३॥

युग्मम्

चण्डवेगो भानुवेगश्चेति खेचरनायकौ ।
आवयोः पितरौ नीतिविदौ गुरुकवी इव ॥४४॥

सूर्यवत् सप्रतापौ च सिंहवद् दुष्प्रधर्षणौ ।
चण्डवत् प्राज्यराजन्यनक्षत्रपरिवारितौ ॥४५॥

कृकवाकू इवात्यन्तं वत्सलौ बान्धवव्रजे ।
जगदानन्दकृत्कोशसमृद्धया धनदाविव ॥४६॥

परस्परेण सस्नेहौ दीपौ सायन्तनाविव ।
रामलक्ष्मणयोर्यद्वत् साहचर्ययुजोस्तयोः ॥४७॥

विभूषितास्थानभुवोः समागत्य वराग्रणीः ।
व्यासेनाऽशनिवेगस्य स वृत्तान्तं समभ्यधात् ॥४८॥

पञ्चभिः कुलकम्

आकस्मिकमिवोत्पातं तमाकर्ण्य सकर्णकौ ।
तावचिन्तयतां चित्ते तत्तत्त्वं योगिनाविव ॥४९॥

सनत्कुमारः सत्वाढ्यस्तामसं कर्म तद्वचः[1] ।
अविराद्धः शशिग्रासं कथं राहुरिवाऽऽदधे ॥५०॥

कृपालुः स निसर्गेण प्रहरेन्नैवमेव हि ।
प्रकृतिस्थं पयो जातु न दाहाय प्रगल्भते ॥५१॥

किन्तु तेजोनिधित्वेन स न क्षत्ता पराभवम् ।
पञ्चानन इव क्षुण्णाऽसंख्यवैरिमतङ्गजः ॥५२॥

तदागोऽपि ध्रुवं किञ्चिद् विद्युद्वेगे भविष्यति ।
स हि ससिद्धिसंसिद्धचापलः कपिपोतवत् ॥५३॥

विविच्याऽऽविष्कृते चैवमाकूतेऽन्तःसभं निजे ।
नृपाभ्यामवदच्चित्रगतिर्भूयोऽपि तत्त्ववित् ॥५४॥

भो! भो!! देवौ समाकृष्य हठात्तेन स बाहुना ।
खं प्रत्युच्चिक्षिपे चञ्च्वा श्येनेनेव द्विकार्भकः ॥५५॥

ततः प्रतिघचण्डेन चण्डवेगेन वेगतः ।
चराभिमुखमावृत्य[2] बभाषे भीषणात्मना ॥५६॥

नात्मानं न परं दर्पाध्माता जानन्ति दुर्धियः ।
[3]क्रव्यप्रपुष्टाः क्रोष्टार इव शार्दूलतर्जकाः ॥५७॥

क्व सर्वसारनिर्वृत्तः कुमारः क्व च खेचरः ।
विद्यामात्रधनः सोऽयं खद्योतः स्पर्द्धिता रवेः ॥५८॥

१. प्रतौ तद्वचम् । २. उपविश्य । ३. रोष ।

परप्रयुक्तो मानाढ्यैर्हुङ्कारोऽपि सुदुस्सहः ।
लघीयस्त्वतरोर्मूलं कि पुनर्बाहुकर्षणम् ॥५९॥

तत्पुष्पं तद्वधोऽवज्ञाशाखाया इति भाव्यताम् ।
फलं तु तत्कुलोच्छेदं स क्षिप्र दर्शयिष्यति ॥६०॥

इत्थमूर्जस्वि तद्वाक्यं भानुवेगोऽपि बृंहयन् ।
सुधाभीशुरिवाम्भोधिं प्रोवाच वदतां वरः ॥६१॥

अहो ! बालिशता शत्रोरपकृत्याऽपि यत्पुरा ।
सन्नह्यतेऽपि तत्रैव तेजस्विनि मुमूर्षुणा ॥६२॥

तत्रोत्त्रासितयक्षेऽपि पुरा चानपराधिनि ।
रोषः प्लोषः स्वगोत्रस्य नूनमारभ्यतेऽरिणा ॥६३॥

दर्पान्धश्चेदसौ भूप एकाकीत्यवमस्त तम् ।
तत् किं सबलविद्योऽहं तत्पक्षस्थोऽपि विस्मृतः ॥६४॥

मयि जीवति जामातुः कर्षेत् कः केशमप्यहो !।
अपि पत्रं पयोजस्य सत्यर्के कोऽनुमीलयेत् ॥६५॥

एकाक्यपि स सह्येत केनाऽऽजौ रोषभीषणः ।
कृशानुरकृशज्वालापरीत इव पर्वते ॥६६॥

अस्माभिस्तु स सम्भूय प्रलयानिलविभ्रमैः ।
जगतोऽपि क्षयं कुर्यात् का कथा तस्य पोत्रिणः ॥६७॥

ध्रुवं न भविताऽराति-र्यद्यसौ हि युयुत्सते ।
न हि दीपशिखालोले पतङ्गे प्राणितस्थितिः ॥६८॥

एवं वदत एवास्याऽशनिवेगप्रणोदितः ।
आजगाम स्पशस्तत्र मुखरो दुर्मुखाभिधः ॥६९॥

बभाषेऽन्तःसभं सोऽथ शासनं निजभूपतेः ।
शासनं यद् भवेत् सद्यस्तदतिक्रमकारिणाम् ॥७०॥

विश्वस्यापि प्रभुर्मित्रं चन्द्रवन्नन्दकत्वतः ।
न हि कस्यचिदेवाऽऽपस्तर्षोत्सेकविकर्षिकाः ॥७१॥

युष्माकं तु विशेषेणाऽऽजन्मबद्धानुरागतः ।
रविः पङ्कजखण्डानामिव शुद्धगुणस्पृशाम् ॥७२॥
सर्पेणेव रुषात्यर्थं व्यर्थमन्धं भविष्णुना ।
महाभोगेन केनापि भूमण्डलविहारिणा ॥७३॥
विना दोषं महाविघ्नः कुलकाननचम्पकः ।
प्राणजातादपि प्रेयान् व्यापाद्यत सुतो मम ॥७४॥

युग्मम्

तदवश्यं विधास्यामि कीनाशसदनातिथिम् ।
सुरसिद्धशताध्यक्षं तं तनूजनिसूदनम् ॥७५॥
तद् गृह्याः केऽपि ये तेऽपि लब्धारस्तद्गतिं हठात् ।
न हि स्तेनयुजस्तस्मान्न्यूनमियूर्ति निग्रहम् ॥७६॥
मित्राण्यमित्रतां प्राप्य महाशत्रुत्वमाप्नुयुः ।
यथा म्लेच्छत्वमम्लेच्छाः स्युर्महाम्लेच्छतापदम् ॥७७॥
तद्वध्या यूयमेवादौ यदि तत्पक्षगामुकाः ।
द्रोणाद्याः कुरुगृह्या हि पाण्डवानां यथा ध्रुवम् ॥७८॥
अपि दीनः समुच्येत दन्तैःस्वीयांगुलिग्रहे ।
हरिणा इव कूटस्था यूयं तु न कथञ्चन ॥७९॥
अतिकर्कशमर्कादप्येवमाकर्ण्य तद्वचः ।
सभ्या आसन् रुषा ताम्राः कुसुमैरिव किंशुकाः ॥८०॥
प्रागेवासन् क्रुधा दीप्ता वह्निवत्ते सतेजसः ।
रूक्षतद्वचनाहूत्या सुतरां प्रदिदीपिरे ॥८१॥
विश्वक्षयाय प्रलयक्षुभिताम्भोधिविभ्रमम् ।
सदस्तदाददे नानाविकारं भीषणारवम् ॥८२॥

ज्वलनतुलिततीव्रश्वाससंगुष्कपुष्प -
स्रज उपरत लील्या निष्पतन्तो[१]द्विरेफाः ।
तदधिकतरतापान्नूनमापुः शितित्वं ,
सदसि क्रिरणवेगस्याशु भूपालमौलेः ॥८३॥

१. निर्गच्छन्त. ।

कनककलशचारुस्कन्धनिर्घातघोषैः ,
सपदि भृतमहीभृद्गह्वरोऽभून्मतङ्गः ।
हृदयललदमन्दक्रोधरक्षोऽट्टहास -
स्फुटविकटनिनादव्रातवत्त्वेन मन्ये ॥८४॥

कुलिशकठिनहस्तेनाग्रतः क्षोणिपृष्ठं ,
रणरभसविलोलोऽताडयद् यद् युधाजित् ।
तदुरगपतिमुच्चैर्बोधयामास निद्रो -
पहतमिव सहायं भूरिशः सम्भ्रमेण ॥८५॥

शिरसि कृतविधूतिः क्रोधतो वायुवेगः ,
कनकमुकुटकान्त्या दीपयन् शेषभूपान् ।
बहिरपि बहुतेजोयोगमन्तर्वदेषां ,
प्रकटयति भुवीव स्मापराभूतिमूलम् ॥८६॥

अतिरुषिततयालं वक्तुमीशो न किञ्चित् ,
मुखमुरुरसनाढ्यं व्याददानोऽभिधित्सुः ।
दलयितुमिव सद्विद्विश्वमुद्गीर्ण[1]-जिह्वा -
छलगुरुयमदण्डः क्रोधतोऽभात् सुभानुः ॥८७॥

स्वपरगुणविभागालेख्य[2]-सुव्यक्तिभूमिं ,
जननफलमतुल्योत्साहभाजामिहैकम् ।
समरमुपदधानं[3] मित्रवच्छत्रुवर्ग ,
समुपनतरणश्रीश्चित्रवेगः शशंस ॥८८॥

क्व पितरशनिवेगो मत्कृपाणाग्रजीव-
स्त्वरितमुपनयेह त्वन्मुदे येन चेष्टे ।
इति निजशिशुवाणीमूर्जितां तत्र शृण्वन् ,
सुखमधिकमवाप क्रोधतः कामपालः ॥८९॥

१. उत्क्षिप्त । २. चित्र । ३. सनिधापयन्तम् ।

निविडकरनिघातैर्ध्वानयन् दूरमाशाः,
प्रतिरवभृतसंसद्गर्भभागोऽतिवेगः ।
अरुणनयनकान्त्या शोणितां हारयष्टिं,
पुनरनयदवज्ञाहासतः श्वेतिमानम् ॥९०॥

पवनगतिरदारीद् दर्पतः पादघातात्,
कठिनमवनिपीठं येन भानोर्मयूखाः ।
फणिपतिफणरत्नोस्रैः समेत्याऽहिलोकं,
द्विगुणतरमहोभिर्द्योतयामासुरुग्राः ॥९१॥

शमयितुमिव तेजः शात्रवं सर्वतोऽपि,
श्रमजलततबिन्दुव्याजतोऽम्भःप्रवाहान् ।
असृजदमिततेजा दन्तदष्टौष्ठकोष्ठः[1],
प्रकृतविकृतचक्षुःप्रेक्षणप्रेतलीलः ॥९२॥

शिशुरपि हि न तत्रासीदरुष्टोऽविकारी,
प्रसरति रिपुदूताद् दुर्वचः कालकूटे ।
दधति दहनकक्षामुष्णरश्मौ शुचौ स्यात्,
किमु किमपि[2] सतापं सैकतं शुष्कनद्याः ॥९३॥

इति सदसि समस्ते कल्पपर्यन्तगर्जत्-
क्षुभितजलधिलीलां [3]लासयत्युग्ररोषे ।
सपदि स रिपुदूतोऽपूतवाग्भीतभीतः,
शश इव हरिदर्या निर्ययौ देवतोऽस्मात्[4] ॥९४॥

निर्यान्तमेनं जगदुः क्षितीशा, न नामतः केवलमर्थतोऽपि ।
त्वं दुर्मुखो यत्तु न हन्यसे तद्, दूतः किलाऽवध्य इति प्रसिद्धेः ॥९५॥

तादृक् प्रभोस्त्वादृश एव दूतो, यक्षानुरूपो हि बलिः सदा स्यात् ।
कपालिनो भृङ्गिरिटिप्रवेकात्[5], परिच्छदाद्येन न शोभतेऽन्यः ॥९६॥

---

१. मध्य । २. किंचिदेव । ३. प्रकाशयति । ४ सदस । ५ प्रधान ।

ततः प्रतीहारवरेण दत्तं, गलेऽर्द्धचन्द्राभरणं दधाने।
दूताधमे शत्रुमभिप्रयाते, कलेस्तरोर्मूर्त्तिमतीवबीजे ॥९७॥

अन्तःसरोषावपि तीव्रमाशु, प्रहर्तुकामौ निभृतौ तदानीम्।
मेषाविवावाञ्जनकाविहैवं[1], सुमेधसौ प्राहिणुतां हि सद्यः ॥९८॥

अत्याहितं[2] दृप्तविपक्षतः क्षणाद्,
विशङ्कमानौ रथमप्यमुं निजम्।
समं शिरस्त्राणयुतेन वर्मणा,
सस्नेहमात्मानमिवात्तविग्रहम् ॥९९॥

त्रिभिर्विशेषकम्

ऊचे च ताभ्यामिह यावदावामायाव ऊर्जस्विबलेन युक्तौ।
तावद् भवद्भ्यामवधानवद्भ्यां, स्थेयं कुमारे निजजीवतुल्ये ॥१००॥

ततस्तदादेशवशेन युष्मत्, पार्श्वं सरो भूषितुमागमावः।
चक्राविवातः परमादिश त्वं, कालोचितं कृत्यमकृत्यवह्ने ॥१०१॥

इति तदुदितं श्रुत्वा दूरं प्रसारितलोचनः,
किमपि मनसि ध्यात्वा तस्थौ तथैव नृपाङ्गजः।
न कलुषनदीपातैरब्धिर्विकारमियर्त्ति यद्,
विलसितमहासत्त्वः शश्वद् गभीरतमाग्रणीः ॥१०२॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते सभाक्षोभवर्णनो
नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥छ. ॥१९॥

---

१. युष्मत्पार्श्वे। २. महाभीतिम्।

विंशतितमः सर्गः

अथ दूते पुरं प्राप्ते शात्रवं धूमलानने ।
दुर्मुखे सुमुखत्वं यद् बहिरप्यतिदुर्लभम् ॥१॥
भानुवेगादिभूपानामैकमत्यमतिक्रुधम् ।
तस्मादशनिवेगोऽपि विदित्वाऽभूदमर्षभूः ॥२॥
युग्मम्

आदिदेश च सन्नाहभेरीं ताडयितुं लघु ।
तन्नियुक्तं विलम्बं तेनारियाने युयुत्सवः ॥३॥
ताड्यमानाऽथ सा भेरी पपाट प्रथमाहतौ ।
आदेष्टुरपि चात्मवत् सूचयन्तीव पाटनम् ॥४॥
सैन्येन स रुषा शत्रौ तथापि समनह्यत ।
क्व वाऽमर्षवतां वृत्तौ विमर्शः साध्यसाधकः ॥५॥
ध्वज आनीयमाने च क्षुतं तोरणसन्निधौ ।
केनापि प्रतिषेधाय जयस्येव तदीशितुः ॥६॥
स्वपादेष्वेव वीराणां वसनान्तैर्विचस्खले ।
युधे प्रतिष्ठमानानां सुकृतैरिव निर्मलैः ॥७॥
सुभटानां ललाटेषु स्थासकाश्चन्दनाः क्षणात् ।
विरच्यमाना अशुषन् प्राणा इव तदात्मनाम् ॥८॥
आरसन्ति स्म विरसं सादरं वादितान्यपि ।
रणतूर्याणि सविधे पश्यन्तीव प्रभोः क्षयम् ॥९॥
तेजो मदनवन्नूनं विलाय स्वेदरूपतः ।
सन्नद्धानां सरोषाणां वीराणां निर्ययौ बहिः ॥१०॥
आवव्रे रजसाऽकस्मान्नभो यत् तद् ध्रुवं रवेः ।
बहिरप्यवरोद्धुं सत्तेजसः सङ्गमं द्विषाम् ॥११॥
भटीनामिव चेतांसि दहुर्दाहं दिशोऽनिशम् ।
डमरोड्डमरारम्भे[1] क्व वा शान्तिर्विजृम्भते ॥१२॥

---
१. अशिवोद्भूट ।

चकम्पे काश्यपी त्रुटचन् महाभूधरबन्धनम् ।
निपतिष्यन् महायोधभूरिभारभयादिव ॥१३॥

सा सेना प्रस्थिताप्यस्थात् क्षणमग्रे निवारिता ।
सर्पता कृष्णसर्पेण कालदण्डानुकारिणा ॥१४॥

वर्मितोऽशनिवेगोऽपि सर्वास्त्रद्युतिदीपितः ।
सविद्युच्छटकल्पान्ताम्भोदभीमत्वमाददे ॥१५॥

कङ्कटेषु मणिप्रांशुज्योत्स्नांकुरशतैःशरैः ।
विधेः प्रागेव सङ्ग्रामादासन् योधाश्चिता इव ॥१६॥

दिवापि दीप्रहेतीनां[1] भासो निर्भर्त्सयन् पराः ।
उल्काप्रकाशो व्यकसत्[2] तदपुण्यचयाकृतिः ॥१७॥

सैन्ये चलति तद्वीर्यमाकृष्येवान्तरं हठात् ।
ववर्ष वारिदश्चेलत्कोपं रुधिरधारया ॥१८॥

पातितेऽप्यतिपत्रस्य दण्डेऽकाण्डे महीपतेः ।
विरराम‌ाऽनिलो नैव तद् युद्धोत्साहवद्दृढः ॥१९॥

वृद्धैर्निरुध्यमानोऽपि सव्यरंसीन्न यानतः ।
स्वाग्रहात् कृष्णमृगवदलङ्घ्या भवितव्यता ॥२०॥

केचिद् विमानमारूढा वैक्रियं केऽपि वाहनम् ।
संख्या विद्वेषिणश्चेलुः खेचरास्त्रिदशा इव ॥२१॥

तद्बले चलति व्योम्नि विष्वग् निर्विवरं रसा[3] ।
अभ्राभावेऽपि साभ्रेव भेजे सच्छायतां क्षणम् ॥२२॥

अभ्यमित्रं जवाद् यान्ती सेना मूर्च्छन्मरुद्ध्वनिः ।
नागे विनिपतत्तार्क्ष्यकक्षां सा स्म विगाहते ॥२३॥

तूर्यनादोऽपि योद्धानां सिंहनादैः व्यधीयत ।
करैरिव सहस्रांशोः प्रकाशो जातवेदसः ॥२४॥

---

१. प्रहरण । २. विकशितः । ३. भूः ।

दूरादथ कुमारस्य चक्षुषो विषयं ययौ ।
मृगादनस्येव मृगी वाहिनी सा चलाचला ॥२५॥

हरिवद् हरिवद् वीक्ष्य तामहृष्यन् नृपाङ्गजः ।
मण्डलीमिव नागानां[1] चमूं वा चेदिभूपतेः ॥२६॥

तन्नेत्रपतितं सैन्यं नान्तकायास्य सर्वथा ।
बभूव रेणुकणवत् सात्विकैकशिरोमणेः ॥२७॥

सुदृढेन समस्ताङ्गव्यापिना गहनात्मना[2] ।
संवर्मितोऽपि संसिद्धिभुवा[3] विक्रमवर्मणा ॥२८॥

तनुत्रन्धत्स्व युद्धाय समाचार इति क्षणम् ।
अनातपेऽप्यातपत्रं महाराज इवोद्भटम् ॥२९॥

इत्युक्तश्चन्द्र सेनेन कुमारोऽपि तदग्रहीत् ।
तस्योपरोधात् सन्तो हि सद्वयस्यानुवर्तिनः ॥३०॥

विशेषकम्

निसर्गावनतां मुष्टिग्राह्यमध्यां गुणोज्वलाम् ।
तूणतां कान्तकान्तावत् संयुयोज करेण सः ॥३१॥

नानास्त्ररत्ननिचितः स्यन्दनो निधिचातुरीम् ।
चोरयन्नर्थसम्भारपदत्वेनाथ सज्जितः ॥३२॥

विश्वसिद्धिनिदानेन सान्निध्यादपि देहिनाम् ।
स्त्रीरत्नेन स्वयं चक्रे तस्य लाजादिमङ्गलम् ॥३३॥

हरिश्चन्द्रादिवर्गोऽपि द्राक् ततः समवर्मयत् ।
नैवोदयति चण्डांशावुदास्ते तत्करोत्करः ॥३४॥

प्राज्यमानाप्यमाना या निर्भयाऽपि भयप्रदा ।
सहसा साऽपतत् तत्र चण्डवेगादिवाहिनी ॥३५॥

---

१. हस्ति । २. अन्यानुपलव्वमध्येन । ३. प्रकृतिनिर्मितेन ।

सितलोलपताकाभिर्दधती दिवि शारदीम् ।
मानसाद्विवलत्खेलद्राजहंसावलेः श्रियम् ॥३६॥

पटहानां प्रणादेन प्रतिनादवता मुहुः ।
रिपुगुप्तिपदान्यद्रेः पाटयन्तीव कन्दराः ॥३७॥

वल्गुवल्गद्भटप्रौढध्वनिभिर्द्विषतां श्रुतीः ।
श्रुतीरिवार्हतां वाणी दलन्ती स्यात्पदक्रमैः[1] ॥३८॥

शस्त्रप्रतिफलद्भानुप्रौढतापैस्तदैव हि ।
कल्पान्तमरिवर्गाय दिशतीव पुरस्सरम् ॥३९॥

पञ्चभिः कुलकम्

नाऽतनुत्र तनुर्वीरो न तनुत्रं शरासहम् ।
न शरः फलनिर्मुक्तस्तस्यां कश्चिददृश्यत ॥४०॥

मनसेव शरीरेणोत्साहरंहःप्रकर्षिणा ।
उपेत्य सा समस्तापि प्रणनाम नृपाङ्गजम् ॥४१॥

श्रेयसः पश्य माहात्म्यं यदमुं समनंसिषुः ।
विद्याधरनरेन्द्रा अप्युत्प्रतापा इना इव ॥४२॥

अद्भुतः प्रोल्लसन्नेव विक्रमो वा [2]हरेरिव ।
असंस्तुतेष्वपि साम्यं समर्पयति शाश्वतम् ॥४३॥

प्रणयादरतः सर्वे विभुत्वेनाभ्युपेत्य तम् ।
पुरश्चक्रुः क्रमाम्भोधिं त्रिविक्रममिवामराः ॥४४॥

सोऽपि सम्भावयामास दृशा वाचा च तांस्तथा ।
यथाऽवामंसत सुरांस्ते वृषानुप्लवानपि ॥४५॥

विशेषानतमूर्द्धानश्चण्डवेगादयो नृपाः ।
तस्मै भृत्या इवात्मानं सादरं ते न्यवेदयन् ॥४६॥

ततोऽपि दर्शिताऽऽसन्नशत्रवस्तमतत्वरन् ।
प्रयाणाय न कालज्ञाः स्वामिकार्ये उदासते ॥४७॥

---

१. स्याच्छब्दपरिपाटीविशेषैः । २. सिंह ।

प्रतस्थेऽथ कुमारोऽपि कुमारपरिभावुकः ।
निःसपत्नमहाशक्तित्रयाधारतया तदा ॥४८॥

युधे घण्टामहानादैस्त्वरयन्तमिवोच्चकैः ।
विद्याधरधराधीशान् सत्वभाजोऽम्बुधीनिव ॥४९॥

पताकयापि पवनव्याधूताञ्चलहस्तया ।
आह्वयन्तमिवामित्रानपवित्रान् द्विकानिव ॥५०॥

चलन्तं जलदाभावेऽप्याहरन्तं चतुर्दिशम् ।
शम्पासम्पातजां लक्ष्मीं कान्तकाञ्चनकान्तिभिः ॥५१॥

शताङ्गं यमजिह्वाग्रभीमशस्त्रावपूरितम् ।
स विमानरमाचौरमारुरोह महारथः ॥५२॥

चक्कलक

सितवृत्तोऽपि पूर्णेन्दुरकलङ्कस्य सम्पदम् ।
यस्यानासादयन्नूनं भङ्क्त्वात्मानं मुहुर्मुहुः ॥५३॥

प्रत्यहं निर्मिमीते तत् तस्योपरि वरं दधे ।
आतपत्रं महःपात्रमाहारजतदण्डकम् ॥५४॥

युग्मम्

चलच्चामरयुग्मान्तर्वर्ती सोऽथ विभुर्बभौ ।
पार्श्वतः प्रपतद्गौरनिर्झरोऽद्रिरिवाऽमरः ॥५५॥

तत्रोच्चैर्बन्दिनं पेठुर्यन्निषादस्वरैर्ध्रुवम् ।
चक्रुस्तद् विजयाशंसि गजगर्जितमङ्गलम् ॥५६॥

तं प्रत्यमोघास्तद्भार्ये प्रयुज्यानेकधाशिषः ।
विद्यादेव्याविवाभातामलंकृतविमानिके ॥५७॥

खचरेन्द्राऽनुगः सोऽथ व्यचालीत् सबलो द्विधा ।
पद्मनाभ इवाभ्यर्णोल्लासिपद्मसुनन्दकः ॥५८॥

बलं घात्यमभित्राणां त्वरितं प्रापयन्निव ।
आनुलोम्येन मधुरस्तत्क्षणं प्रवनो ववौ ॥५९॥

तत्कीर्त्तेरतिवृद्धाया आरुरुक्षोर्दिवं दृढम् ।
आलम्बनमिव प्रांशुर्व्यभाव्यत पुरो ध्वजः ॥६०॥

दक्षिणाः पथि सञ्चेरुः शकुनादक्षिणामिव ।
तस्मै जयश्रियं दातुमायोधनमहाध्वरे ॥६१॥

दक्षिणेष्वपि शेषेसु तेषु तारध्वनेर्विधौ ।
शंकुकर्णः सकर्णत्वादिवाऽभूद् दक्षिणेतरः ॥६२॥

भेरीणां तारभाङ्कारप्रतिनादैः शिलोच्चयाः ।
अगुञ्जन्निव वामेन मृगाधिपतयो यथा ॥६३॥

दृग्विपर्यासतः शश्वत् सञ्चितं वामतामलम् ।
ममार्ज कौशिकः कूजन् वामेन मधुरं मुहुः ॥६४॥

बलौघैश्चलतस्तस्य व्यानशे व्योममण्डलम् ।
दीप्रास्त्रद्योतविद्युद्भिर्वर्षास्विव बलाहकैः ॥६५॥

कोलाहलेन सैन्यानां विष्वग्दिक्षु विसारिणा ।
चक्रुश्चिराय ता एवाऽन्योन्यं नूनं कथाप्रथाम् ॥६६॥

रजसः सर्वथाभावान्निर्मलत्वं दधुर्दिशाम् ।
सुखानि हृदयानीव तदा परमयोगिनाम् ॥६७॥

यावदेवं सुशकुनश्चचालाऽचलसौधतः ।
निर्विकारो गभीरत्वादब्धिवद्भूपनन्दनः ॥६८॥

तावदल्पे पथि प्राप द्विषतां वाहनी रयात् ।
आयान्तीं कलभश्रेणिमिवाग्रे शरभाधिपः ॥६९॥

युग्मम्

मिथः संदर्शनक्रोधधारातः कटकावुभौ ।
वेगेन समगंसातां युद्धायेभाविवोन्मदौ ॥७०॥

उत्साहौत्सुक्ययोर्बाढमुत्सेकार्त्तौ प्रगर्जनम् ।
चक्रतुः प्रलयारम्भे रौद्रौ वारिधराविव ॥७१॥

गर्वोत्साहमहानादैरपूर्वैस्तत्समागमः ।
वाचामगोचरो ह्यासीत् परं ब्रह्मेव सर्वथा ॥७२॥

आययुः कौतुकात् तत्र सुरसिद्धतदङ्गनाः ।
तूर्यधीरनिनादौघैर्बोधिता इव सत्वरम् ॥७३॥

घातुका मलिनास्तीक्ष्णाः कुनृपा इव सात्विकैः ।
कृपाणास्तत्र निःशेषाः परिवारात् पृथक्कृताः ॥७४॥

धनुर्लता गुणाढ्यत्वात् कुलयोषा इव प्रियैः ।
विशुद्धैः सफलारम्भैर्युयुजुः सरलैः शरैः ॥७५॥

महामण्डलशालीनि गुणकोटियुतानि च ।
नमनैकसुहेवाकी नीतिबाणासनान्यहो ॥७६॥

निःसपत्नबलोपेतैराकृष्यन्ते स्म धन्विभिः ।
राजकानीव सन्मित्रसम्पद्भिर्विजिगीषुभिः ॥७७॥

युग्मम्

बाणैराव्रियत व्योममण्डलं [1]कुण्डलिव्रजैः ।
पातालमिव सूत्कारत्रासिताशेषजन्तुभिः ॥७८॥

कानकानि[2] तनुत्राणि भेजुः खड्गैः प्रपातुकैः ।
विद्युद्दीप्रस्य नभसः केतूदयवतः श्रियम् ॥७९॥

केचिदाहतमूर्द्धानो रक्ताक्ताखिलविग्रहाः ।
खड्गच्छिन्नोरुमूलाश्च द्विधाऽप्यरुणतां दधुः ॥८०॥

आनिस्वादा नरेन्द्राच्च मर्मभेदविधायिनः ।
तत्रेक्ष्यन्ते स्म बाणौघा विलसन्तः खला इव ॥८१॥

लालिता अपि शाक्तीकैः परैः सङ्गत्य निर्दयम् ।
चक्रुस्तदधरच्छेदं कुलटा इव शक्तयः ॥८२॥

शिरोमात्रच्छिदस्तत्र ह्यर्धचन्द्रैर्विजिग्यिरे ।
खड्गास्तदधिकानुच्चैश्छिन्दद्भिश्छत्रदण्डकान् ॥८३॥

१. सर्पं । २. सौवर्णानि ।

शिरांसि शस्त्रलूनानि पेतुस्तत्र सहस्रशः ।
कपित्थात्तत्फलानीव स्कन्धे मत्तेभताडितात् ॥८४॥
अस्रस्यापि महाधाराः समुत्पेतुरनेकशः ।
रुचः खररुचेर्यद्वदुदये पल्लवारुणाः ॥८५॥
वीराणां प्रजिहर्षूणां प्रष्ठा एवाऽभवन् क्रमाः ।
यथा परिणिनंसूनां दन्तिनां प्रतिदन्तिषु ॥८६॥
ओजस्वित्वाच्छिताग्रास्त्रैः परेषां सुदृढानपि ।
[1]पटच्चराणीव भटा पाटयन्ति स्म कङ्कटान् ॥८७॥
क्षुरप्रैर्गौरवक्त्राणि पातितानि दधुः श्रियम् ।
केषाञ्चित् पूर्णचन्द्राणामपूर्वा भूमिसंयुजाम् ॥८८॥
अन्येषां तु महारौद्रश्यामान्यापुः सगोत्रताम् ।
तत्क्षणोत्कृत्तमुक्तस्य सैंहिकेयस्य तादृशीम् ॥८९॥
स्वामिदृष्ट्याधिकौजस्कैर्द्विगुणं युयुधे भटैः ।
[2]समीरपूरणासङ्गात् [3]कृकवाकुकुलैरिव ॥९०॥
अत्यद्भुताः प्रावहन् कुल्यास्तत्र निर्नालपङ्कजाः ।
वीराणां कृत्तवृत्तास्यै रुधिरोद्गारसम्भवाः ॥९१॥
मूढघातैः परासूनां शरीराणि शरीरिणाम् ।
वहन्त्यसृग्महानद्यां यादांसीव रयाद् बभुः ॥९२॥
प्रक्षेपे सर्वशस्त्राणामयुध्येतां स्फुरत्क्रुधौ ।
केशाकेशि भृशं कौचिदहो क्रोधः सुदुर्द्धरः ॥९३॥
नैरन्तर्येण भूयोभिर्धन्विभिः शरधोरणिः ।
मुक्ता व्याप्तनभाः सौरीः सर्वथैव रुरोध भाः ॥९४॥
महान्धकारसंग्रामाटव्यां युद्धाकुला भटाः ।
[4]धूम्रप्रभाजजन्तूनां क्षणं लीलां व्यडम्बयन् ॥९५॥

---

१. जीर्णवस्त्र । २. अपानदेशे मुखवायुप्रक्षेपात् । ३. कुक्कुट । ४. पञ्चमनरकपृथ्वीजात-नारकाणाम् ।

सम्प·····मपश्यन्त्या कौतुकिन्यः सुराङ्गनाः ।
तत्र क्षणेऽभवन्नूनं व्यर्थानिमिषताश्रियः ॥९६॥

इषुः सतीवाऽवक्रापि क्षिप्ता भर्त्रा रुषाऽरिषु ।
चक्रे तथापि तत्कार्यमृजो न व्यभिचारिताम् ॥९७॥

सहस्रशोऽपि पततां प्रहाराणाममोघता ।
सुकृतव्यवसायानामिवाऽऽसीत् तत्र संयुगे ॥९८॥

नृत्यतां रक्तरक्तानामंत्रमालायुजां युधि ।
वेतालानां कबन्धानां चासीन्न गणनाविधिः ॥९९॥

नीरन्ध्रं गृध्रसङ्घातः परासुषु पतन्नपि ।
न प्राप क्रव्यसौहित्यं तद्व्यासक्तशिवाभयात् ॥१००॥

स्वरे रौद्रे समाचारे देहिदेहविदारणे ।
शिवाभिर्मङ्गलेनेव प्राश यं प्रापि नामजम् ॥१०१॥

लूनदण्डध्वजभ्रष्टा वैजयन्त्यः सिता दिवि ।
बभुस्तल्लवकर्त्तृणामिव मूर्त्ता हि कीर्त्तयः ॥१०२॥

पुण्डरीकाण्यसृग्नद्यां लेभिरे पुण्डरीकताम् ।
पतितान्यपि शुद्धा हि भूयोऽपि स्वपदस्पृशः ॥१०३॥

कृतेऽवदाने सव्रीडाः सुगुप्ता अपि मानिनः ।
केतकानीव मधु··· ··· ··· ··· ···तबन्दिभिः ॥१०४॥

वर्षित्वा मूर्ध्नि पुष्पाणि तद्यशःसुरभीण्यथ ।
तानेवाऽभिस्वरैस्तारैः सुरसिद्धाङ्गना जगुः ॥१०५॥

[सेनान्यो]रुभयोरेवं सोत्साहं सह युद्ध्वनोः ।
स्पर्द्धयेव तयोरास्तां समौ जयपराजयौ ॥१०६॥

सु··· ··· ··· ···यत्वं सिद्धौघे स्थेयतां[1] गते ।
युद्धेऽन्वकुरुतां सैन्ये ध्रियन्ते प्रोढवादिनोः ॥१०७॥

---

१. स्थेयाः सभ्याः तुलासमा विद्वांसः ।

नानानवनवानीकप्रदेशे रेजतुर्बले ।
गिरिणद्योघसम्पातैर्गङ्गासिन्धुमुखे इव ॥१०८॥

इत्थं सङ्कीर्णयुद्धे क्रमभव ··· ··· ··· ··· द्भ्रंशभावैः,
सेनानेत्रोवितन्वत्यमृतविषसमाक्रान्तसिन्धोर्विलासम् ।
दर्पक्रोधाग्नितप्ताः क्षिति·····तम···क्षोणिपाः प्रातिपक्षाः,
संक्षुब्धाम्भोधिभीमं सपदि ववलिरे धीरतारं नदन्तः ॥१०९॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते सङ्कीर्णयुद्धवर्णनो
नाम विंशतितमः सर्गः ॥छ. ॥२०॥

एकविंशतितमः सर्गः

कुम्भकर्ण इवाभ्यर्णदीर्घनिद्रः सदागतिः[1] ।
प्रतस्थेऽथ पुरस्तेषां विद्युद्वेगस्य मातुलः ॥१॥

चचाल विकृताकृत्या दारुणः सबलो नवः ।
ओजसा परशुः शत्रुदारुणः सबलो नवः ॥२॥

आपतन्तं तमालोक्य·····ग·····खं ययौ ।
यन्नावाङ्मुखता युद्धे वीराणां सा हि वीरता ॥३॥

धनुर्धन्वन् समं शत्रुमनोभिः प्रोच्छलद्ध्वनि ।
अश्वत्थामपितुर्लीलां समरेऽसौ व्यलोलयत् ॥४॥

---

१. नाम ।

पत्रिभिर्व्यथितास्तस्य वर्षाम्भोभिरिवानशन् ।
विश्लिष्य [राज?] सन्ताना राजहंसा इवारयः ॥५॥

मातुलेनातुलोत्साहवीर्यसंरम्भशालिना ।
चण्डानिलश्रिया सोऽपि निरासे·····शिवत् ॥६॥

महीयांसो भवन्त्येव महद्भ्योऽपि हि भूतले ।
ओतुना नाश्यते बर्ही यदाशीविषवृन्दहा ॥७॥

कवर्गपरिहारेण चक्कलकम्

चित्रवेगोऽप्यथाऽगच्छत् कलावान् सत्वरत्नभूः ।
पयोनाथ इव प्रोद्यत्कलावान् सत्वरत्नभूः ॥८॥

प्रयुध्य बहुधा सोऽपि मुक्तामुक्तैः शितायुधैः ।
स्वबाणवद्विलक्षत्वं तत्र भेजे महाभुजे ॥९॥

असौ वैरिशरश्रेण्या नितान्तमुपतापितः ।
न नाम्ना किन्तु तत्राऽभूच्चित्रवेगः पलायने ॥१०॥

स्वपक्ष्येऽरिपराभूते चण्डवेगः प्रचण्डरुक् ।
भ्रुकुटचङ्कितभालेन्दुश्चचालाऽतुलसैन्यभाक् ॥११॥

तेन तत्र तथा तेने घनश्रीः[1] शरसन्ततिः ।
यथाऽऽसीदास्यचन्द्रस्य ग्रासच्छाया दिने ह्यरेः ॥१२॥

निरोष्ठ्यः

शरैरर्द्धेन्दुभिस्तस्य लुलुवे श्मश्रुसंहतिः ।
रूपश्रीरिव सुश्रोत्रद्वितयेन समं समम् ॥१३॥

तादृशेनाऽपि तेनास्याऽप्यातपत्रं द्विधा दधे ।
यन्नैवाऽप्रहृते शर्म निहन्तरि [2]हरेर्भवेत् ॥१४॥

तेन दष्टाधरोष्ठेन सेना मातुललालिता ।
सा भूतबलितां निन्ये दुर्धर्षयाऽपरैर्नृपैः ॥१५॥

---

१. मेघ। २. सिंहस्य।

असहायमनायासात्तमसौ हरि ... ... पः ।
राहवीर्यां दशां निन्ये शितास्त्रेण सुरैस्ततः ।।१६।।

क-चवर्गद्वयपरिहारेण चत्वारः ।

अन्यानपि निरासेऽसौ गुरुमन्युभृतः परान् ।
भूरिवर्ण्यसपक्षत्वान् मरुत्वानिव भूभृतः ।।१७।।

गूढचतुर्थकः

रुषोत्तस्थौ महावेगो विद्युद्वेगसहोदरः ।
पयोद इव [1]धौताऽस्त्रविद्युद्वेग[2]-सहोऽदरः ।।१८।।

आस्फालितधनुर्नादस्तस्य व्याप नभस्तलम् ।
सुरत्वस्वामि सैन्यानां साधुवादशतैः समम् ।।१९।।

शरसन्धानपातादि तस्याऽवेदि विदापि नो ।
सत्वरत्वात् सिताऽश्वस्य[3] विभ्रमं दधतो युधि ।।२०।।

आदधेऽथ यशःशेषा भूरिसेनाः स शात्रवीः ।
सुसंहता अपि तत्तीरन्तरुरिव तामसीः ।।२१।।

महत्यथेतरत्राऽस्य ध्वंसेनाऽभूद् भिदा युधि ।
यवसे[4] शिंशपायां वा दाहे दावततेरिव ।।२२।।

क-च-टवर्गत्रयपरिहारेण चत्वारः

अद्भुते राजहंसेऽस्मिन् परपक्षविधूननैः ।
क्रीडत्येवाऽपतच्चण्डवेगोऽकाण्डक्षयाम्बुदः ।।२३।।

अगर्जन्नपि गम्भीरः शरवर्षैरनारतम् ।
वर्षन्नुत्त्रासयामास राजहंसकुलान्यसौ ।।२४।।

प्रावाहयन् नदीमस्त्रैः क्षतवीरशरीरजैः ।
क्षुरप्रलूनकेशालि [5]विलुलच्छैवलाऽऽकुलाम् ।।२५।।

---

१. शित । २. पान । ३. आर्जुनस्य । ४. तृणविशेष । ५. प्रसरत् ।

न तेषु सदयो धीरो ये दुर्वृत्ता[1] महाऽरयः।
नतेषु सदयोऽधीरो[2] धनदो दुष्कृताऽऽगमे ॥२६॥

खड्गाऽशनिं सखात्कारं तथा मूर्धन्यपातयत्।
असावस्य यथाऽन्येऽपि पशुनाशमिहाऽनशन् ॥२७॥

अथ तत्र नृपेऽनेकं पपात कुसुमं दिवः।
ससार तत एवालं सुगन्धितसितं यशः ॥२८॥

अरीणां सकला सेना विनिमीलितलोचना।
तारकापेतनिशया समं[3] रेजे महातमाः[4] ॥२९॥

असंयोगः

तद्वधेऽशनिवेगोऽपि दुःखी श्यालवधादभूत्।
सहस्रगुणमन्यैव स्वाङ्गभङ्गे हि वेदना ॥३०॥

मृगाधिप इवात्यन्तं मूलोत्खातनखाशनिः।
निरस्तदन्तो दन्तीव फणीवोद्धृतसद्धनुः ॥३१॥

विलुप्तपक्षः पक्षीव शुशोच खचराधिपः।
सन्तानसदनस्तम्भतनूजोन्माथसव्यथः ॥३२॥

युग्मम्

त्रिलोकीपुञ्जितक्रोधधारयेव स शिश्रिये।
समं[5] समस्ततल्लक्ष्मलक्षिताखिलविग्रहः ॥३३॥

महामर्षभरः सोऽपि विवेश समरं स्वयम्।
भीमं यमस्य वेश्मेव मुमूर्षुरिव साहसी ॥३४॥

सुरैरशंसि यः सारमहो[6]राशिविभावसुः[7]।
पविः परेषु शैलेषु श्रीवासाय सरोरुहम् ॥३५॥

शिश्रिये यो हिमाभीशुसौम्यास्यसरसीरुहैः।
परेषु परुषैः शूरैः पीवरांसैः सहस्रशः ॥३६॥

---

१. दुराचाराः। २. भयालुः। ३. तुल्यं। ४. शोक। ५. युगपत्। ६. तेज। ७. रविः।

सभायामसुरेशोऽपि यशः समरसम्भवम् ।
यस्योरुरोषभीमस्य विववार शशिप्रभम् ॥३७॥

क-च-ट-तवर्गचतुष्कपरिहारेण चत्वारः ।

निःशेषनिजसैन्यौघैः प्रलयक्षुभिताम्बुधिम् ।
लघयन् घोरनिर्घोषैरारेभे योद्धुमुद्धुरः ॥३८॥

आद्येऽपि तदिषुक्षेपे क्षयवृष्टिरयाधरे ।
चण्डवेगः प्रचण्डोऽपि कान्दिशीकत्वमाददे ॥३९॥

सकलं[1] युध्यमानोऽसौ सकलं द्विषतां बलम् ।
सकलङ्कं ह्रिया चक्रे सकलं रोगिणं[2] यथा ॥४०॥

शरावलिरसह्याऽस्यासुरेश्वरसहः[3] श्रियः ।
अरिवारैरशेषेलाशस्यवश्ययशोलवैः ॥४१॥

आहवेऽवसरः सारः[4] साहसेहा वराऽऽशिषाम् ।
वीरराशेरिहाऽस्याऽसल्लीलावारसरो रवेः ॥४२॥

वारिवाह इवावश्यविसारि शरवर्षसूः ।
सहस्रशो वीरशिरःस्राव्यस्रोरुसरिल्लयः ॥४३॥

रसालः[5] शौर्यवर्याऽलेः संश्लेषो यशसः श्रियाम् ।
आसील्लीलाहवः शस्यः सुरास्यसरसीरुहाम् ॥४४॥ युग्मम्

पञ्चवर्गपरिहारेण चत्वारः ।

तमभि श्रीभानुवेगाऽमिततेजोमुखा नृपाः ।
शौर्योष्ममुषिताकग्निप्रतापास्तूर्णमैयरुः ॥४५॥

स्वनाम्नः सदृशं चक्रेऽमिततेजाः प्रतापयन् ।
बाणैः परानन्तरपि क्रोधाग्न्युद्दीपितैरिव ॥४६॥

निपातितसुदुस्साधो गुणवृद्धिप्रथश्च सः ।
साधितानेकसच्छब्दो रणोऽव्याकरणायत ॥४७॥

---

१. धनुर्वेदाद्यभ्यासान्वितं यथा भवति । २. सह कलेनाजीर्णेन वर्तत । ३-४. बल । ५. आम्रः ।

सुनिर्दयं विमृद्नन्तः प्रतिपक्षं परस्परम् ।
मत्तेभा इव भूपालाः क्षणार्धं न व्यरंसिषुः ॥४८॥

स्वयम्वरायामिव चान्दोलितायां जयश्रियि ।
समुत्तस्थौ रणोत्स कुमारो हरिविक्रमः ॥४९॥

सुदृष्टिः शस्यरत्नोऽपि सुपक्ष्मा कान्तसत्प्रभः ।
ददृशे शशिरम्योऽपि स परैः कालसन्निभः ॥५०॥

गोमूत्रिका

आददे नम्रता साधुवरबाहुप्रसाधनम् ।
स धनुः सद्गुणोपेतं कान्तागात्रमनोहरम् ॥५१॥

अतालव्यः

संरोप्यमाणगुणमप्याऽऽचक्रन्दाऽथ तत्तदा ।
दासदुश्छात्रवत्कुण्ठ[1]-वभावभावितसाहसम् ॥५२॥

संयोगञ्चापबाणेन शुद्धिभाजा समञ्जसम्[2] ।
संतोषिताऽनेकदिव्यवधूसिद्धवनेचरम् ॥५३॥

युग्मेन खड्गः

दृष्टेऽपि तामसात् तस्मिन् [3]नानाहेतिमनोहरे ।
सूर्योदय इवोलूकाः सद्यश्चुक्षुभिरे परे ॥५४॥

तादृग् धनुर्धरो धीमानोजसा द्विषतां बलम् ।
लंघयन्मोदिसुजनो मानी शक्रं जिगाय सः ॥५५॥

मुशलम्

सुवंशजत्वान्नतिमद्बलादाकृष्टमप्यहो ।
भङ्गाभिमुखतां भेजे न धनुस्तस्य सर्वथा ॥५६॥

रेजे कुण्डलितं घोरटङ्काराट्टहसं मुखम् ।
खं व्याप्यैतद्यमस्येव लम्पटं द्विषतां व्रजे ॥५७॥

धनुः

१. वक्रीभावेन कौटिल्येन च । २. समीचीनम् । ३. शस्त्रकराश्च ।

सावधाने विशेषेण दिव्यसिद्धाङ्गनाजने ।
साक्षाद् दृश्याभिनेयौघं द्रष्टुं तन्नवनाटकम् ॥५८॥

शिलीमुखान्निचिक्षेप तेनाऽसौ बलवद्बली ।
लीनपक्षान् कठोरास्यानितीव हयरंहसा ॥५९॥

हलम्

वीराणां वर्मिताङ्गानां [1]बिस्यत्सुश्चक्षुषां चयान् ।
तदा सतां धुरीणोऽपि छिद्रान्वेषी बभूव सः ॥६०॥

महिमा कस्य न मुदे भिदे वालिभियोऽत्र हि ।
हिमभानोरिवैतस्य ततस्तुतिभृतः प्रभाः ॥६१॥

शापितः

शतशः सैनिकोन्मुक्ताः प्रहाराः प्राणहारिणः ।
यमोच्चण्डमहादण्डघातलीलां व्यडम्बयन् ॥६२॥

तत्र त्रोटितमूर्द्धौघैः क्षुरप्रैः सार्द्धमुज्ज्वलाः ।
कटाक्षा इव कालस्य निपेतुर्भीमवल्लयः ॥६३॥

भानुवेगोऽरुणेनाऽपि ग्रास्तप्रायं द्विषां बलम् ।
कुमारमिहिरो ध्वान्तमिवात्यंतमनीनशत् ॥६४॥

ववलेऽग्रनिवेगोऽथ कुमारमभिकोपनः ।
विराद्धारं प्रतीच्छा धिक्कोद्धतकेसरी ॥६५॥

तेन समं सावज्ञं नृपात्मजः श्याऽभिमानभिशवोऽसौ ।
शरभपद्मपाशमानी वृक इव योद्धुं समारेभे ॥६६॥

तद्वक्षसि न्यधाच्छक्तिं स कान्तविलसद्युतिम् ।
सहसा मान्त्रिकः कान्तामिव नानाऽङ्गधारणाम् ॥६७॥

---

1. नर्यन्निकीर्थे ।

दृढप्रहारामपि तामवमत्य तदैव सः ।
प्राहरन्न प्रतीकारे सविलम्बा महौजसः ॥६८॥

सद्यो विशसनान् माभूद् युधो विघ्न इतीव सः ।
श्मश्रूण्येव क्षुरप्रेण तस्याऽलावीत् कुतूहली ॥६९॥

द्वितीयेनाऽपि तेनाऽसौ छिन्नतच्छीर्षकोऽच्छिनत् ।
निःशेषाङ्कच्छिदा मूलमिव पूर्वं शिरोरुहान् ॥७०॥

तं तथा विकृतं दिव्यस्त्रीणां नवकुतूहलम् ।
विदूषकमिवोत्प्रास्य[1] पश्यन्तीनां मुहुर्मुहुः ॥७१॥

तत्राऽट्टहासकुसुमप्रकरेण समं दिवि ।
उत्तालकरतालौघदुन्दुभिध्वनिरुद्ययौ ॥७२॥

युग्मम्

नीतिस्थितिप्रीतिभृतं पातयन्तं द्विषां बलम् ।
लम्पटेशान् शातयन्तं तं पापे यशसाऽमलम् ॥७३॥

क्षुरिका

अनर्हयुं विवेकित्वात् कुमारं तुष्टुवुर्जनाः ।
अवदान्येऽप्यनौद्धत्यं विद्वत्तायाः परं फलम् ॥७४॥

युग्मम्

लूनकेशोऽपि मानित्वान्न व्यरंसीत् स युद्धतः ।
दन्तव्यसनवान् [2]दन्तीवाऽतिरोषाद् विभीषणः ॥७५॥

स्वशिल्पानीव विशिखान् यान् यान् भूपो व्यपीपरत् ।
तांस्तान् स ताडयामास सम्मुखं दुर्जनानिव ॥७६॥

अनात्मज्ञे निस्त्रपे चाऽनादधत्याऽऽरति युधः ।
तज्जीविताशामिव स ज्यां विचिच्छेद धन्वनः ॥७७॥

स शितासिकरो वल्गन् अर्द्धचन्द्रेण सत्वरम् ।
विहस्तहस्तिराजस्य निन्ये तेन[3] विहस्तताम् ॥७८॥

१. उपहास्यम् । २. हस्ती । ३. कुमारेण ।

दोलायिताऽप्याभिमुख्यं जयलक्ष्मीरनायि च ।
प्रहारपटुताभाजा विदग्धेनेव कामिनी ॥७९॥

नृमात्रप्रेक्षितस्यास्य विक्रमं प्रेक्ष्य तादृशम् ।
किञ्चिदात्मानमज्ञासीत् स रामस्येव रावणः ॥८०॥

गते विलक्षत्वमिति क्षमापतौ, वलत्यनैकध्यमवध्यदेहिषु ।
पदं[1] महास्त्रं हि बबन्ध सद्युति, क्षणाद्भुजङ्गाकलनं रुषाचिते ॥८१॥

निःश्रेणिका

तन्माहात्म्यान् महीयांसः कालपाशा इवोरगाः ।
विषज्वालाविलासित्वोदुद्वमन्त इव क्रुधम् ॥८२॥

चक्षुःशिरोरत्नभाभिः सूत्रयन्तः सुरायुधम् ।
भटानां रुद्धसच्चेष्टाःपेतुः कण्ठकरांह्रिणि ॥८३॥

युग्मम्

ततस्स तत्राऽतनुधीः कुमारः, कलङ्कपङ्कच्छिदुरः खगेन्द्रान् ।
ससर्ज सन्त्रासदनादकन्दप्रदम्मुदश्शदभिदत्तदक्षः ॥८४॥

चामरम्

तार्क्ष्यपक्षप्रभाश्लिष्टं व्योममण्डलमाददे ।
कौतुकात्काञ्चनाऽऽलिप्तमहाकौक्षेयकश्रियम् ॥८५॥

बभुस्ते भोगिभोगेषु चञ्चुव्यापारतत्पराः ।
कोकाः श्यामाब्जनालाशलालसा इव रंहसा ॥८६॥

स्वभावादेव मलिनाः कुटिला द्रोहकारिणः ।
तेन तैर्वन्ध्यतां नीताः शत्रोर्मन्त्रा इवाहयः ॥८७॥

आग्नेयमन्त्रं नृपतिराजुहावाग्निदीपनम् ।
आविष्कर्तुमिवान्तःस्थ प्रज्वलत् कोपवाडवम् ॥८८॥

---

१. स्थितिम् ।

स्फूर्जद्धूमकचः शिखामयभुजः प्राण्योघदत्तातुल-
त्रासो घोररवाट्टहासविकटो वेतालकल्पः शिखी ।
संवृद्धो दवतोऽधिको रणभुवि प्राणापहारी जग-
ज्जन्तूनामपि तूर्णमुद्धुरजवात् क्षुन्दन् हसन् साहसम् ॥८९॥

कलशः

तेनाऽथ पावकेनाऽपि क्षुद्रोपद्रवकारिता ।
आरेभे वाडवेनेव कुमारबलवारिधौ ॥९०॥

सर्वतश्च तदाश्लिष्टमूर्त्तयः प्रांशवो भटाः ।
आगता भारतं द्रष्टुं मेरोः पादा इवाऽऽबभुः ॥९१॥

सस्मार वारुणं मन्त्रं राजबीजी जयावहम् ।
येन सद्यो गजश्यामैर्व्यानशे व्योमवारिदैः ॥९२॥

जयाऽऽशाचापलं शत्रोराददे तत्र विद्युता ।
गर्जितेन तु कौमारदुन्दुभिध्वानधीरता ॥९३॥

ववृषुस्तोयदास्तोयं सन्ततं कुन्तधारया ।
शमिताग्निपरोद्धत्यं वीरा इव शरोत्करम् ॥९४॥

समूलघातं निहते रिपुदर्प इवानले ।
खे विचेरुः समं सिद्धप्रमोदैः [1]स्तुतिसंकथा ॥९५॥

श्रीसद्माऽपि कुशेशयं ननु जडा सङ्गिस्फुरत्कुङ्कुम
च्छायोऽप्यभ्युदयन् सुमास्समुपचेयाऽङ्कः[2] शिवो मारहा ।
इत्थं कोऽपि न यस्य साम्यमभजद् वासस्य विश्वश्रियां,
सोऽयं माननिधिः प्रतापतरणिः केनाऽवनौ जीयते ॥९६॥

श्रीसनत्कुमारस्येति नामाङ्कं छत्रम्

जजाप मन्त्रं वायव्यं व्याहतोऽपि स भूपतिः ।
उल्लासः कन्दुकस्येव यो घाते साहिमानिता ॥९७॥

---

१. प्रशंसा । २. उपचीयमानकलङ्कः ।

प्रलयानिलविद्वेषी समूलोन्मूलिताङ्घ्रिपः ।
ववौ वायुः प्रतिदिशं रंहसा प्रोद्धसूत्कृतः ॥९८॥

महावेतालदुर्दर्शो रजःपुञ्जावरूषितः ।
सर्वतस्त्रासयामास सत्वान् सात्विकानपि ॥९९॥

न यावदतिचक्राम प्रतिसैन्यं स भीषणः ।
सद्यस्तावत् कुमारोऽपि शैलेन्द्रं तत्र निर्ममे ॥१००॥

निजानीकपरिक्षेपी[1] द्वितीयो मानुषोत्तरः ।
वातवेताललीलानां दूरे यो मन्त्रसिद्धवत्[2] ॥१०१॥

सर्वास्त्रपरमं राज्ञस्तद्वज्रमिव वज्रिणः ।
घ्नताशोऽपि हतप्रायश्चक्रे शिशुकचक्रिणा ॥१०२॥

शिल्पमस्त्रं बलं मन्त्रं यद्यदाविश्चकार सः ।
समूलकाषं न्यकषत् तत्तदेव महाबलः ॥१०३॥

विश्वा[१]संह्वारण[८]क्रियं बलनिधिं त[११]त्तारसोमा[५]स्पदं ,
युद्धेन[९] क्षणितुं च[६]कार लसनं मि[१५]थ्यापि शू[६]रव्रतः ।
व[३४]ल्गत्कुण्टभुजो रि[१०]पूत्पलमहादं[१२]ती मृधे [७]ध्वरे -
ऽरेकं[3] भाविनि भूयुजः स्ववपुषोऽदंष्ट्रावतः मस्तारे(?)॥१०४॥

सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम् [illegible]

[4]नियुद्धाधानबुद्ध्याऽसौ विस्फारितभुजद्वयः ।
रंहसाऽधावदुर्वीशस्तं प्रतीभ इवाऽपरः ॥१०५॥

आक्रोशन्नुच्चकैश्चैव [illegible] ।
राजाऽपि न ररासैव [illegible] ॥१०६॥

मनोऽङ्ग[illegible] [illegible] [illegible] ।
इतीवाऽऽत्मानु[illegible] [illegible] [illegible] ॥१०७॥

---

१. परिवेष्टकः । २. सिद्ध इव । ५. बाहुभ्यां ।

'तत् सैनिकाश्रुभिः सार्द्धं तत्पपात भुवस्तले ।
समं सुरप्रशंसाभिर्व्याप खं चक्रिणो यशः ॥१०८॥
सन्ततेर्वीरदेहानामनाथाहमिति क्लमः ।
माऽभूदितीव तद्देह[सू]तन्मुदे न्यपतद् भुवि ॥१०९॥

सर्वत्राऽसति पुष्पमम्बरभवं प्रामाणिकैः प्रोच्यते,
दृष्टान्तस्तदमन्यताकृत[2] इव प्रौढेन्दुबिम्बद्युतिः ।
व्योमन्यद्भुतयुद्धदर्शनभवन्मोदातिरेकात् स्फुटः,
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितः स्वःसुन्दरीभिस्तदा ॥११०॥

बंहीयस्त्वादमान्तो ध्रुवमिह भुवने साधुवादास्तदीया,
अत्याश्चर्याहवोत्थाः सुविरचितमहासान्द्रताः खे प्रसस्रुः ।
आनन्दात् तारतारं बहलकलकलं ताडितानां सुरौघै-
र्विश्वस्य श्रावणार्थं मधुरिमगुरवो दुन्दुभीनां निनादाः ॥१११॥

तस्याऽऽजिक्षतविग्रहस्य नरपस्यान्तर्मुदालम्बिनी,[3]
[4]पद्मानन्दपरप्रसन्ननयना भूमित्रमाऽऽगत्य तम् ।
वव्रे पात्रमचिन्त्यकीर्त्तनगिरां[5] [6]कोदंडपाणिन्नवं[7],
वंशद्योतरविं पवित्रवचनं नीत्याश्रितं स्वाऽऽहवम् ॥११२॥

'जिनपालगणिविरचितमिदम्' इति कविनामगर्भं चक्रम्

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते रिपुविजयो नाम
एकविंशतितमः सर्गः ।छ।।२१॥

---

१. शिरः । २. वैतस्यापादनाय । ३. चेतसि हर्षाश्रयिणि । ४. सेनादिरूपाराज्यलक्ष्मीः ५. प्रशंसावचसाम् । ६. धन्विनम् । ७. तरुणम् ।

द्वाविंशतितमः सर्गः

अस्तखेचरपतिः स्ववीर्यतः, प्राप कृत्स्नखचरेन्द्रतामसौ ।
केसरीव मृगराजतां किमु, प्रौढविक्रमभृतो हि दुर्लभम् ॥१॥

स प्रतापनिधिराशु शात्रवं, तन्निरस्य तिमिरौघविभ्रमम् ।
खेचराऽचलमभिप्रचक्रमे, गन्तुमात्तरिपुकीर्त्तिवैभवः ॥२॥

सान्द्रचन्द्रविमलस्वकान्तिभि-र्भारतस्य भरितस्य योऽभितः ।
क्षीरनीरनिधितां निशाकरद्योतनैर्दिशति रूप्यनिर्मितः ॥३॥

नित्यमन्तरुपसर्पदापगाम्भोभृतोदरतयाऽप्यतृप्तिमान् ।
वारुणीहरिदिशोर्मुखद्वयेनोदधिं च धयतीव यो भृशम् ॥४॥

'सिद्धकूटमुखकूट[1]-कोटिभि[2]-स्तारकौघमिव योऽदधत् बभौ ।
सर्पराज इव भूतलं पतद्, भूरिभिः फणभुजैः समुच्छ्रतैः ॥५॥

दुःप्रभोर्महत उद्धति स्पृशोऽन्तःप्रविश्य कठिनान्तरात्मना ।
द्वैधमिद्धमसतेव संदधे, भारतस्य भुवि येन शाश्वतम् ॥६॥

एकमप्यपरशैलकाननं, येषु भूषयति तानि कोटिशः ।
कामकेलिकुलमन्दिराण्यहो, यत्र खेचरयुगाणि सन्त्यलम् ॥७॥

यः कुरूनपि हसत्यसंशयं, राजधर्मजिनधर्मराजिभिः ।
पत्तनैरिह धरोऽपरः श्रियं, को नु तस्य तुलयेन्महानपि ॥८॥

स्वर्दुरापकलकोकिलारवासक्तिमानिव सुराङ्गनाजनः ।
यस्य शृङ्गविपिनं कदापि न, प्रोज्झति प्रियतमानुगामुकः ॥९॥

यस्य नूनमुदधिस्थभूधरान्, पश्यतः प्रियतया स्वगोत्रजान् ।
अस्तमिन्दुरुदयं दिवाकरः, सदधन्नयनतां प्रगे ययौ ॥१०॥

---

१. नाम । २. अग्रभाग । ३. वैताढ्ये कूटा ९ उच्चत्वे योजन ६ क्रो० १, मूले विष्कम्भोऽप्येष एव । मध्ये तु किञ्चिदूनानि योजन ५, उर्द्ध्वं तु योजन ३ क्रोशार्द्धं च । मध्ये कूटास्त्रयः सौवर्णाः, शेषास्तु षड्रत्नमयाः ।

उन्नतं यमनुपास्य चक्र्यपि, प्राप कोऽपि सकलां न चक्रिताम् ।
को हि भूभृदपरश्चरो[1]ऽचर[2]-स्तेन साम्यमुपयातु भूतले ॥११॥

मानवाह्यपृतनोऽपि चक्रभृद्, यस्य कुक्षिविवरे हरेरिव ।
व्यासभाजि न विभाव्यते जरत्तोयबिन्दुरिह हेलयाऽशितः[3] ॥१२॥

उन्नतेन घननीलपत्रलेनोपरिस्थितवता वनेन यः ।
नूनमद्रिषु विभुत्वसूचकं, छत्रमुद्वहति केकिपक्षजम् ॥१३॥

यस्य कूटनिकटाच्छतारका, भान्ति मौक्तिककणा इवोज्ज्वलाः ।
केसरिप्रहतकुम्भिकुम्भतः, प्रच्युताः प्रसृमरा निशागमे ॥१४॥

तालमूर्द्धपतितस्फुटत्फलप्रोच्छलद्रसविहस्तपाणयः ।
यत्र नर्त्तनयुजः प्रमोदतो, हासयन्ति शबरीर्वलीमुखाः[4] ॥१५॥

उत्क्षिपंश्च चमरीगणः सितान्, बालधीन् प्रविचलत्पयोधरः ।
यस्य शैलविभुतां समापयत्याशु वारवनिताकृतिः क्वचित् ॥१६॥

दैत्यहेव वनमालयाचितः, केसरीव विलसज्जटाशतः ।
शब्दशास्त्रमिव धातुसङ्गतो, यः समुन्नतशिराः सगर्ववत् ॥१७॥

भूरिभिर्विमलदूरगामुकश्रेयसीभिरिव कीर्त्तिभिः सदा ।
निम्नगाभिरवनीशनाथवद्, भाति यः सरलतापुरस्कृतः ॥१८॥

यस्य निर्झररवोत्त्रसद्वधूगाढकण्ठपरिरम्भमोदिताः ।
तुष्टुवुः शिखरवृन्दमुन्नतं, कामिसिद्धनिवहा निकुञ्जगाः ॥१९॥

दन्तिदानसलिलानुलेपनाश्चम्पकाऽऽरचितचित्रशेखराः ।
केसरस्तबकितश्रुतिद्वया, गुञ्जिकाफलविराजिवक्षसः ॥२०॥

मन्दमन्दतमसि प्रहर्षतो, दत्तकोमलविलासरासकाः ।
गच्छतां शबरयोषितोऽम्बरे, रान्ति यत्र वनदेवताभ्रमम् ॥२१॥

युग्मम्

१. राजा । २. अद्रिः । ३. भक्षितः । ४. वानराः ।

धामधामयमुपास्य निम्नगा, काऽपि तारयति तां शिलामपि ।
काऽपि तूलमपि मज्जयत्यधः, स्पर्द्धते क इह तेन भूधरः ॥२२॥

यस्य पादसततोपसर्पणान्नूनमापि भुवने पवित्रता ।
गङ्गयाऽपि कथमन्यथा न सा, [1]तज्जहाति युगसंक्षयेऽपि हि ॥२३॥

मस्तकेन दधतः सदार्हतः, किं नु चित्रमिदमस्य सङ्गतौ ।
स्यात् परस्य यदतीवशुद्धता, काञ्चनस्य शिखिसङ्गमे यथा ॥२४॥

यः पयोजविकचाक्षिपत्रया, भ्रूविलासिविलसत्तरङ्गया ।
पद्मसङ्गिमधुपालिकेशया, कान्तयेव मधुरैकरूपया ॥२५॥

तीररूढघनकेतकीरजःकल्पितोरुतरसैकतश्रिया ।
राजहंसमिथुनध्वनिस्फुरत्कामकामियुगलालितान्तया ॥२६॥

स्नानकेलिचलसिद्धसुन्दरीपीवरोरसिजकुम्भताडनैः ।
[2]उद्विवृत्तशफरीविलोचनाऽऽरब्धकान्तगिरिराजवीक्षया ॥२७॥

हारिबर्हिनिनदप्रबोधिता - ऽनङ्गनाकिमिथुनैर्वनान्तरे ।
खिन्नकायलतिकैरपि स्फुरद्भूरिभङ्गिसुरतैः सुजुष्टया ॥२८॥

कोमलेति सुरभौ च सैकते, मन्मथेन [3]जलमानुषीरपि ।
सस्पृहाः सततमादधानया, स्वप्रियेषु रमणीयसीमया ॥२९॥

वेतसीतरुतलान्यशून्यतो, कामिभिः [4]समयगुप्तचारिभिः ।
संदधन्ति तटयोर्द्वयेन सच्चूतचम्पकयुजोर्दधानया ॥३०॥

गङ्गया बहुधुनीप्रसारया, सिन्धुसंज्ञसरिता च पार्श्वयोः ।
आसमुद्रहिमशैलमाप्तया, पक्षवानिव सदापि लक्ष्यते ॥३१॥

तं मनोहरमवाप्य भूधरं, श्रान्तिमौज्झदखिलां पताकिनी ।
अध्वजां तृषमिवार्त्तचातकी, लब्धमेघ्यजलबिन्दुसन्ततिः ॥३२॥

श्रीकुमारवर आलिवर्यया-ऽस्माकमेष नवया जयश्रिया ।
श्लिष्ट इत्यधिकरागया ध्रुवं, विश्वराज्यरमया कटाक्षितः ॥३३॥

---

१. पादोपसर्पणम् । २. परावृत्त । ३ मत्सी । ४. संकेत ।

सोऽवदानपरिकीर्त्तनामृतस्राविवक्त्रकमलैः सुमागधैः ।
नन्द्यमान उपगीतकिन्नरध्वाननिन्दिनिनदैः पदे पदे ॥३४॥

वैरिणो यश[1] उदीर्णमम्बरादुद्विवासयिषुरुत्कटत्ववतः ।
व्याप्नुवन्निति निरन्तरं ध्रुवं, प्रौढतूर्यनिनदैः पुरःसरैः ॥३५॥

नृत्यमानकरणाङ्गहारवन्नर्तकीकररुहप्रभोत्करैः ।
विस्तृतं स्वपुरतो महारिपो,ः स प्रतापमपसारयन्निव ॥३६॥

दिव्ययानसुविमानचारिभिः स प्रियैः खचरसञ्चयैर्वृतः ।
पाकशासनममर्त्यतत्प्रियाराजिराजिगमनं पराभवन् ॥३७॥

पौरचारुवनिताविलोचनान्यञ्जयन्निव सुध शलाकया ।
कान्तदर्शनतया हि तन्मनो-ऽनङ्गसायकशतैः सपूरयन् ॥३८॥

विश्वभाविशिवकल्पशाखया, सिद्धमङ्गलविधिः सुनन्दया ।
प्राविशन्निजपराक्रमार्जितं, प्रीतिमानशनिवेगपत्तनम् ॥३९॥

सप्तभि कुलकम्

माङ्गलिक्यमनुरूपमिष्यते, चेष्टितस्य महतां महीभुजाम् ।
नूनमद्भुतरणाय चक्रिणे, सर्वराज्यमिति ते ददुर्नृपाः ॥४०॥

येऽप्यनंसिषुरनल्पदर्पतो, नैव खेचरनृपा अपि प्रभुम् ।
तान्नदीरय इवैष नम्रतां, वेतसानिव हठादवापयत् ॥४१॥

तत्र भूभृति महोदयेऽपरः, कोऽप्यभूत् क्षितिपतिर्न सत्प्रभः ।
चण्डरोचिषि नभः प्रसाधयत्यन्य उल्लसितभाग्रहो हि कः ॥४२॥

अभ्यषिच्यत स शेषखेचरैः, स्वप्रभुत्व उदितोरुविक्रमः ।
को हि सद्गुणगुरुर्न धार्यते, माल्यवच्छिरसि मानितैरपि ॥४३॥

नाऽपरस्य महतोऽपि चक्रिणः, कस्यचिद् गिरिवरेऽभिषेचनम् ।
एवमत्र खचरैर्निशम्यते, सत्तमा ह्यसमभूतिभाजनम् ॥४४॥

चन्द्रकान्त इव रत्नसन्ततौ, मालतीव कुसुमेषु वर्यताम् ।
खेचरेषु दधदत्यवाहयत्, तत्र सौख्यनिचितः स वासरान् ॥४५॥

---

१. उदयप्राप्तम् ।

भानुवेगनृपतिः कदापि तं, प्राञ्जलिः प्रणयतो व्यजिज्ञपत् ।
रूपदत्तकमलाचपेटिकाः, सत्कला हि मम सन्ति कन्यकाः ॥४६॥

वल्लभा बकुलमत्यपश्चिमाश्चारुभाश्च शतसंख्ययान्विताः ।
रोहिणीप्रभृतिविद्यया चिरं, त्वत्तनूरिव नितान्तमाश्रिताः ॥४७॥

व्याहृता मदनुयोगपूर्वकं, ज्ञानिना सुमुनिनाऽप्यमूरिति ।
तुर्यचक्रिकरपङ्कजालिनीश्रीधरा हि समयेऽत्र भाविनि ॥४८॥

तन्महाज्वरहरोरुतक्षकोद्दीप्ररत्नजलदेशनोपमम् ।
सुष्ठु दुष्करतया मुनेर्वचो, व्याकुलोऽहमभवं निशम्य च ॥४९॥

चक्रिणा क्व नु समागमो मम, क्वाऽर्थना क्व च तदर्थसङ्गतिः ।
इत्यनल्पकुविकल्पकल्पनैः, कष्टवानुषितवानियच्चिरम् ॥५०॥

अद्य तु स्वयमिहागमत् प्रभुर्मत्प्रसूतिसुकृतैरिवाऽऽहृतः ।
तत्करोतु सफलां ममाऽर्थनामङ्गजा तरुणिमोद्गमैः समम् ॥५१॥

मत्पितुर्वचनतः सदक्षिणः, कन्यकाशतमशीत[1]-मन्मथम् ।
पर्यणेष्ट हरिणाङ्कमण्डलव्याजविश्वविलसद्यशश्चयः ॥५२॥

स प्रजाकुमुदिनीसुधाकरो, बन्दिबालजननीपयोधरः ।
वैरिमानसकुटीदवानलः, कामकेलिवलभीशिखावलः ॥५३॥

काव्यसद्गुणनिबद्धभारती-शारिकारुचिरवक्त्रपञ्जरः ।
साधुसङ्गसुविविक्तहृद्गृहप्रस्फुरद्विमलतत्त्वदीपकः ॥५४॥

जैनबिम्बमहिमोद्भवन्महापुण्यशैलदलितैरिवाहितैः ।
नष्टमूर्त्तिभिरबाधितप्रजा - सन्ततोत्सवशतप्रमोदितः ॥५५॥

सर्वतोऽपि घटमानसम्पदां, सुभ्रुवां च परिभोगलालसः ।
यक्षराज इव तत्र तस्थिवानीश्वरप्रकृतचित्तनिर्वृतिः ॥५६॥

चक्कलकम्

अन्यदाऽगमदथो हिमागमः, प्रेयसीमततमप्रियागमः ।
शारदार्ककरतापितोर्वराशान्तये ध्रुवमतीव शीतभाक् ॥५७॥

---

१. उद्दीप्त ।

यत्र वाति पवनः पतद्धिमासारसीकरभृदप्यहर्निशम् ।
प्रोषितप्रियतमामनःकुटीकोटरेषु दवतां दधत्पराम् ॥५८॥

गन्धतैलघनकुंकुमद्रवौ, सान्द्रकञ्चुकसुसिक्थका-[1]दरौ ।
हैमनं व्रतमिवाऽनिशं दधुर्यत्र सोष्मवपुषोऽपि योषितः ॥५९॥

ईषदुन्मिषितरोध्रकुड्मलं, कन्यकास्तनरुचिं दधाति यत् ।
तेन तस्य परिरम्भलोलुपः, कुन्दमेति न हि यत्र षट्पदः ॥६०॥

दह्यमानघनसारचन्दनोद्धूतगन्धसुभगैः शुभानलैः ।
स्पर्शदत्तदयिताङ्गसम्मदै-र्यत्र भान्ति निचिता हसन्तिकाः[2] ॥६१॥

तत्समीपगनिजप्रियामुखालोकमोदभरबद्धसकथाः ।
ईश्वराः सुरतकेलितोऽधिकं, यत्र सौख्यमलभन्त कामुकाः ॥६२॥

यत्र शीतजलमज्जनैः समं, रात्रिषु क्वणितदन्तवीणया ।
पार्वतीमिव भजन्ति कन्यकाः, शेषयोपिदधिरूपसम्पदे ॥६३॥

कुन्दहाससुभगाः प्रियंगुभि-र्भूषिता अपि वनान्तभूमयः ।
दुर्भगा इव ददुर्मनो मुदं, यत्र पान्थनिवहायनेक्षिताः ॥६४॥

प्रौढपुष्पलवलीसमागमे, यत्र षट्पदविटोऽप्यजीजनत् ।
पुत्रिकामिव वियोगिनीमनो-मन्दिरानिशविलासिनीं रुजम् ॥६५॥

यत्र पक्वबदरीवनश्रियः, पद्मरागशकलद्युतिद्विषः ।
विप्रयुक्तपथिकस्फुटद्वृदां, भान्ति शोणितमहाहवा इव ॥६६॥

यत्र नूनमसमेषुणा धनुः, स्वं सुदुर्बलमवेत्य नूतनाः ।
सज्जिता विरहिणीमनोभिदे, मञ्जुलाः शितिमहेक्षुयष्टयः ॥६७॥

स्निग्धसान्द्रहरितैर्यवांकुरैरात्तनीलघनकञ्चुका ध्रुवम् ।
बालिकेव रुरुचे हिमागमश्रीरदृष्टविकसत्पयोधरा ॥६८॥

केकिनां न हि [3]शिखण्डमण्डलं, नाऽपि पञ्चमकलापिकीरवः ।
एकको मरुबकः समुल्लसन्, यत्र मोदयति सर्वकामिणः ॥६९॥

---

१. अधरादियोग्यं मधूच्छिष्टम् । २. अग्निशकटिकाः । ३. पिच्छ ।

मित्रवच्च शिशिरोऽपि तच्छ्रियं, संपुपोष कलयाऽतिशायिभिः।
साम्बुशीकरसुचण्डमारुतैः, पुष्पितैर्दमनकैश्च चारुभिः ॥७०॥

सोष्मपीनकुचगाढसङ्गमं, सद्रसायनमिवैष कारयन्।
कामिनां विनयति स्म दूरतस्तीव्रशीतमयमामयं निशि ॥७१॥

द्राघयत्यतितरामयं निशाः, सन्तताऽऽप्तरतकेलिर्निभरात्।
सर्वकामिमिथुनान्महाशिषो, लब्धुकाम इव कामसम्मतः ॥७२॥

भूरिधूमपटलेन सन्दितं[1], नक्तमावसथसञ्चयं व्यधात्।
शीतभीतित इवात्तवाससं, चण्डवायुपरिकम्पितं हि यः ॥७३॥

तत्र चक्रभृत एणचक्षुषो, गन्धतैलकुसुमाढ्यकुन्तलाः।
चक्षुषामिव जनस्य काम्यतां, सन्दधुर्मधुलिहामपीक्षिताः ॥७४॥

कुंकुमाविरलरागरञ्जिताः, स्वर्णचूर्णरुचिरत्विषो बभुः।
काञ्चनाचलविलासभित्तयो, नूतनातपनिषेविता इव ॥७५॥

सन्मथोष्मनिचितानपि स्तनानावरोषत सुपीनकञ्चुकैः।
सप्रतापमपि हृद्विबाधकं, नाऽपि धत्त इह कः सचेतनः ॥७६॥

ताभिरङ्गजविहारभूमिभिः, सार्द्धमुद्धतरसो हिमागमम्।
वीतशीतविकृतिर्वसंतयंस्तुर्यचक्रभृदुपालल[2]-च्चिरम् ॥७७॥

इन्द्रियौघसुखसन्ततिप्रदा, अप्यपूर्वललिताक्षिविभ्रमाः।
तस्य नाकिललनाजितः प्रियाः, स्वर्गतोऽप्यदुरिहाधिका मुदम्। ७८॥

कोष्णपीनकुचया सुनन्दया, प्रौढयौवनयुजा समेत्य तु।
शीतजं मदनदाहजं च तद्दुःखमौज्झदखिलं क्षणेन सः ॥७९॥

दीर्घिकासु विपिनेषु पर्वतेष्विन्द्रियामृतकणेषु कौतुकात्।
हेलयाऽथ विहरन् कदाप्यसौ, शैलमागमदमुं मनोहरम् ॥८०॥

अत्र चाद्य सुकृतद्रुमोदयाच्चक्रिणोऽपि भवता समागमः।
चण्डरोचिष इवाम्बुजन्मना, मीलिताक्षिदलशालिनाऽभवत् ॥८१॥

---

१. सम्बद्धम्। २. चिक्रीड।

श्रीमहेन्द्र ! मयकेऽतिलेशतस्त्वद्वयस्यचरितं प्रकाशितम् ।
श्रूयमाणमपि यज्जगन्मनः, केकिनो नवपयोदडम्बरम् ॥८२॥

यावदित्थमवदत् कुटुम्बिनी, चक्रिणो बकुलमत्यभिख्यया ।
विश्रुता सुरतमन्दिरान्तरे, तावदौज्झ्यत विभुः स निद्रया ॥८३॥

सार्द्धमाशु निजमित्रसुन्दरो, सैनिकैः प्रमदनादनिर्भरैः ।
चन्द्रमौलिरिव सत्परिच्छदः, शलराजमगमत्तमेव सः ॥८४॥

तत्र चावसरमाप्य कर्हिचिच्छ्छिष्यवन्निमित[1]-पाणिनालिके ।
श्रीमहेन्द्र सुहृदा प्रियवदोऽवादि साश्रु कुरुराजनन्दनः ॥८५॥

ग्रीष्ममुक्तसलिलाशयोत्पतन्मीनवालकविलासिसाम्प्रतम् ।
त्वद्वियोगशिखिकुण्डगर्भगं, वर्तते जनकयोर्द्वयं तव ॥८६॥

तं निशम्य गुरुमन्युमुद्धुरं, तत्र चाशु कृतराज्यसंस्थितिः ।
भानुवेगनृपति निजे पदे, सन्निवेश्य गिरितश्चचाल सः ॥८७॥

सावरोधबहुपौरखेचरः, खं विमानपटलेन संस्तृणन् ।
स्वर्णशङ्खरुचिरेण तद् ध्रुवं, स्वप्रतापयशसोश्चयेन सः ॥८८॥

नाकिनामपि समापयन् क्रियाः, संज्ञया श्रुतिपथे जडीकृते ।
योधमागधमृदङ्गकाहला - दुन्दुभिध्वनिभिरुद्धुरोद्धुरैः ॥८९॥

यावदेवमगमन्नृपेश्वरः, स स्वसैन्यविजितामरेश्वरः ।
नाऽतिदूरमथ मागधाधिपस्तस्य कौतुकमिति न्यदर्शयत् ॥९०॥

पश्य श्रीकौस्तुभेन्दुप्रभृतिहृतिभवन्मन्युनेवातिलोलत्-,
कल्लोलोत्ताल[2]-हस्ताहतिनिनदमहाभैरवोऽयं विषादी ।
अब्धिः सर्वस्वलोपाकुलगलितमुदश्चातुरीं गाहते स्राक्,
देव ! त्वद्वैरिनेतुर्गुरुगिरिविवरासङ्गिनः श्याममूर्त्तेः ॥९१॥

नृत्यद्विद्याधरस्त्रीकठिनघनकुचास्फालनस्रस्तहार -
श्च्योतन्मुक्तावलीभिः शबलितकटकोऽष्टापदाद्रेरभिख्याम्[3] ।
शश्वज्जैनेन्द्रवेश्मोत्सवविधिषु जनिष्वेव तीर्थेश्वराणां,
तादृग्लीलस्य [4]कर्षत्यनुपममहिमाऽष्टापदोऽयं धरेन्द्रः ॥९२॥

---

१. न्यस्त । २. उद्भट । ३. शोभाम् । ४. पराजयते ।

नाथ ! त्वत्पूर्वजानामय[1]-ममरगृहश्रीविलुण्टाकमूर्त्ते -
र्जैनागारस्य दासीकृतसलिलनिधेर्विष्णुपद्या[2] भ्रमस्य ।
निर्माणं मानवेच्छापथगलितमिदं दर्शयन्नद्भुत ते,
नूनं कर्मण्युदारे प्रदिशति नितरां वृत्तिमेवंविधे स्राक् ॥९३॥
दृष्ट्वा सम्भोगभङ्गिव्यतिकरसुभग खञ्जनद्वन्द्वमस्या-
स्तीरे भूमिं खनन्तः कनकनिधिमहालाभलुब्धाः किराताः ।
लभ्यं लब्ध्वापि देवाऽस्खलितकरयुजस्त्वत्प्रतापा इवैते,
गङ्गायानां रमन्ति क्षणमपि ललनालालिताङ्गाः समीरैः ॥९४॥
त्वत्स्त्रैणस्याऽऽस्यलक्ष्मी प्रविकचकमलैः कोकयुग्मैस्तनाभां,
कल्लोलैर्भ्रूविलासांस्तरलतरवपुः पश्यतस्ते मुषित्वा ।
सिन्धुर्भीत्येव देवान्तरिततनुलतातीरवीरुद्वितानै-
रेषा रेखायमाणा कुटिलगतिमती तस्करेव प्रयाति ॥९५॥
सोऽयं कश्मीरदेशः कनकरुचिमुखां यत्र कान्तामुखानां,
भूषायै केसराणि श्रुतियुगमलिकं चाऽनुविन्यासभाञ्जि ।
धृत्वा गन्धेन लक्ष्मीं मृगमदजयिनस्त्वद्यशःसौरभस्या-
ऽऽश्चर्यां मूर्त्तिं तु बिभ्रत्यरुणमणिरुचस्त्वत्प्रतापस्य देव ॥९६॥
नाथाऽनाथेयमुर्वी कुरुकुलतिलकं नूनमेकं विनेति,
ध्यायन्ती त्वां सखेदा दिनकरतनयाश्यामतां तां प्रपद्य ।
सम्प्रत्येषा नु कूजत्सितविहगकुलैः सप्रमोदा हसन्ती,
नूनं याति प्रवक्तुं गजपुरमभि ते किंवदन्तीं जवेन ॥९७॥
इत्थं पश्यन्ननेकं विकसितनयनः कौतुकं शक्रलीलः,
प्राप प्राज्यप्रतापो गजपुरमचिराच्चित्रकृच्चित्तभित्तौ ।
विश्वस्यापि स्वनाम्नो मदकलकरिभिः प्रांशुभिर्भूरिभिर्यत्,
संरुद्धाशेषमार्गं ध्रुवमनिशमभात् सत्यताख्यापनाय ॥९८॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते गजपुरप्रत्यागमनो
नाम द्वाविंशतितमः सर्गः ॥छ. ॥२२॥

१. अष्टापदः । २. गङ्गावर्त्तनस्य ।

तत्पिता जननतो महोत्सवं, सोच्छ्रयं प्रमदतो व्यधापयत् ।
आत्तराज्यपदवल्लभाङ्गजस्याऽऽगमात् किमपरं हि हर्षदम् ॥२४॥

तत्समागममुदो न सम्ममुः, पौरचित्तभवनेषु विस्तृताः ।
तद्यशांसि भुवनेषु भीतयो, वैरिवर्गहृदयेषु वा यथा ॥२५॥

तं महेन्द्रमपि मित्रमुज्जगुः, सज्जनाः सपदि मेलितप्रभुम् ।
सर्वतोऽभिमतकल्पपादपप्रापकं हि भुवि को न शंसति ॥२६॥

एवमुन्मुदि पुरे न्यवेश्यत, स्वे पदे स पुरुहूतशासनः ।
रञ्जितेन जनकेन तद्गुणैः, को हि पात्रमवधीरयेद् बुधः ॥२७॥

चक्रिणा तु वटबीजवत्तनु, प्राप्य तन्निजगुणैरवर्ध्यत ।
साधनेन सकलस्य भारतस्याप्तवृद्धिपरमा[1] हि सत्तमाः ॥२८॥

राज्यमाज्यवदकण्टकं कृती, गोसमुत्थमतिशायि सद्रसम् ।
स्नेहसारमतिपोषदं तनोः, सेवते स्म सुनिरामयो ह्यसौ ॥२९॥

बद्धहेममुकुटाः सहस्रशो, भूभुजोग्र्यमभिषेकमादधुः ।
सार्वभौमपदवीविभावनं, द्वादशास्य शरदः प्रमोदतः ॥३०॥

त्रिर्यथास्य न तथाऽभवन्नृपश्रीविधिस्तु महतोऽपि कस्यचित् ।
पाञ्चजन्यमपहाय किं हरे, रत्नमुद्वहति वा त्रिरेखताम् ॥३१॥

तच्चतुर्दशतयाऽस्य भास्वरं, रत्नजातमचिरादजायत ।
चक्रिभीतित इवाऽऽश्रितं सुरै - र्यन्नजय्यमपरैः सहस्रशः ॥३२॥

भास्करोऽप्यरुणमग्रतःसरं, संविधाय तिमिरं निकृन्तति ।
तद्वदस्य जयिनः सपत्नभिद्वेधसा व्यरचि सैन्यनायकः ॥३३॥

प्रातरुप्तकलमादिलावकः, सायमाविरभवद् गृहाधिपः ।
तस्य सैन्यसुकृतावनीरुहो, मूर्त्तिमानिव शुभः फलोदयः ॥३४॥

शान्तिकर्मकुशलः पुरोहितस्तस्य नूनमिति स क्षतामयः ।
वैरिदत्तनिखिलाधिसङ्गतव्याधिकोटिरकरोत् प्रजावनम् ॥३५॥

---

१. परायणाः ।

दन्तिराड् न नृपतिं गुहागतौ, मण्डलान्युभयतोऽप्यकारयत् ।
रोहणेन लघु किं नु तच्छलाच्छेषदन्तिषु विमाननां ददौ ॥३६॥
अश्वरत्नमपि तस्य तद्बभौ, यज्जवेन मरुतोऽभिभावकम् ।
तच्छलेन हरिणाऽवतारितं, वाहनं स्वमिव सर्वलक्षणम् ॥३७॥
विश्वकर्मकरणिः[1] सवर्द्धकिस्तस्य केन सुधिया न शस्यते ।
खेचराग्रलनदीद्वये स्थलीचारितां हि कटकस्य यो व्यधात् ॥३८॥
स्वावरोधपरिभोगसङ्करे, तस्य खिन्नवपुषः सुधाश्रियम् ।
यद्दधे निखिलभोग्यशेखरं, स्त्रीमिषेण तदभूच्च जीवितम् ॥३९॥
चक्रमक्रमनिर्वतिता हि तं, [2]चक्रवालविलसत्प्रभं बभौ ।
भानुबिम्बमिव तत्प्रतापतो, व्रीडितं सदुपसेवनोद्यतम् ॥४०॥
आतपत्रमपि तस्य चित्रकृत्, स्पर्द्धया गगनमण्डलस्य यत् ।
विस्तृतं ध्रुवमधाज्जलापदि, प्रीणयेत् कटकमन्यथा कथम् ॥४१॥
तस्य सैन्यनिवहस्य तावतः, पादपीठपदवीं दधद्भुवम् ।
यज्जिगाय तदरेणुकण्टकं, रत्नतां कथमुपैतु नाजिनम् ॥४२॥
यत्र चण्डमहसोऽपि कुण्ठता, खेचराचलमहागुहान्तरे ।
तत्र भासनपटुर्नवो रविस्तस्य शश्वदभवद्वशो मणिः ॥४३॥
भान्वनाशिततमस्तमोपहान्[3], दीप्रमण्डलमिषेण भास्करान् ।
सूत्रयन्त्यचलगान् बहून् विभोः, काकिणी विजयते स्म वेधसम् ॥४४॥
तत्कृपाण उदितप्रभोऽप्यभूद्, वैरिवर्गवनितामुखेष्वलम् ।
शोकपङ्कमृगनाभिमण्डनारम्भदम्भनिपुणः पुरो नटः ॥४५॥
गच्छतः स्थपुटभूसमत्वकृत्, वज्रतोऽपि निपतन् सुदारुणः ।
कालदण्ड इव वैरिखण्डनस्तस्य दण्ड उदभूदखण्डितः ॥४६॥
एवमस्य निधयो नवाऽभवन्, यक्षवामनयनाः क्षितीश्वराः ।
सोत्सवा जनपदाः सहस्रशो, नाटकानि च सदा महामुदे ॥४७॥

---

१. सदृशः । २. मण्डलेन । ३. पुस्तके तु '० तमस्तमापहान् इति पाठः ।

स्यन्दनाः करिवरास्तुरङ्गमा, लक्षणाङ्कवपुषश्च लक्षशः।[1]
कोटिशो कुटिलगाः पदातयो, ग्रामकाश्च नगराभिभावुकाः ॥४८॥

खेटकाकरपुरोरुपत्तन-द्रोणवक्त्रकमडम्बकर्वटाः ।
निर्जितामरपुरीविभूतयस्तस्य रेजुरभयाः सहस्रशः ॥४९॥

आधिपत्यमिति स प्रतापतः, पालयन् जिनमतेऽतिभक्तिमान् ।
पूर्वजन्मजमिवान्वभूदऽसौ, प्राप्य रूपमपरं भुवस्तले ॥५०॥

स्वीयकान्तललनौघलालितो, दानवानुपचिताऽङ्गसप्तकः[1] ।
नागकुञ्जर इवात्यवाहयत्, स क्षणार्द्धमिव वत्सरव्रजम् ॥५१॥

तैलरूषिततनोरभूषणस्याऽस्य कोचन कदाचिदेयतुः ।
[2]अग्रजन्मतरुणौ सकौतुकौ, सश्रमाविव किलाऽध्वलङ्घनात् ॥५२॥

द्वारपालकथितौ विलोक्य तौ, रूपसम्पदमतीतवाक्पथाम् ।
तस्य तौ तुतुषतुस्तरां हृदि, ब्रह्मणः[3] परमयोगिणाविव ॥५३॥

ध्यायतः स्म शुचिविस्मितेक्षणौ, तावहो ! दिवि सुराः स्वमूर्त्तिभिः ।
नाकमात्रकदृशः स्मयाचलं, किं वहन्ति मरुकूपदर्दुराः ॥५४॥

नागलोकललना अपि प्रियै-र्मर्कटैरिव तदङ्गना मुदम् ।
व्यर्थमादधति दुग्धवञ्चिता, काञ्जिकेऽपि रमते द्विकप्रिया ॥५५॥

तेऽणवोऽत्र परमाः प्रशस्यते, चैक एव स भुवि प्रजापतिः ।
येन रूपकमिदं विनिर्ममे, शिल्पिनं मयमतीत्य दूरतः ॥५६॥

अद्य जन्म सफलं विलोचने, दृश्यदृष्ट्यमृतलेखयाञ्जिते ।
यत्र रूपरुचिभाग्यसम्पदां, मन्दिरं महदयं विलोकितः ॥५७॥

इत्थमुद्गतमुदौ विलोक्यतावन्वयुंक्त[4] मधुराऽक्षरं विभुः ।
[5]भूमिदेवयुगलेन भूषितं, मन्दिर किमिदमद्य मामकम् ॥५८॥

प्रोचतुः प्रहसिताऽऽस्यपङ्कजौ, तौ नरेन्द्रमभिकीर्त्यते तव ।
रूपसम्पदसमा जगत्त्रये, क्षिप्तदेवदनुजेश्वरद्युतिः ॥५९॥

---

१. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबललक्षणम् । ४ पादशुण्डलिङ्गलांगूललक्षणानि च । २. ब्राह्मण । ३. परमात्मनः । ४. पप्रच्छ । ५. द्विज ।

कौतुकेन बत तां प्रपश्यतो-रावयोः समजनिष्ट सम्मदः ।
तन्निशम्य जलराशिवत्क्षये, स स्मयेन सुदृढोऽपि चाऽक्षुभत् ॥६०॥

गर्वपर्वतगतोऽब्रवीदसौ, तैलसिक्तवपुषो हि का द्युतिः ।
हैमनाम्बुकणपङ्क्तिऽम्बुजे, किं कदापि कमलाऽवतिष्ठते ॥६१॥

तन्मदीयतनुरूपदीधितिर्दृश्यतां सदसि चेत् कुतूहलम् ।
उन्मिषत्यहिमरोचिषोऽपि यत्, कोऽपि हन्त! महिमोदयाचले ॥६२॥

तौ विसृज्य कृततूर्णमज्जनोऽलङ्कृतिस्तबकिताऽखिलाङ्गकः ।
शुभ्रकान्तिकरधौततारका-वारचुम्बिनभसः श्रियं दधत् ॥६३॥

सोऽध्युवास मृगराजविष्टरं, सन्निविष्टमणिकान्तमुन्नतम् ।
कल्पवृक्षकलिताग्ररोहणश्रीधरं तदुपवेशने तदा ॥६४॥

चारुचामरयुगोपवीजितः, सिन्धुसिद्धसरितोर्द्वयेन च ।
यक्षबद्धमुकुटावनीश्वर-श्रेणिवारवनिताशतावृतः ॥६५॥

अङ्गरक्षशतदूतकौशिक[1]-व्यूहपत्तिकुलसकुलं सदः ।
आश्रयन्नधिरुरोह वज्रिणा, स स्वसभ्यपरिवारिणा तुलाम् ॥६६॥

आह्वयत् प्रमुदितः स तौ द्विजौ, वीक्ष्य चक्रिणमिमौ तु चक्रतुः ।
सैंहिकेयपिहितेन्दुमण्डलद्योति तत्र वदनाम्बुजं शुचा ॥६७॥

मस्तकं दुधुवतुः सविस्मयौ, तौ तदापहृतवातकिश्रियौ ।
चक्रभृच्चतुरबुद्धिरुच्चकैः, पृच्छति स्म किमितीदृशौ युवाम् ॥६८॥

ऊचतुः सुरगतौ सदा स्थिरा, रूपयौवनबलच्छविश्रियः ।
मासषट्कमवशेषमायुषो, यावदाहृतसुधारसादिव ॥६९॥

दृष्टनष्टसुभगाः क्षणे क्षणे, पुंसु ता अपि तडिल्लता इव ।
एतदित्थमिति कोऽनुयुज्यतामित्युवाच नृपराट् सुविस्मितः ॥७०॥

अङ्गमेव भवतोऽत्र साक्षिकं, किं दविष्ठमलिनै[2]-र्निदर्शनैः ।
हस्तगे प्रकटदीप्रकङ्कणे, को हि दर्पणधृतौ प्रयस्यति ॥७१॥

---

१. भाण्डागाररक्षक । २. व्यभिचारिभिः ।

सूक्ष्ममेतदवगम्यते कथं, तावपृच्छदिति पार्थिवेश्वरः ।
ऊचतुश्च विषये किलेदृशे-ऽप्यावयोः स्फुरति संविदुत्तमा ॥७२॥

एवमग्रजनिभाषितैर्नृपो, हास्यरत्यतिशयौ विदूरयन्[1] ।
संदधार डिमरूपरूपतां, कोऽप्रियश्रवणतो हि तुष्यति ॥७३॥

किं हि तत्त्वमिति मे निवेद्यतां, सम्यगेवमुदितौ नृपेण तौ ।
आहतुः सदसि नाटकेक्षणाऽऽक्षिप्तदृष्टिमनसो हि वज्रिणः ॥७४॥

सङ्गमाख्य उरुकार्यतः सुरः, सन्निधिं त्रिदिवतोऽद्वितीयतः ।
कृत्स्नदेवरुचिरूपसम्पदोदास्यदीक्षणगुरुः समागमत् ॥७५॥

द्वादशार्कपरिभावुकप्रभामण्डलेन पटकान्तिनाऽप्यधात् ।
तत्सभानिमिषवृन्दमन्तिके, कौतुकाद्धरिमिथाभ्यधुः सुराः ॥७६॥

अस्य रूपकमला महीयसी, सर्वतोऽपि कुत ईदृशी विभो ! ।
शुद्धमम्लपरिवर्धमानकं, नाम दुष्करमनेन यत्तपः ॥७७॥

तप्तमन्यजनने ह्यनुत्तमं, तस्य चारु फलिकेयमुद्ययौ ।
किन्तु साम्प्रतमणीयसीयमाश्वन्तकान्तिकमुपैष्यतोऽभवत् ॥७८॥

आदितस्तु सकल सुरालयं, न्यक्चकार परितः स्फुरन्त्यसौ[2] ।
ईदृशः किमपरोऽपि कुत्रचित्, कश्चनेति पुनरब्रुवन् सुराः ॥७९॥

प्राह शक्र उदितप्रभः प्रभुर्भारतस्य खलु हस्तिनापुरे ।
अस्त्यनीचकुरुवंशकेतनः कान्तताऽपहसिताऽखिलाऽमरः ॥८०॥

तस्य किङ्करपदे सुधाकरो, हृच्छयस्तु गलहस्तिकाश्रयः ।
पुष्पकाल उदयद् दयाऽऽस्पदं, कान्तिरूपसुविलाससम्पदाम् ॥८१॥

तं विधाय कृतकृत्यतासुखी, साम्प्रतं स्वपिति नूनमात्मभूः ।
नागलोकसुरलोकयोस्ततस्तादृशो न विबुधोऽपि जायते ॥८२॥

त्वन्नुतिं तत[3] इमां निशम्य नावप्रतीतित इहाऽऽगतौ सुरौ ।
वैजयन्तक-जयन्त-सञ्ज्ञितौ, निह्नवाविव विभोर्वचस्यलम् ॥८३॥

---

१ परिहरन् । २. तेजःसम्पत् । ३. शक्रात् ।

तैलदिग्धवपुषः श्रियं परां, पश्यतो पुनरभूदनादृतिः ।
तद्वचस्यनुपमस्य तेन[1] किं, ह्यस्य वर्णितमिति प्रतीपगा ॥८४॥

आस्थितस्य तु तवाधुना सदः, सत्वरं क्वचिदितो[2] जगाम सा[3] ।
बिभ्यतीव [4]सुमुखी पतिव्रता, वेश्मतो हि विटकोटिसङ्कटात् ॥८५॥

तत्त्वमेवमवगत्य भूपते, साध्यमात्महितमेव चिन्त्यताम् ।
बान्धवाविव विबोध्य तौ सुरौ, जग्मतुर्मधुकराभमम्बरम् ॥८६॥

चक्रभृच्चतुरधीरचिन्तयत्, स्वीयमङ्गमरुचि प्रलोकयन् ।
आशु रूपकमला कथं ययौ, स्वैरिणीव बहुधाऽपि लालिता ॥८७॥

वेगवाहिसरिदम्बुपादुका[5], श्रीयुजीह सकलेऽपि वस्तुनि ।
कुत्र मानसमहो निवेश्यतां, [6]सिन्धुसौध इव ही स्थिराशया ॥८८॥

नूनमेणनयनाः स्वलोचनैः, प्रेमचापलमुशन्ति[7] चञ्चलैः ।
[8]स्थामकामरविणा विशोष्यते, पल्वलाम्भ इव तापिनानिशम् ॥८९॥

नीचगामिचलवेष्टिचेष्टितैरुन्मदात्[9] स्वपितुरम्बुधेर्ध्रुवम् ।
श्रीरतीवचकिता पराङ्मुखी, स्थैर्यसत्तमगृहाधिवासयोः ॥९०॥

कुत्स्यविस्रतनगर्भदर्शनघ्राणतोऽति बहुनिर्विदाकुलम् ।
मानवान्तरुपयाति नो रतिं, जीवितं क्षणमितीव चञ्चलम् ॥९१॥

सार्वभौमपदवी च दूतिकेवाऽनिशं प्रथितदुष्कथाशता ।
दुर्गतिप्रवरयोषिता क्षणात्, सङ्गमं नयति मुग्धभूपतिम् ॥९२॥

स्वर्गदत्तविलसच्चपेटका, ये मुदाचिततयेष्टसङ्गमाः ।
तेऽपि चात्महतये द्रुतं ध्रुवं, ढौकिताऽहितशताः खला इव ॥९३॥

कर्णपादकदली[10] सुबालधीनुत्क्षिपन् मुहुरमून् प्रववत्यदः ।
नूनमात्मचलतां हि तच्छला, दन्तिपत्तिरथवाजिसर्वदा ॥९४॥

---

१. प्रभुणा । २. देहात् । ३. रूपसम्पत् । ४. रूपवती । ५. काष्ठमयोपानत् । ६. नदी । ७. भाषन्ते । ८. शारीरादिकं बलम् । ९. हर्षवतः । १०. वैजयन्ती ।

यत्कृते च समुपास्यते रणः, कालवेश्मवदतीवदारुणः ।
ते कपीन्द्रमुखवृत्त्युदुम्बरोत्पातिजन्तुभिदुराः खगोचराः[1] ॥९५॥

पत्तनादिविभुताऽपि वात्यया, साम्यमेति पुरुषं रजःकणम् ।
गर्वपर्वतशिरोधिरोप्य सा, तूर्णमेनमथ पातयन्त्यधः ॥९६॥

विद्यपूर्णतपनीयकुम्भक-श्रीविडम्बिबहिरुज्ज्वलत्वतः ।
यौवतं हरति कामिसूकरस्यात्र मानसमहो विपर्ययः[2] ॥९७॥

व्याधयोऽपि पटुतापहारिणो, दाववह्निविडतापकारिणः ।
तैरहर्निशमिह ग्रहैरिव, ग्रस्तशस्तवपुषः कुतः सुखम् ॥९८॥

सर्वमेवमशुचिस्थिरेतरद्दुर्गतेरनुपमं निबन्धनम् ।
क्षप्यते नवपतङ्गवज्जनिः, किं मयाऽत्र सजता दृशोः प्रिये ॥९९॥

पश्यताऽपि पशुनेव बालिशेनेदृशं भवभवं न वेदितम् ।
वस्तुविस्तृततमस्तया मया, कौशिकप्रतिकृतिं वितन्वता ॥१००॥

मामधन्यतममाप्तसम्पदो, हारिणं सुकृतदूरगत्वतः ।
धिग् धिगत्यरसपोषणच्छलात्, स्वस्य दुर्गतिरसप्रपोषकम् ॥१०१॥

कि पुरैः किमु गजाश्वपत्तिभि-र्भूरिभिर्विटजनोपयोगिभिः ।
नैकवाहनगृहादितो यतो-ऽन्यत्स्वयं बलवताऽपि भुज्यते ॥१०२॥

अल्पराज्यविभवस्य दुर्गतिश्चास्रवोपचयजा न मा स्म भूत् ।
अस्य नूनमिति चक्रितामदादुच्छ्रिता मम रुषाऽऽशु दुर्विधिः ॥१०३॥

कूटपातिहरिणस्य लुब्धकेनाऽऽहृतस्य शरणं यथा न भोः ।
तद्वदन्तकभटेन मे हठान्नीयमानवपुषोऽपि किं भवेत् ॥१०४॥

यो विहाय कुलटामिवेन्दिरां, लालितामपि परस्पृहावतीम् ।
अग्रहीद् व्रतधुरां महोक्षवन्नाभिनन्दनसुतः स शस्यते ॥१०५॥

मादृशैस्तु विषदिग्धपायसा, स्वादलम्पटतुलाधिरोहिभिः ।
भाव्यमित्यतुलदुःखदाङ्गना, भोगरागपरमै[3]-रिहास्यते ॥१०६॥

---

१. रूपादयः । २. मिथ्याज्ञानम् । ३. एकतानैः ।

तत्कुलीन इव भृत्य ईश्वरं, यावदुज्झति न मां वपुर्बलम् ।
तावदेतदतिदुष्करेऽपि सत्कर्मणि न्यसितुमेव साम्प्रतम् ॥१०७॥

इत्यशेषभवभाव्यसारता, ध्यानकोटिमयमारुरोह ताम् ।
योगिनाथ इव भूमिनाथतामैच्छदुज्झितुमसङ्गधीर्यया ॥१०८॥

आभिमुख्यमभजच्छिवालयद्वार उग्रचरणा तदैव सः ।
जातसाधनबला उदासते, [1]तद्ग्रहे न गुरुसाध्यसाधकाः ॥१०९॥

देहरूपगलनश्रुतेरपि, प्रोल्ललास स विवेककोरकः ।
तस्य यो विरतिभावनामयं, सौरभं समतनोद् विकासतः ॥११०॥

इति निरुपमनिर्विन्निर्ममत्वोऽपि विष्वक् ,
सगर इव स चक्री राज्यसंस्थां चकार ।
तनुजसचिवभृत्यैः स्वस्वकृत्ये नियुक्तै-
र्गुरुरिव मुनिनागैर्गच्छ वृत्तिं सुवृत्तः ॥१११॥

इति युगप्रवरागमश्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेशविरचिते
श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते देवागमनो नाम
त्रयोविंशतितमः सर्गः ।छ॥२३॥

---

१. साधनाङ्गीकारे ।

चतुर्विंशतितमः सर्गः

अष्टवासरभवो महामहो, घोषिताऽभयविधिर्व्यधाप्यत ।
तेन जैनसदनेषु सर्वतो, नापकृत्यचतुरा महाशयाः ॥१॥

कृत्यमन्यदपि तत्क्षणोचितं, सूत्रयन्नभिदधे स पार्थिवैः ।
प्रेमपूर्वमवरोधगुह्यकाशेषपौरनिधिनायकैरपि ॥२॥

नाथ ! किं वयमुपेक्षितास्त्वयाऽकाण्ड एव निविडागसो यथा ।
किं विहातुमुचितो निरञ्जनः[1], प्रेमवानपि हि मातुरङ्गजः ॥३॥

त्वां विनत्य नतवत्सल नतिं, क्वापरत्र मनुजे विदध्महे ।
किं प्रपीय हि सुधां सुधाभुजः, प्रीतिमादधति पल्वलाऽम्भसि ॥४॥

एषु केनचिदलङ्घि शासनं, तावकं किमु मदान्धशासनम् ।
को हि वासुकिफणामणिं स्पृशेदंऽह्रिणा सघृणधीः स्वजीविते ॥५॥

याचनस्त्वयि रतिः प्रियंकरे, सा न पुत्रपितृसुन्दरीष्वपि ।
पुष्कराणि जलजान्यपि प्रियं, भावुकं हि रविमेवमन्वते ॥६॥

तद्विधाय करुणां सुवत्सलो-ऽस्मासु तिष्ठ सुखयन् प्रजागृहे ।
प्रार्थिता न विमुखत्वमादधत्युन्नतप्रकृतयो हि कुत्रचित् ॥७॥

सत्यमित्यथ समर्थ्य तद्वचः, प्राह गौरवपुरस्सरं स तान् ।
क्वापि कोऽपि न मयि प्रतीपकृद्, ब्रह्मणीव परमे भवत्स्वहो ॥८॥

किन्तु सिंहत इवोद्भटाद्भवात्, त्रस्तमेण इव मे मनोऽधुना ।
वाञ्छतीह शरणं सुगह्वरं[2], तेन जैनचरणं यथा तथा ॥९॥

तत्र केनचिदिहान्तरायदे, नेह भाव्यमिति स ब्रुवन् पुनः ।
तैरभाणि नगरेऽपि न क्षमाः, स्थातुमङ्ग ! तव दर्शनं विना ॥१०॥

मन्दिरं वनति चन्दनं दवत्यर्कति व्यजनचारुमारुतः ।
और्व्वति प्रवरपल्लवास्तृति-र्नाथ ! वल्लभजनादृते यतः ॥११॥

---

१. निष्पापः । २, दुष्करत्वाद् गहनम् ।

इत्यनल्पकलजल्पितानपि, प्रोज्झ्य तान् सपदि सोऽप्रियानिव ।
बद्धहैमनृपपट्टसुन्दरेणा-ङ्गजेन स बलेन सङ्गतः[1] ॥१२॥

यानरूढललनाक्षितीश्वरा-ऽनेकपौरपरिवारितः क्षणात् ।
अन्तरुत्कटविवेकधारया, स्नापितः सुरभिवारिभिर्बहिः ॥१३॥

भूषितोऽन्तरमलैर्महागुणै-र्भूषणैश्च मणिहेमजैर्बहिः ।
तर्जितोर्जितरुचिद्युसद्गृह-श्रीविलासशिबिकाधिरोहभाक् ॥१४॥

गीतिमङ्गलविमिश्रदुन्दुभि-ध्वानरुद्धदिगनेकपश्रुतिः ।
[2]श्रौतधर्मधनशेवधेर्महा-म्भोनिधेश्चरणरत्नसम्पदः ॥१५॥

पापमूलमपहाय चक्रितां, सद्गुरोर्हि विनयन्धरप्रभोः ।
पादमूल उदपाटयद्भूरं, शुद्धशीलतपसस्तदेकधीः ॥१६॥

पञ्चभिः कुलकम्

ते त्वकृत्रिममहानुरागतो-ऽन्तःपुरावनिपशेवधीश्वराः ।
सर्वरत्नकटकश्रिया समं, नम्रशीर्षकमलाः पदे पदे ॥१७॥

मन्त्रचूर्णविवशीकृता इव, प्रौढशाठ्य ठकिता इवाऽथवा ।
प्रेमतन्तुपरिकृष्टमूर्त्तयो, नूनमेनमनुजग्मुरञ्जसा ॥१८॥

युग्मम्

एष राग इयमेव भक्तता, सर्वथार्पणमिदं च सत्प्रभौ ।
यद्विहाय गृहमप्यनारतं, निष्परिग्रहगुरोरुपासनम् ॥१९॥

मासषट्कमिति तेऽभ्रमन् भ्रमात्तन्निवर्तनकृते वृथा श्रमाः ।
याति जातु न रविर्दिशं हरे-र्वारुणीत इति नैव तेऽविदन् ॥२०॥

वीतविश्वविभवस्पृहस्त्वसौ, चक्षुषाऽपि समभावयन्नतान् ।
किं विदग्धतरुणीपतिव्रताश्चित्रिणः समदनान्निरीक्षते ॥२१॥

सर्वमद्भुतमहो महात्मनां, यन्न कृत्स्नकटकेन कस्यचित् ।
श्रूयतेऽनुगतिरेवमादराद्, दीक्षितस्य महतोऽपि भूतले ॥२२॥

---

१. अनुगम्यमानः । २. सम्पूर्णद्वादशाङ्गलक्षणः ।

[1]चक्रवालयतिचर्ययाऽचिराच्छिश्रिये स नृपसंयतस्तथा ।
एककास्खलितसद्विहारिता, योग्यतामभजतोत्तमां यथा ॥२३॥

अष्टमासमुखतीव्रसत्तपस्तापिनोऽस्य तपसः किमुच्यताम् ।
यत्र[2] षष्ठतपसो लघिष्ठता, पुद्गलेषु सकलेष्वणोरिव ॥२४॥

एक एव स परं प्रवेदको[3], लब्धयोः प्रवरभोगशोषयोः ।
येन[4] शेषनरराट् तपस्विनां, दास्यदीक्षणमदायि तत्क्षणे[5] ॥२५॥

कर्मणा सममशुष्यदङ्गकं, शान्तिरुग्रतपसा सहाऽपुषत् ।
तस्य शुद्धमनसस्तपोनिधे-र्वासरे शशिरविद्युती इव ॥२६॥

तस्य पर्युषितचीनकाभिधाऽन्नेन षष्ठतपसोऽप्यभूत्तदा ।
छागलाम्लतरतक्रसंयुजा, पारणाविधिरदीनचेतसः ॥२७॥

भूय एव स चकार तत्तपः, पारणाऽप्यभवदस्य तादृशो ।
दुर्विधेः प्रबलरोगपादपोद्भूतिबीजगुलिकेव कोमला ॥२८॥

जज्ञुरस्य तत उद्धुरा रुजः, सप्त सप्तशिखसच्छिखा इव ।
तापिका न बहिरेव किन्तु ताः, शश्वदन्तरपि कालकूटवत् ॥२९॥

कण्डूज्वरौ कासगलावशोषौ, भक्तारुचिः कुक्षिविलोचनार्त्ती ।
सप्ताप्यमी तस्य रवेरिवाश्वा रथ यथा प्राणगणं व्यकर्षन् ॥३०॥

आसीद् रोषणवृश्चिकेद्धदशनोत्तालो[6]-ल्ललद्वानर-
[7]प्राञ्चच्चापलवैभवप्रद उरुः कच्छूपिशाचीग्रहः ।
येनानारतमुग्रकोटिनखरैः कण्डूयनं क्रीडया,
लोको न क्षणदास्वपि स्वपिति सद्धैर्यो हि [8]तत्रापि सः ॥३१॥

यत्राङ्गं तापगर्भं सुहुतहुतभुजः संश्रयत्याशु लक्ष्मीं,
कम्पस्वेदावसादाः[9] क्षणमपि च रतेः संस्थितिं न क्षमन्ते ।
तत्र प्रौढे ज्वरेऽपि प्रतिसमयमसौ ध्यानधाराधिरोहात्,
क्लान्तिं नागाद् विरत्या सुदृढमबलयाऽऽलिङ्गितत्वेन शङ्के ॥३२॥

---

१. पुनः पुनरावृत्त्या । २. तपसि । ३. अनुभविता । ४. चक्रिणा । ५. भोगशोषानुभवप्रस्तावे । ६. उद्भट । ७. स्फुरत् । ८. कच्छूग्रहे । ९. ग्लानि ।

कण्टाबाधपटुः समस्तधमनिश्रेण्याहृतिप्रत्यलो[1],
विश्वांत्रावलिकृष्टिसृष्टिसुविधिर्नेत्राब्जशीतद्युतिः ।
कासः पाश[2] इवावरुद्धनिनदाध्वापि प्रभुर्नाऽभव-
त्तस्यात्मैकरति[3] त्वजीवितहृतौ योगिप्रभोर्जातुचित् ॥३३॥

ग्रीष्मे पल्वलवारिणि प्रियतमाङ्गेऽपि प्रियाऽसङ्गमे,
शोषो नारसतावधिर्भुवि भवन् दृष्टो ह्यदस्त्वद्भुतम् ।
यद्वक्त्राम्बुरुहान्महामृतकलां [4]निःशेषयन्नप्ययं,
शोषः पोषयति स्म संयमरसं तस्य प्रभोः प्रत्युत ॥३४॥

कामान्धस्य गुरूपदेश उदयद्भानावुलूकस्य च,
प्रेयस्याः प्रियविप्रयोग उपलास्वादे [5]हरेर्वा यथा ।
तद्वत्तस्य नितान्तनिर्वृतिरसा-[6]ऽऽध्मातान्तरत्वाद् ध्रुवं,
माधुर्योपगतेऽपि भोज्यनिवहे नाऽऽसीद् रुचिः सर्वथा ॥३५॥

सद्भोज्येन जिगीषुणेव विभुना स्वस्याश्रये शाश्वते,
संवीक्ष्येव कदन्नवैरिणमधिष्ठातुं तमुद्योगिनम् ।
तन्निर्वासनसोद्यमेन गणनाऽतिक्रान्तबाधाभरः,
प्रारेभे जठरे मुनेर्न हृदयं तेनाऽप्यकम्प्यस्य तु ॥३६॥

विद्धे वायसकीलकेन कलिते वोज्ज्वालदावानले-
नाघ्रातेव सुवृश्चिकेन [7]शमनेनेव क्रुधा लोलिता[8] ।
शश्वद्वाक्यपथातिगातिबहलाबाधाभराक्रान्तिभाक्,
दृष्टिस्तस्य तथापि नाद्यसमितिं संध्वंसते स्म क्षणम् ॥३७॥

सप्तस्वेषु गदेषु शेषपुरुष ह्येकोऽपि हन्तुं क्षमः,
सम्भूता[9] अपि त त्विमे न दुधुवुः पञ्चास्यमेणा इव ।
नात्युग्रा अपि सद्ग्रहा निजकरैर्मथ्नन्ति नाथं रुचां,
नो वा पूर्णसरित्प्रवाहनिवहाः संक्षोभयन्त्यम्बुधिम् ॥३८॥

---

१. पटीयान् । २. पाशोऽपि कंठाबाधादिकारित्वादिगुणो भवति । ३. व्यावृत्यबाह्यविषयेन्द्रियमनसः स्वात्मैकलीनत्वम् । ४. अपनयन् । ५. सिंहस्य । ६. पूरित । ७. यमेन । ८. प्रमर्दिता । ९. मिलिता ।

ज्ञानसत्त्वनिधिराचकांक्ष[1] स, व्याधिशेषसमुपागमं तदा ।
यन्नवेदनमृते स्वदुष्कृतस्याऽस्ति मुक्तिरिति वास्तवी श्रुतिः ॥३९॥

प्रागिवोग्रतप आदधे च स, [2]व्याधितोऽप्यतितरामखिन्नधीः ।
दैन्यमन्यवदुपैति सात्विको, नैव जातु विधुरे महत्यपि ॥४०॥

इत्थमस्य सहतो महारुजः, शुद्धभावशितखड्गधारया ।
दुष्कृतावनिरुहान्निकृतन्ततो, जज्ञिरेऽतिशयकल्पपादपाः ॥४१॥

ते च चारुमहिमानमुद्ययु-र्व्याधिसप्तकजयोद्भवा इव ।
सप्त तावदुपकल्पिताऽतुल-श्रीफलास्त्रिजगति प्रथामिताः ॥४२॥

स्पर्शौषधिर्मूत्रविडोषधीश्च, श्लेष्मामलं विप्रुडथ प्रतीकाः ।
आसन्निमेऽस्यौषधिभेदरूपाः, [3]संभिन्नसर्वश्रुतिता[4] च चित्रा ॥४३॥

अङ्गतद्भवमलादयोऽप्ययुः, सौरभं सकलरोगहारिताम् ।
तस्य किं हि न फलन्ति सत्तपांस्यादरेण विहितानि सत्तमैः ॥४४॥

आमर्षौषधिरस्य कामदुघया संस्पर्द्धमानाऽभवत्,
पाणिस्पर्शनमात्रकेऽपि हि यतः सम्पद्यते कुष्ठिनाम् ।
उच्छिन्नामयसम्पदुज्ज्वलमहासौभाग्यभाग्यश्रिया ,
सार्द्धं रूपरमाऽसमा कनकरुक्कान्ते वपुर्मन्दिरे ॥४५॥

विण्मूत्रादिमलान्यसौरभमपास्याऽस्य द्विरेफाङ्गना-
नन्दित्वं दधति प्रवुद्धवकुलोद्गन्धित्वतोयान्यलम् ।
चक्रुः स्पर्शवशाद् दृढार्शसमहाकण्डूतिपीडाभृतो-
ऽप्युल्लाघानिति तान्यवाप्नुयुरहो साम्यं कथं पङ्कजैः ॥४६॥

श्लेष्माऽप्यस्य सरुग्नराङ्गलगनेऽप्यासूत्रयन् कानकीं,
लक्ष्मीं [5]तद्वरधातुसङ्ग्रहमृतेऽभूद्धातुवादी नवः ।
किं चांशेन शिवालयं ह्यनुचकाराऽऽरोग्यमापादय-
न्नाजन्मा पुनरुद्भवेन महिमाम्भोधिः स किं वर्ण्यताम् ॥४७॥

---

१. अभिललाप । २. पीडितः । ३. परस्परमिश्र । ४. श्रुतिशब्देन श्रोत्रेन्द्रिय उपलक्ष्यते । ५. कनक ।

तस्याङ्गे बहिरुल्वणो मलभरः प्रस्वेदतः प्रस्रव-
न्नन्तः प्रौढसुरूढसंयमरसेनाऽऽप्लावितः पापराट्।
नूनं तेन निजानुषङ्गवशतः प्रापय्य पूतात्मनां,
चक्रे स्पर्शनिवर्त्तिताखिलमहारोगः सदा रोगिणाम् ॥४८॥

विप्रुट् तस्य महात्मनो नववयःस्तम्भं बलिध्वंसनं,
सर्वाङ्गीणविलिप्तितः शुचिसुधेवाधान्नृणां रुग्विणाम्।
चिन्तारत्नतुलाजुषां त्रिजगतोऽप्याश्चर्यचर्यापुषां,
वस्तूनां महिमा [1]विधेरपि हि न प्रातीतिकः[2] कश्चन[3] ॥४९॥

निःशेषा अपि तस्य केशकरजाद्याः सत्प्रतीकाः कथा-
तीतं गन्धमसंख्यरोगदमने चाऽऽपुः परं पाटवम्।
सूर्यस्याखिलदिक्समूहविलसद्द्योतस्तमस्काण्डहा-
प्रोद्यन्नद्भुतविश्रुतैकमहिमा न ह्येक एवांऽशुकः ॥५०॥

भूयांसस्तेन नादा युगपदुपनताः श्रोत्रवद्वीक्षणाद्यै-
रप्यक्षैर्गन्धमुख्या अपि च जगृहिरे तैरशेषैरशेषाः।
संभिन्नस्रोतसेति प्रतिकलममलज्ञानिनेवेद्धधाम्ना,
शक्तिः कस्येतरस्येत्यनुपमतपसोऽप्यन्यधर्मस्थितस्य ॥५१॥

इत्थं सप्त सुलब्धयो निरुपमं लब्ध्वा चिराद्दुर्लभं,
तं कान्ता इव सन्ततं समपुषस्तोषादनन्यस्पृहाः।
ये चाशीविषकोष्ठबुद्धिविभुताद्याः सम्पदोऽस्याऽभवं-
स्तासां कः कलयेत् प्रमां सुनिपुणोऽप्यब्धेर्मणीनामिव ॥५२॥

लब्धिसम्पदतिवर्द्धनेऽप्यसौ, तस्य शुद्धपरिणामभूपतिः।
नारराम सुकृतान्तरार्जनादुद्गतेच्छ इव विश्वभूतये ॥५३॥

उग्रघोरमहदादिसंज्ञितान्याचचार स तपांस्यनारतम्।
तानि यानि घनकर्मकानने, मत्तदन्तिकरदन्ततां दधुः ॥५४॥

---

१. विधातुः। २. प्रतीतिविषयः। ३. लोकोत्तरः।

तं समुत्सुकमतिं च निर्वृतौ, व्याधयस्तु नितरामपीपिडन् ।
इन्द्रदत्तनृपतेः सुतं यथा, शेषसूनव उदग्रमत्सराः ॥५५॥

सर्वथाङ्गपरिकर्मवर्जने, रुक्परीषहजये च जातुचित् ।
स्वःपतिः सुमुनिसंकथान्तरे, तं शशंस मुनिचक्रवर्तिनम् ॥५६॥

अप्ययमर्त्यशिखरी प्रकम्पते, भानुमानुदयतेऽपराचले ।
अम्बुराशिरवगाहते नभः, क्षोणिपीठमपि वाऽऽवर्तते ॥५७॥

दैवतो यदि तथापि तन्मनो, नान्यथा स्वनियमाद् विधीयते ।
देवदानवशतैः स नायकै-रप्यचिन्त्यबलवीर्यशालिभिः ॥५८॥

युग्मम्

भूय एव विबुधौ तथैव तावैयतुर्निजविभोः पराङ्मुखौ ।
वाक्यतः सुमधुरात् प्रियादपि, क्षीरतो ज्वरितबालकाविव ॥५९॥

वृद्धसच्छबरवैद्यरूपिणौ, तं महामुनिमुपेत्य तौ सुरौ ।
सादरं रचितहस्तकुड्मला-वूचतुश्चतुरवाक्प्रपञ्चनौ ॥६०॥

त्वद्वपुष्यसमरोगसम्पदो, यातना तु कृपयाऽऽवयोर्हृदि ।
अस्तमेति सविता हि बाध्यते, मानसं[1] तु विरहेण कोकयोः ॥६१॥

तत्कृपालुवर जल्प्यतां हि तं, तूर्णमात्मपरयोस्ततोऽभ्यधात् ।
सोऽस्थिरेण वपुषा चिरच्युते, वाऽहितेन पटुनाऽपि किं फलम् ॥६२॥

छन्दसां प्रणववद्व्रतश्रियां, कामिनीव जगतामिवाऽऽत्मभूः ।
इन्दुकान्तयशसा यथा न यो, मूलमेतदखिलार्थसम्पदाम् ॥६३॥

अस्य तेन वपुषो महादरात्, पोषणं परमबन्धुनीतितः ।
कार्यमार्यचरित त्वदग्रतः, प्रोच्यते किमिति तौ समूचतुः ॥६४॥

युग्मम्

प्राह साधुरतिपोषणेऽपि यद्, यात्यमुत्र पदमात्रमप्यमा ।
नात्मना प्रकटदुर्जनाकृतेस्तस्य कैव परमेह बन्धुता ॥६५॥

---

१. चित्तम् ।

व्याधयोऽपि मम कर्मसङ्करे, सत्सहायपदवीं[1] दधत्यमी ।
तत् त्यजामि विधुरे कथं हि तांस्तानुपेत्य समुपस्थितान् स्वयम् ॥६६॥

तौ पुनः प्रति जजल्पतुर्मुने !, धर्मवैद्यकपरौ लभेवहि ।
त्वां सकष्टमभिवीक्ष्य निर्वृतिं, सज्जनप्रकृतिभावतः कथम् ॥६७॥

क्षीयतां प्रकृतिरीदृशी सतां, यत्सदापि परदुःखदुःखिताः ।
धिग् विधिं तमपि येन निर्मितास्ते स्वकार्यविमुखाः शशाङ्कवत् ॥६८॥

तत्प्रसद्य वितर प्रतिक्रियादेशमाशु तनुवस्तनुं तव ।
येन तप्ततपनीयहासिनी, मा भवं पुनरभावि रुग्व्यथाम् ॥६९॥

तौ समूचतुरिति प्रतिक्षणं, यावदाशु स मुनिर्निजांगुलिम् ।
श्लेष्मणैव चकृवान्निघृष्यतां, तावदिद्धकनकद्युतिद्विषाम् ॥७०॥

नूनमंगुलिमदर्शयत्तयोर्नैषदीप्ररुचिमोज आत्मनः ।
किन्तु तीव्रमुद्भासयन्मुनिस्तद्विपर्ययतमोपनुत्तये ॥७१॥

बाह्यरुग्विटविलुण्टने पटुर्हृद्ट्योषिदिव मे प्रगल्भते ।
शक्तिरेव सुतपःप्रभावजा, तत्र चाङ्ग युवयोः किमर्थनम् ॥७२॥

सत्यमेव भिषजौ युवां यदि, क्षप्यतां मम तदान्तरो गदः ।
किं हि [2]जम्बुकवधे यशो हरेरित्यभाषत मुनिर्विरक्तधीः ॥७३॥

किं भवादपि गदः परः परः, कोऽपि यज्जयितया प्रतन्यते ।
वैद्यतात्मन उरुर्न भूधरो, यत्सुराधिपमहीधरादपि ॥७४॥

शक्तिरस्ति यदि वां प्रयत्यतां, सर्वथा तदुपशान्तये ततः ।
शेषसाधन[3]-पथातिगोद्यमी,[4] शस्यते हि रविवत्तमोपहः ॥७५॥

दार्ढ्यमेवमवगम्य चेतसस्तस्य कायपरिकर्मवर्जने ।
पर्वतादपि परं परीक्षकावौज्झतां तदपवर्तनग्रहम् ॥७६॥

प्राहतुश्च भिषजौ भवाऽऽमयध्वंसने न चतुरत्वमावयोः ।
किं भवेद् द्विरदकुम्भपाटने, पाटवप्रकटनं क्वचित् कपेः ॥७७॥

---

१. श्रियम् । २. शृगाल । ३. कारण । ४. अतिक्रान्ते उद्यमी ।

आन्तरामयहती तु धावते, शक्तिरप्रतिहता तवैव हि ।
शैलपक्षलवने प्रगल्भताऽन्यस्य कस्य भवति स्वरुं[1] विना ॥७८॥

श्रीमुनीन्द्रचरितेन्दुधामभिः, सप्रमोदहृदयाऽऽर्द्र[2]-कैरवौ ।
स्वं प्रकाश्य वपुरुल्लसद्द्युति-त्रैदशं नुनुवतुर्मुदाञ्चितौ ॥७९॥

येनाऽसंख्येयसंख्येष्वरिनिकरमवस्कद्य सद्यः करीन्द्र-
व्यूहाभं स्वीकृता श्रीर्मृगपतियशसा तस्य मुक्ताफलाभा ।
तामाधायोपभोग्यां पणयुवतिमिवाशेषपादातजात-
स्योच्चैः साम्राज्यलक्ष्मीर्निरुपधि बुभुजे स्वात्मनाऽनन्यतुल्या ॥८०॥

दत्वा हस्तं गले प्रागुपचितममतादासिकायाः सरोप,
सर्वस्वत्यागरागात्तदनुगलिरिवाऽऽचक्रमे शीलभारैः ।
बध्वा सद्ध्यानपाशैरपदयमधुना रुक्प्रतीकारहान्या,
दध्वसे येन देहेऽप्यकृतपरिपुषा सा महावैरिणीव ॥८१॥

सच्चारित्रस्य भारः शुचिहृदयतुलारोपितो वर्द्धमानः,
काम[4] कामं[5] क्रमेण प्रतिभरनिभमुत्तोलयामास कार्श्यात् ।
किञ्चाऽऽचिक्षेप मेरोरपि गरिमयशो दुर्वहत्वात् पृथिव्या,
अप्युत्क्रान्तोपमानो जगति गुरुतया यस्य वश्यात्मनेतुः[6] ॥८२॥

तस्योच्चैः सद्गुणौघामृतसलिलनिधेर्यद्गुणद्वन्द्वमेव,
प्राशंसन्नाकिनेता सदसि गुरुगिरा तत्तिरस्कारमाविः ।
चक्रे तत्त्वेन नूनं समहिमरुचिराऽसंख्यचन्द्रादिरत्न-
प्रोद्वोढुः शङ्खशुक्तिद्वयजननकथा वारिधेः का प्रशस्तिः ॥८३॥

क्वापि ज्ञानं न शील क्वचिदपि च तपः संयमो नैव सम्यक्,
लब्धिः कुत्राप्यनिन्द्या स्मयरयविमुखत्वं न तत्त्वेन दृष्टम् ।
इत्थं नैकत्र कुत्राप्यखिलगुणमणीरोहणत्वं विना त्वां,
कान्तत्वद्योतशैत्यान्यपर उडुपतेः कः स धामाऽपि दध्यात्[7] ॥८४॥

---

१. वज्रम् । २. कोमल । ३. नियमिम् । ४. अत्यर्थम् । ५. कन्दर्पम् । ६. स्वामी । ७. धारयेत् ।

वाक्ये नाथस्य नौ[1] यः समभवदसमोऽप्रत्ययः सोऽपि पथ्यं,
जज्ञे त्वद्दर्शनेनाऽपहृतमलमहाव्याधिना पुण्ययोगात्।
तत्सत्यैषा जनोक्तिः प्रवरतरभिषग्भेषजेन प्रवृत्तो-
ऽतीसारोऽप्युत्सवत्वं क्वचिदपि भजते भग्नविष्टम्भदोषः[2] ॥८५॥

धन्यावावां ययोर्वः शुभचरितदृशा[3] सौधसिद्धाञ्जनेन[4],
प्रापच्चक्षुर्विकासं कजमिव रविणा चित्तरत्नेन सार्द्धम्।
तद्भूयोऽप्याशु भूयाद्भवदमलपदाम्भोजदृष्टिर्मुनीशे-
त्युक्त्वा नत्वा च भक्त्या पुनरनुययतुस्तौ सुरौ नाकलोकम् ॥८६॥

सप्तवत्सरशतान्यसौ गदान्, सप्त तानिति दृढोऽतितिक्षत।
सप्तभीतिदहनाय बर्हिषः, क्लृप्तसप्तदहनाः[5] शिखा इव ॥८७॥

निष्कलङ्कमनुपालयंस्तपः, संयमं स यमिनां शिरोमणिः।
कान्तकीर्त्तिपटसिद्धि[6]-लम्पटो, दीर्घकालमपुनाद् वसुन्धराम् ॥८८॥

तत्तपोमहिमतो वने मृगाः, शान्तिमीयुरतिदारुणा अपि।
किं न याति सुकुमारतां दृषच्चन्द्ररुक्परिचयाद् घनापि हि ॥८९॥

तद्विहाय भुवि डिम्बडम्बराः, सर्वगा अपि न चेरुरुद्धुराः।
तच्चरित्रगुरुमन्त्रिणा दृढं, कीलिता इव निरस्तशक्तयः ॥९०॥

संयमश्रुततपःक्षमादिकांस्तस्य कः कलयितुं गुणान् क्षमः।
सर्वलोकपरमाणुकानिव, स्वच्छबुद्धिरपि यो न सर्ववित् ॥९१॥

जन्मकोटिनिचितानि दुष्कृतोग्रान्धकारपटलान्यपाटयत्।
तत्तपः शरदहस्करः क्रमान्निर्मलत्ववसतिर्दिने दिने ॥९२॥

वर्णलिङ्गगुरुयोगवर्जनैस्तुल्यतां दधदपि स्फुटं मया।
हीनमेव भवनेन बाह्यतो[7], ह्योष्ठदन्तपटलाद्भवज्जनि ॥९३॥

यत्तपः सुबहु मन्यते विभुर्मा मनोज्ञमपि सर्वथा न हि।
इत्यनादरभरादिवागमत्, तद्यशः सपदि दूरमम्बुधिम् ॥९४॥
युग्मम्।

१. आवयोः। २. आहारस्तम्भ। ३. दर्शनेन। ४. प्रधान। ५. ज्वलन। ६. निष्पत्ति। ७, वह्निप्रधान।

संसारे सारमस्मै सुकृतनरपतिः सत्पदद्वन्द्वमैन्द्रं,
चाक्रेशं च प्रसाद्य प्रमुदितहृदयो नूनमुग्रैस्तपोभिः।
सम्प्रत्युन्निद्रबोधेक्षणललिततनुं निर्वृतिं नित्यमोदां,
तामासन्नीचकाराऽसुखलवमपि यत्सङ्गतः क्षेप्स्यति द्राक् ॥९५॥
कौमारे ह्यर्द्धलक्षं प्रमदजलनिधिर्मण्डलित्वे तदेव,
प्रोन्मीलच्चक्रिभावे बत नवतिसहस्रीं समानां स चक्री।
दिग्यात्रायां सहस्रान् दश विरतिविधौ लक्षमेकं महात्मा,
सर्वायुस्त्रीणि लक्षाण्यनयदिति लसत्पुण्यलक्ष्म्यावगूढः ॥९६॥
भोगेभ्यस्तस्य नूनं सततमपि मनस्तृष्णगासीत् सुधर्मे,
दीक्षापर्यायतोऽन्ये यदमितसुमुदोऽप्यल्पमेते न भुक्ताः।
कालं कौमारकाद्या भवति हि महतां भाविकल्याणकानां,
दिष्ट्या प्रागेव चेष्टा [1]तदनुगुणशुभा श्रीजिनानामिवेह ॥९७॥
मन्ये द्वादशरूपिणीमविरतिं रक्षोऽङ्गनां ध्वंसितुं,
तस्या द्वादशशीर्षमुख्यनिविडाङ्गानि प्रपेष्टुं हि वा।
यद्वाऽऽराद्धुमशेषसूत्रतिलकान्यङ्गान्यहो द्वादशा-
ऽऽतेने द्वादशवत्सरान् स भगवान् संलेखनां सर्वतः ॥९८॥
कृत्वोग्रं वरपादपोपगमनं चालोचनापूर्वकं,
नासावंशनिविष्टदृष्टिरसकृत्सामायिकं चोच्चरन्।
आध्यायन् परमेष्ठिनः शुभमनाः पञ्चाप्यभीष्टप्रदान्,
पर्यन्ते शरणं जगाम चतुरः स श्रीजिनेन्द्रादिकान् ॥९९॥
आजीवमुज्जीवित[2]-शुद्धभावनिर्यास[3]-मापत्तमसौ तदानीम्।
स एव येनोपमितिं समागात्, सनत्कुमारो मुनिचक्रवर्ती ॥१००॥

इति विधिविहिताङ्गत्यागयात्रोऽप्ययासीत्,
निरुपमसुखधामस्थामतेजोनिधानम्।
प्रथमपरिचितत्वेनेव तीव्रेऽपि चीर्णे,
तपसि विकसदोजाः स्वस्तृतीयं स चक्री ॥१०१॥

---

१. कल्याणानुकारिणी। २. अतिवर्द्धितः। ३. परमकाष्ठारूपम्।

किमपि चरितमित्थं तुर्यचक्राधिनेतुः,
सुकृतकृतिफला[1]-विर्भावकं देहभाजाम् ।
व्यरचि लसदतुच्छोत्साहतस्तद्गुणौघ -
ग्रथनसलिलकेली कौतुकित्वान्मयैतत् ।।१०२।।

छन्दोलक्षणयोर्न शुद्धिरिह काप्यन्तश्चमत्कारिणी-
भक्तिर्या मम वर्णनीयसुमुनौ सैवानुचिन्त्या बुधैः ।
बालस्येव वचो [2]विविक्तिविकलस्यापि प्रणामे पदो-
र्लोलन्मस्तकपङ्कजस्य गुरुभिस्तद्वृत्तमोदावहैः[3] ।।१०३।।

इति युगप्रवरागम-श्रीमज्जिनपतिसूरिशिष्यलेश-
विरचिते श्रीसनत्कुमारचक्रिचरिते
शुभफलोदयो नाम चतुर्विंश-
तितमः सर्गः समाप्तः ।

छ । २४ ।

ग्रन्थाग्रं सर्गवृत्तानुसारेण २२०३, अनुष्टुप्प्रमाणेन तु ३३३१

समाप्तं चेदं श्रीसनत्कुमारतुर्यचक्रवर्त्तिमहामुनिचरितमिति ।

शुभमस्तुः ।

---

१. विपाक । २. विवेक । ३. आग्भिः ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

नमः श्रीजिनपतये ।　　　　नमः श्रीश्रुतदेवतायै ।

तुङ्गचान्द्रकुलकल्पशाखिनि, आजिनि प्रवरवज्रशाखया ।
सुन्दरामृतफलप्रदायिनि, प्राणिनां सुविधिना निषेविणाम् ॥१॥

अतीन्द्रियज्ञाननिधित्वतो यः, संस्मारितश्रीगुणधारिवारः ।
श्रीवर्द्धमानस्य गुरोरिहासी-च्छिष्येश्वरस्तस्य जिनेश्वराख्यः ॥२॥

यः श्रीदुर्लभराजराजसदसि न्यक्कृत्य चैत्यासिनो,
यत्याभासगुरूनुडूनि सवितेवादीदिपत्स्वं भुवि ।
नानातर्कमहाकथादिविशदग्रन्थप्रवृत्तिच्छलाद्,
यस्याद्यापि विसर्पति प्रतिपदं मूर्त्तेव कीर्त्तिः सदा ॥३॥

तत्सोदरोऽभूच्च स बुद्धिसागरः, सत्याभिधो व्याकरणादिपञ्चकम् ।
यः प्राच्यविद्वत्कृतितो विलक्षणं, चकार तत्कीर्त्तिवधूविगोपकम् ॥४॥

यः षष्ठषष्ठेषु तपस्सु पारणा-माचाम्लपूतामतनोन्निरन्तरम् ।
जैनेन्द्रसत्तर्कगृहीतिवासरे-ष्वन्यस्समारोहति तेन कस्तुलाम् ॥५॥

वृत्तेः प्रमालक्षणमाद्य एतयोस्ततान तैर्व्याकरणं तथाऽपरः ।
अनन्यसाधारणवृत्तयोस्तयोः, केनोपमा स्यान्नवशास्त्रकारयोः ॥६॥

जिनेश्वरस्यैव　गुरोर्विनेय-श्चन्द्रोपमोऽभूज्जिनचन्द्रसूरिः ।
संवेगशास्त्रग्रथनांशुजालैः,　प्रबोधनान्मानवकैरवाणाम् ॥७॥

नवानामङ्गानां गणममुमगाहन्त मुनयः,
पुराऽनेके किन्तु प्रकटितरहस्योऽस्य न भुवि ।
विना यं सद्बोधं समजनि विहायामरगिरिं,
सुधामन्यः सिन्धोर्विबुधविदिता कः समतनोत् ॥८॥

निःशेषशास्त्रार्थदृढाश्मगर्भ-सम्भेदितीक्ष्णोद्धुरबुद्धिटङ्कः ।
अजायतोपाङ्गविवृत्तिवेधाः, श्रीमांस्ततः सोऽभयदेवसूरिः ॥९॥

चित्रं चित्रं वितन्वन्नवरसरुचिरं काव्यमन्यच्च भूयः,
सर्वं निर्दोषमह्नो मुखमिव सगुणत्वेन पट्टांशुकश्रि ।
कान्तावत्कान्तवर्णं भरतनृपतिवच्चार्वलङ्कारसारं,
चक्रे माघादिसूक्तेष्वनभिमुखमहो धीमतां मानसं यः ॥१०॥

शिष्यो हि भूत्वापि जिनेश्वरस्य, जिनेश्वरेणाप्युपदिष्टमार्गम् ।
कथं नु नाङ्गीकरवै इतीव, यः प्राग्रहीच्छ्राद्धगृहा[1]-धिवासम् ॥११॥

तस्याऽभयदेवमुनीन्द्रलब्धचारित्रसम्पदः सुगुरोः ।
जिनवल्लभस्य गणयितुमलं गुणान् कः सुनिपुणोऽपि ॥१२॥

समजनि जिनदत्तस्तस्य शिष्योऽनवद्या-
तिशयशतसुविद्याधामनिष्काममौलिः ।
अविधिजलधिमज्जज्जन्तुजातस्य नाना-
विधिविषयकथाभि[2]-र्दत्तहस्तावलम्बः ॥१३॥

स्वच्छन्दाचार्यवक्रोत्पथकथकमहादुष्टवाक्कालरात्र्या[3],
निष्कारुण्यं समग्रे भविक[4]भविजगत्यक्षणे[5] ध्वस्यमाने ।
निर्भीकः सत्त्वभूमिः सकरुण इह यः सज्जसद्धर्मचक्रः,
शङ्के धात्रा धरित्र्यां सततमवनकृन्निर्ममे कृष्णमूर्त्तिः ॥१४॥

अलञ्चकाराऽस्य पदं महोभि-श्चन्द्रोपमः श्रीजिनचन्द्रसूरिः ।
यत्प्रातिभप्राप्तयशा इव स्वां, ययौ गुरुर्यत् परिकीर्त्तनाय ॥१५॥

रूपेण श्रीसुतोऽपि प्रवरदमनिधिर्ज्ञानवानप्यगर्वः,
सच्चारित्रोऽप्यदम्भ पृथुनिहततमा अप्यचण्डप्रभोऽभूत् ।
प्रायो भावाः कलङ्कस्पृश इह शशभृत्पङ्कजाद्याः शशाद्यैः,
शश्वद्विश्वाङ्कयोगच्युत उदितमहा एक एवावनौ यः ॥१६॥

तस्य प्रभोः पादसरोजभृङ्गाः, सद्वाक्प्रवाहेण निरस्तगङ्गाः ।
बभूवुरुज्जीवितशान्तिभिख्याः[6], शिष्योत्तमाः श्रीजिनपत्यभिख्याः॥१७॥

१, वसति । २. श्राद्धादिपरिहाररूपः । ३ प्रलयकालमहाभैरवरूपा चण्डिका । ४. त एव जगत् । ५. अप्रस्तावे । ६. उदञ्चप्रापितश्रमश्रीका ।

जगत्यसौ नास्ति कवित्वमार्गः, समोऽसमो वाऽपि यदीयवाण्या ।
यश्चक्रिणो दिग्विजये ध्वजिन्या, पन्था इवाभाजितशुद्धगत्या ॥१८॥

श्रीसङ्घपट्टान्वितपञ्चलिंग्या-वृत्तिच्छलात् स्वस्य सुबोधलक्ष्मीः ।
अप्राथि यैर्नूनमनन्यबुद्ध-निःशेषसूक्ष्मार्थविकासनेन ॥१९॥

भूभृत्समक्षं भुवि धर्मवादाः, प्रभावना यैर्बहवोऽप्यदर्पैः ।
यैराश्रिताः सिद्धजयाः समीक-क्रीडाः[1] प्रगल्भैरिव चक्रनाथैः ॥२०॥

सहस्राः षट्त्रिंशन्मितिरिह महान्यायजलधेः,
स यैरेकश्लोकक्रमवदवगाह्योऽपि निखिलः ।
तया वर्णावृत्त्या निशि तमसि शिष्यौघपुरतो,
मुदा व्याख्यातस्तान् कथमनुकरोत्विन्द्रसचिवः ॥२१॥

केचित् तर्कं न काव्यं [2]श्रुतगतिमपरे लक्षणं नैव सम्यक्,
ज्योतिःसच्छास्त्रमन्ये न गणितसहिताः शेषविद्या विदन्ति ।
एकैकप्राणभाजो गजभषक[3]-मृगाः सर्वशक्तीन् हरीन् वा,
वादीन्द्रा यान्मुनीद्रान्नृपसदसि सदाऽशक्नुवन्नावजेतुम् ॥२२॥

वादैः सूरिजिनेश्वरं शुचितपोभेदैश्च तद् भ्रातरं,
संवेगैर्जिनचन्द्रसङ्घ विवृतिप्रस्तावकं वृत्तिभिः ।
काव्यैः श्रीजिनवल्लभं विधिपथप्रख्यापनैः सर्वतो,
निस्तन्द्रा[4] जिनदत्तसूरिमनुकुर्वन्ति क्षि[तौ साधवः][5] ॥२३॥

तेषां लब्धयुगप्रधानयशसां विश्वोत्तमैः सद्गुणैः,
कश्चिच्छिष्यलवश्चकार चरितं तुर्यस्य चक्रेशितुः ।
[6] .... वसन्मुनिकथाश्रेयोविनोदे महा-
लाम्पट्यादपटिष्ठबुद्धिसचिवोऽप्येकान्तभक्तो गुरोः ॥२४॥

संवत् १२७८ ॥ वैशाखवदि ५ लिखिता ।

---

१. सङ्ग्राम । २. सिद्धान्तमार्गम् । ३. श्वा । ४. निरालस्याः । ५. प्रतौ तु 'शैष्य-धुरा" पाठो वर्तते । ६. 'धातः सन्यहाऽस्वसन्' पाठ आदर्शप्रतौ समुपलभ्यते ।

सर्ग २१, पद्य ५५

सर्ग २१, पद्य ५०

खड्गः
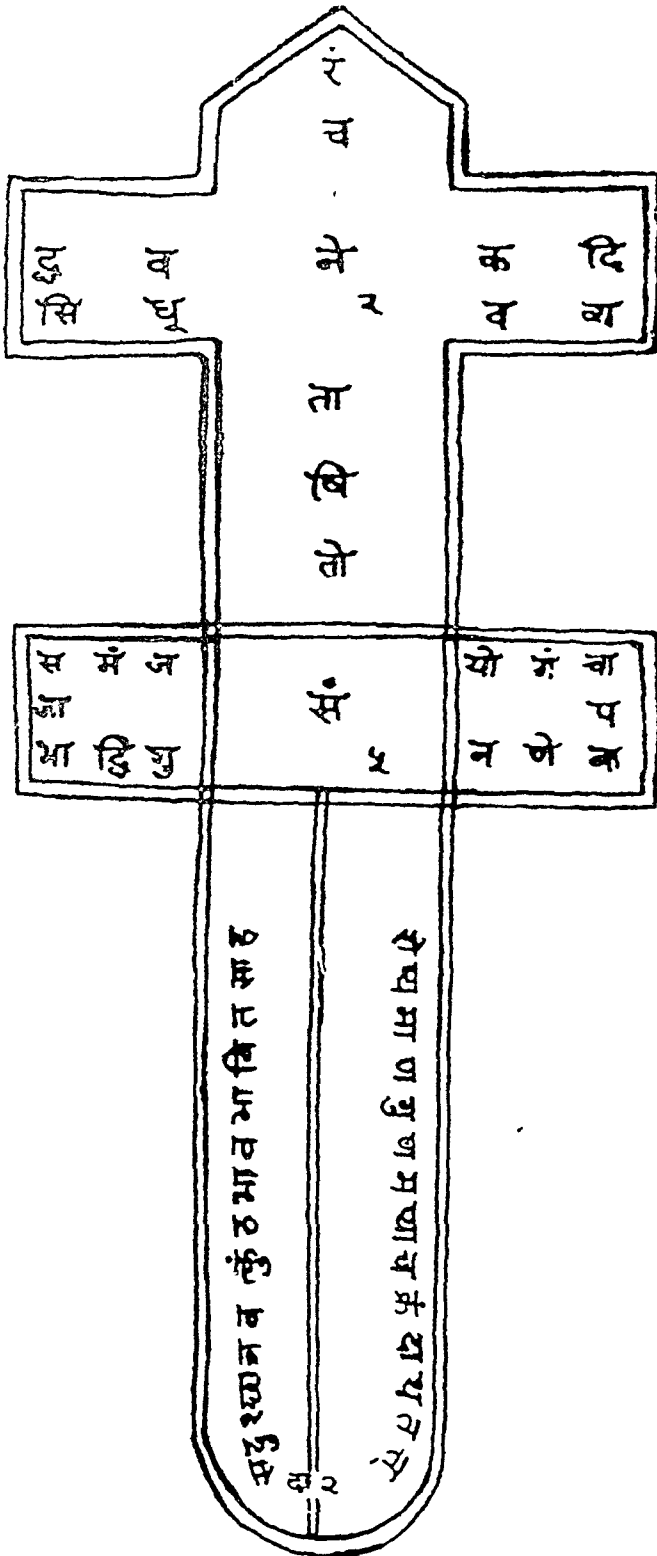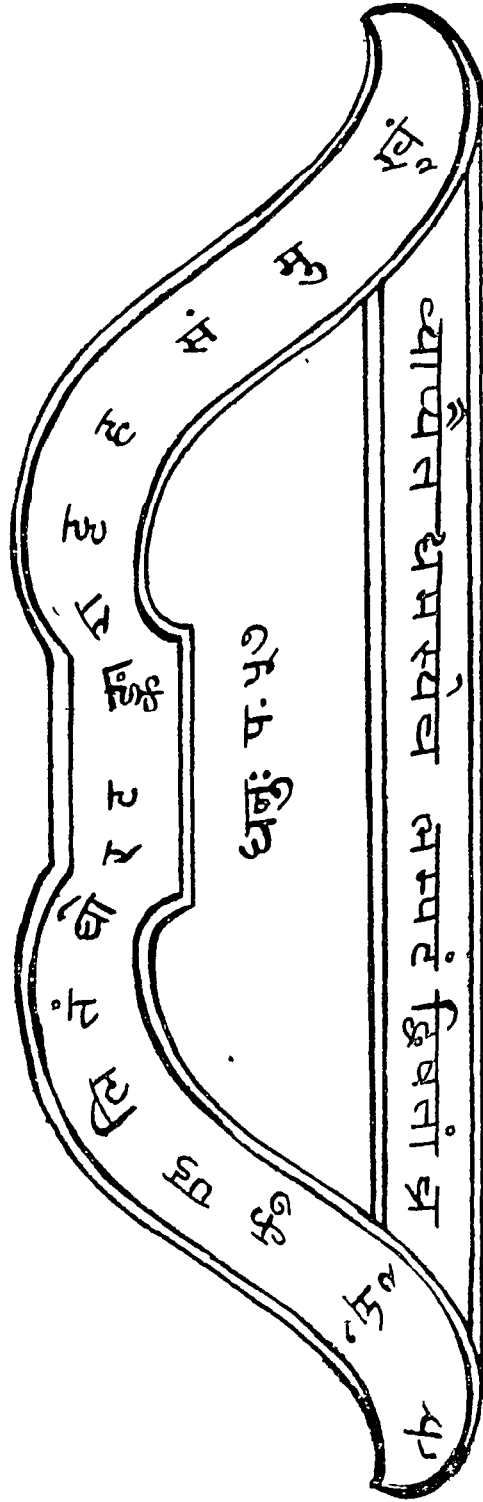
सर्ग २१, पद्य ५२, ५३

सर्ग २१, पद्य ५७

हलम्

सर्ग २१, पद्य ५६

सर्ग २१, पद्य ६१

शरः

सर्ग २१, पद्य ६७

छुरिका

निःश्रेणिका

सर्ग २१, पद्य ८१

चामरम्

सर्ग २१, पद्य ८४

कलशः
सर्ग २१, पद्य ८९
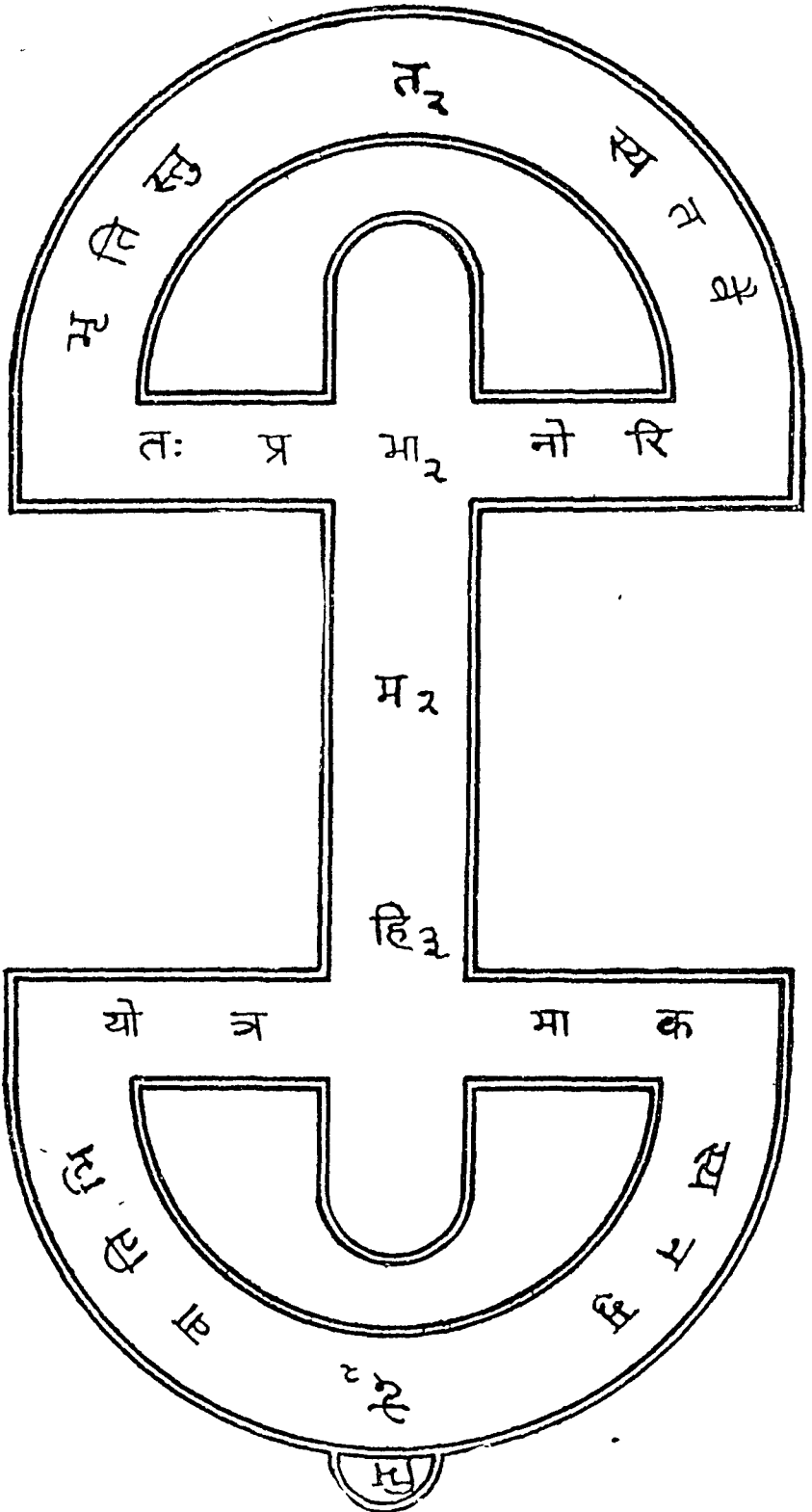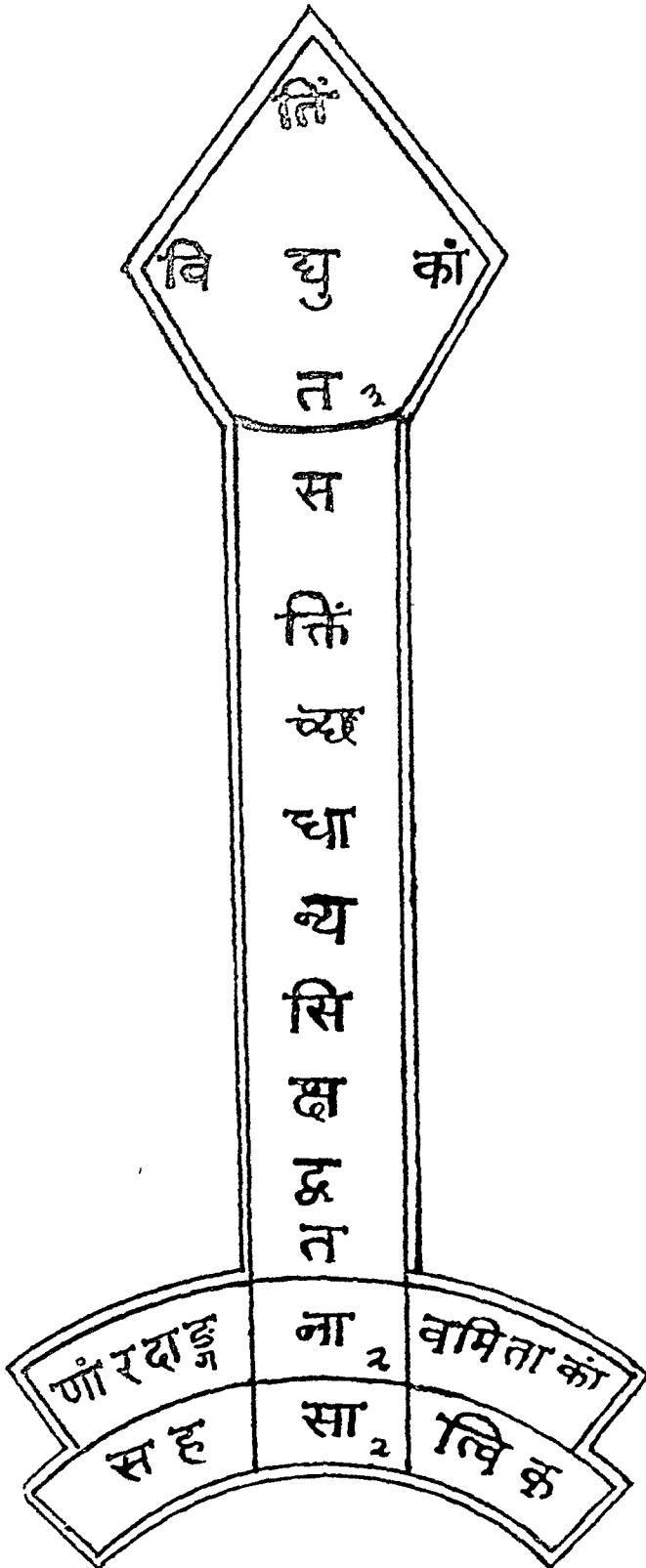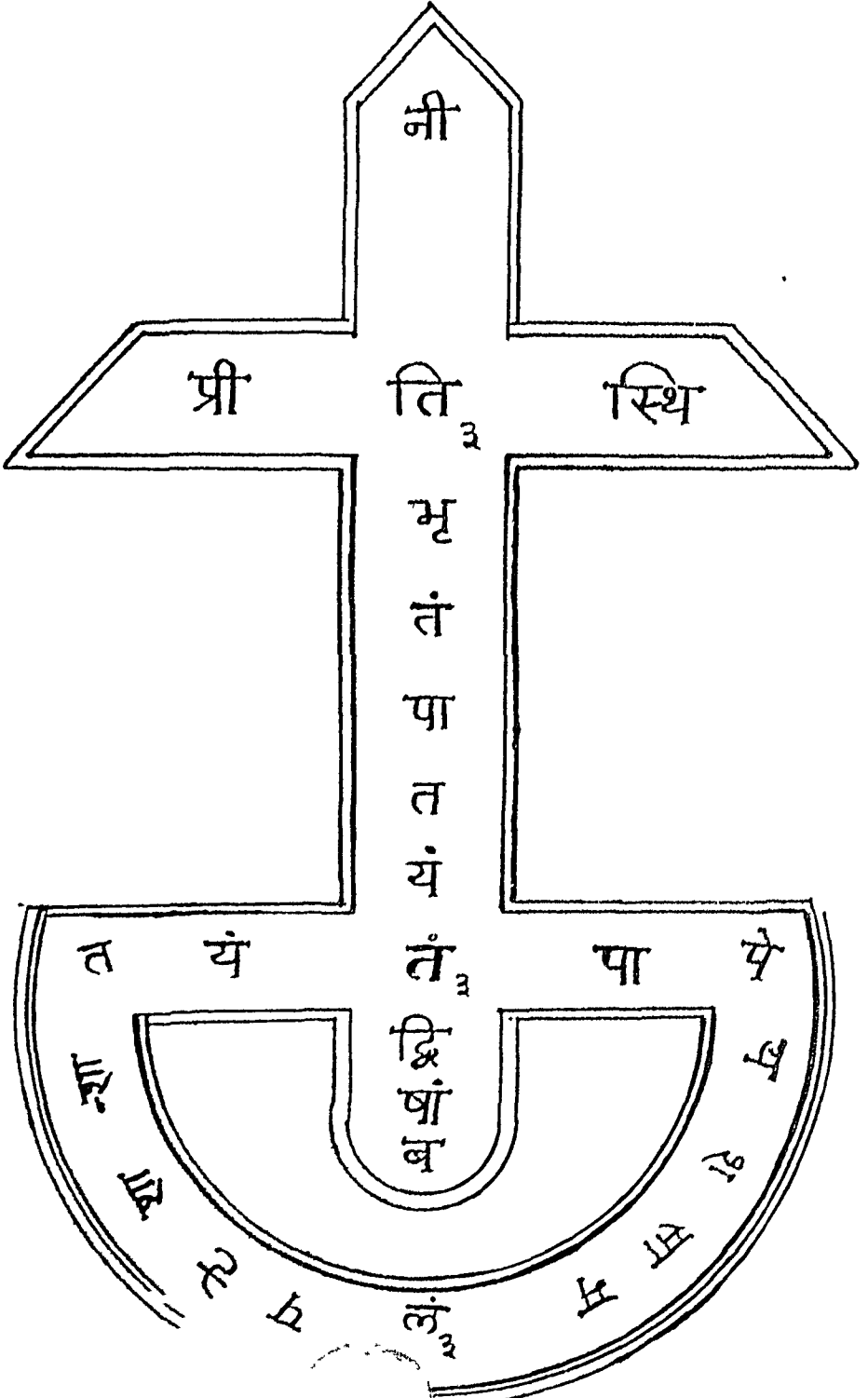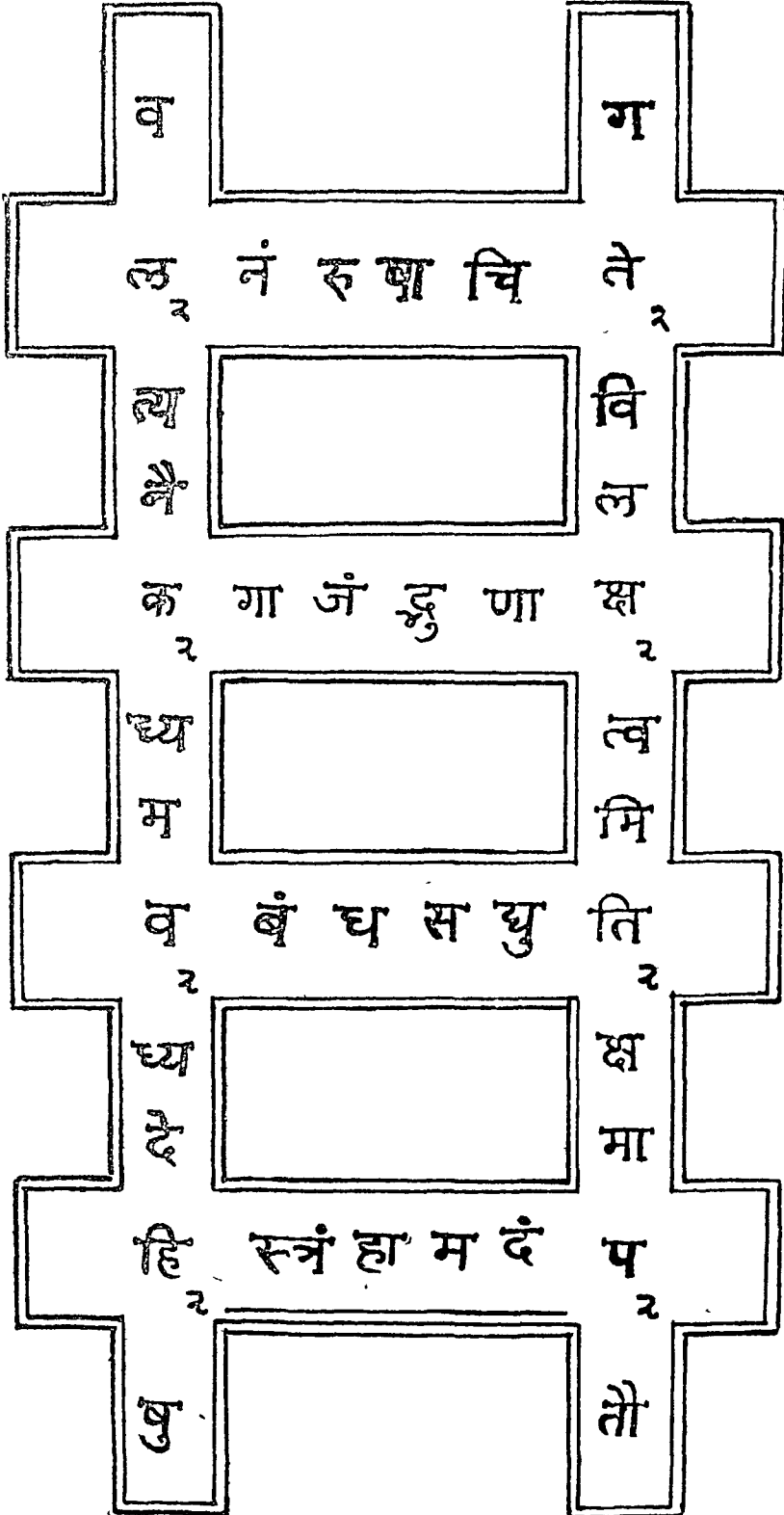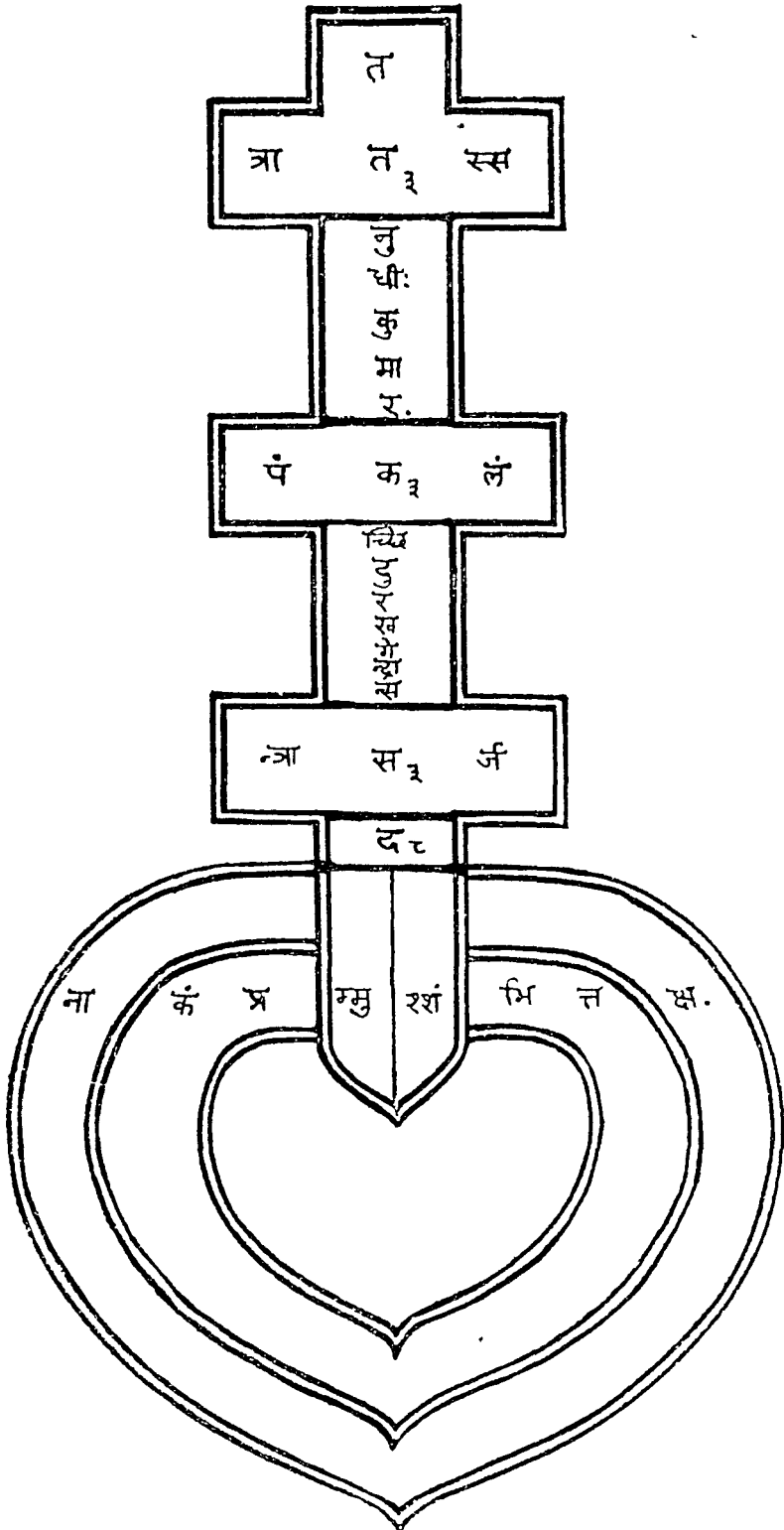
छत्रम्
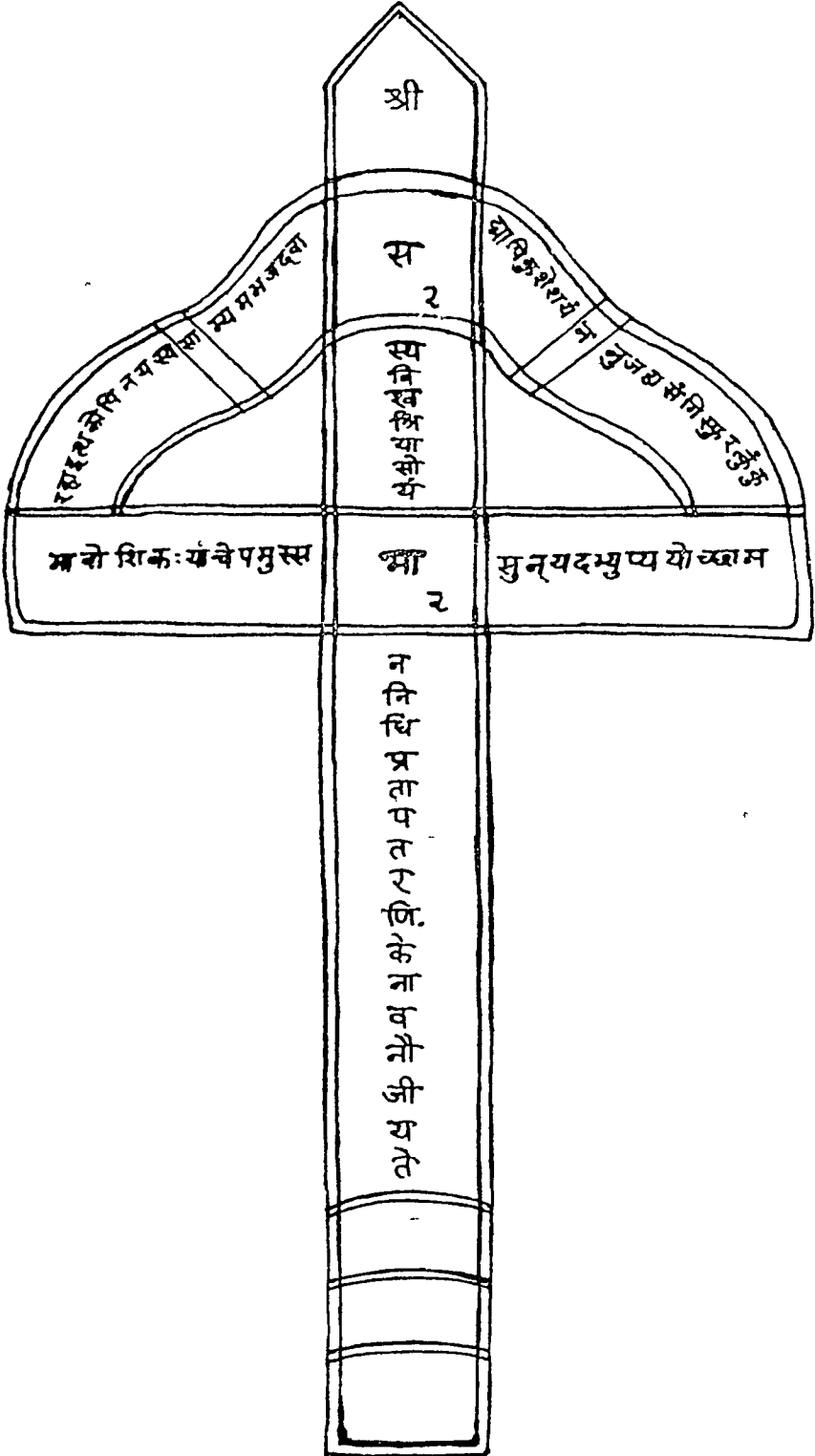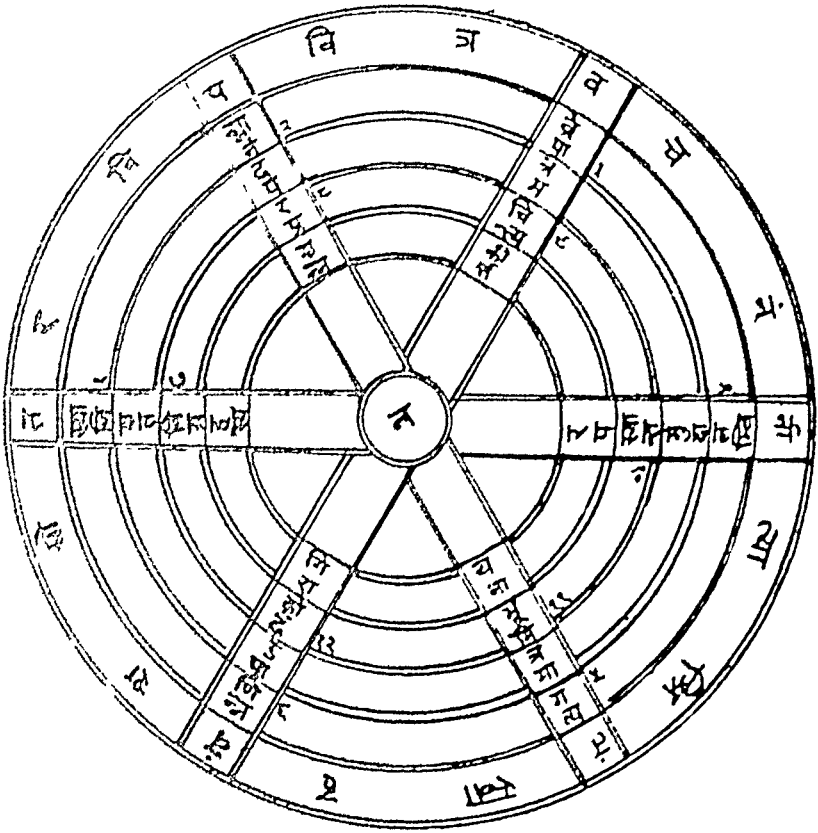
सर्ग २१, पद्य ९६

चक्रम्

सर्ग २१ पद्य १०४

चक्रम्
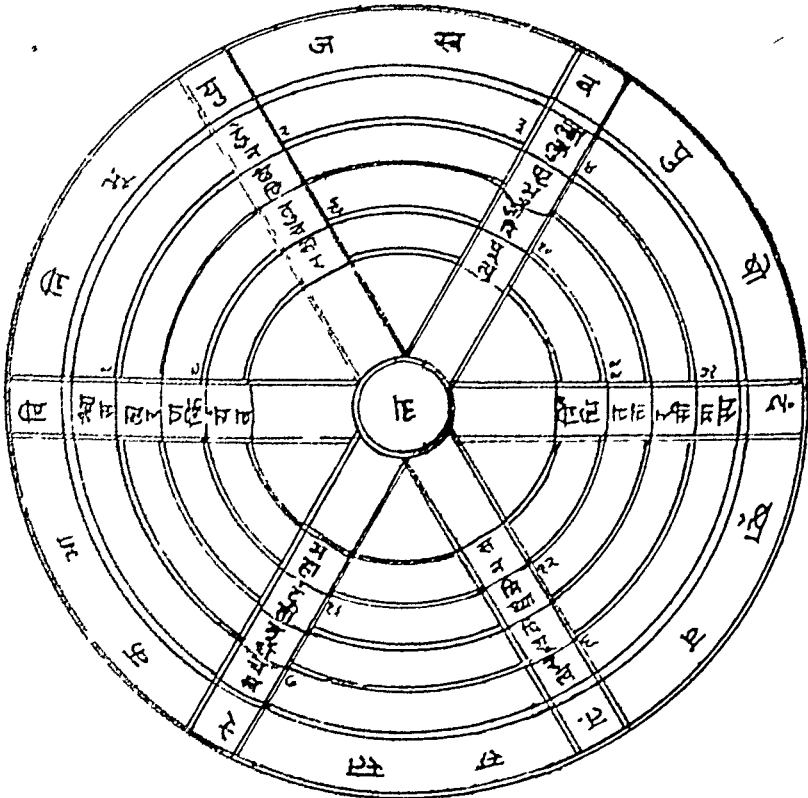
सर्ग २१, पद्य ११२

प्रथमम्परिशिष्टम्

सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यस्य

पद्यानामकाराद्यनुक्रमः

द्वितीयम्परिशिष्टम्

काव्य में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण एवं तालिका

[१. म. य. र. स. त. ज. भ. न. ल. ग. से मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण, लघु, एवं गुरु समझना चाहिये।[1]

२. सर्ग संकेत के पश्चात् अंकों को पद्यांक समझना चाहिये]

मात्रिक छन्द

छन्दनाम	लक्षण-प्रतिचरण मात्रायें	सर्ग एवं पद्याङ्क
१. आर्या	१२, १८, १२, १५.	नवम सर्ग में–१०; दसवें सर्ग में–३७; तेरहवें सर्ग में–२०, ६१, ७४, ७५ ७६, ७७, ७८, ७६, ८०, ८१; सोलहवे सर्ग मे–३५, ४८, ४६; इक्कीसवे सर्ग में-६६; प्रशस्ति में–१२.
२. गीति	१२, १८, १२, १८.	तेरहवे सर्ग में–४२.
३. उपगीति	१२, १५, १२, १५.	सोलहवे सर्ग में–३४.
४. युग्मविपुला	१२, १२, १२, १२.	तेरहवें सर्ग में–७३.
५. पादाकुलकम्	१६, १६, १६, १६.	तेरहवें सर्ग में–५२, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०६, ११०, १११.
६. द्विपदी	२८, २८, २८, २८.	तेरहवें सर्ग में–११२.
७. वैतालीय	प्रथम एवं तृतीय चरण में १४ मात्रा, अर्थात् कला ६, र. ल. ग. द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में १६ मात्रा, अर्थात् कला ८, र. ल. ग.	तेरहवें सर्ग में–१०३

वर्णिक छन्द

अक्षर ८—

८. अनुष्टुप्	इसके अनेकों लक्षण प्राप्त हैं किन्तु सामान्यतया	नवम सर्ग में–४६; दसवे सर्ग में–१–३६, ३८–७१, ७८–८६; ग्यारहवें सर्ग में–१६–५१, ५३,

---

१. छन्दो के विशेष ज्ञान के लिये द्रष्टव्य—
म. विनयसागर : वृत्तमौक्तिक (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
	लक्षण यह है—प्रत्येक चरण में पांचवा अक्षर लघु और छठा अक्षर गुरु होना चाहिये तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में सातवां अक्षर लघु होना चाहिये।	५४,५८–६१, ६५–८६; बारहवें सर्ग में–१–७४; सोलहवें सर्ग में–३१, ३२,३६,३८–४१ ४३–४६,५१; अठारहवें सर्ग में–५८; उन्नीसवें सर्ग में–१–८२; बीसवें सर्ग में– १–१०८; इक्कीसवें सर्ग में–१–६५, ६७–८०,८२, ८३, ८५–८८, ९०–९५, ९७–१०३,१०५–१०९.
९. विद्युन्माला	म म ग ग	तेरहवे सर्ग मे–४२–४९.
१०. प्रमाणिका	ज र ल ग	तेरहवें सर्ग में–९३.
अक्षर ९—		
११. भुजगशिशुसृता	न न म	तेरहवे सर्ग मे–८२.
अक्षर ११—		
१२. शालिनी	म त त ग ग	तेरहवें सर्ग में–३१–४०.
१३. भ्रमरविलसिता	म भ न ल ग	तेरहवें सर्ग मे–५३–६०.
१४. रथोद्धता	र न र ल ग	तेरहवे सर्ग में–२१–३०; बावीसवें सर्ग में–१९०; तेवीसवें सर्ग में–१–११०; चौवीसवें सर्ग में–१–३०, ३९–४४,५२–७९, ८७–९४; प्रशस्ति में–१.
१५. स्वागता	र न भ ग ग	तेरहवें सर्ग में–११३–१२१.
१६. दोधक	भ भ भ ग ग	तेरहवे सर्ग में–८३–९२.
१७. इन्द्रवज्रा	त त ज ग ग	पहले सर्ग में–२३,२६,३४,३७,३९,५२,५४,५९, ६३,७०,७५,७६,८१,८७; दूसरे सर्ग में–९,११, १९,२९,४७,५६,६४,६९,७२,७५,८४; तीसरे सर्ग में–९,१७,२४.५१,७२; चौथे सर्ग में–२१, २५,३८,४१,४५,५८,८४,९०; पांचवें सर्ग मे–२,३,६,१४,३०४८,६८ छठे सर्ग में–२१,३०, ३१,३३,६३; सातवे सर्ग में–१८,२२,२५,२९; ६७,६९,८०,८७; आठवें सर्ग में–१०,१३,१७, २१,३७,४९,५३,६१,६२,६५, ७०, ७७, ८५ ;

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
		नवम सर्ग में-९,२९,३९; चौदहवें सर्ग में-४९; सोलहवें सर्ग में-३३;सतरहवें सर्ग में-१७,१८; उन्नीसवें सर्ग में-१००, प्रशस्ति में-१९.
१८. उपेन्द्रवज्रा	ज त ज ग ग	पहले सर्ग में-८,११,१२,१७,३०; दूसरे सर्ग में-१,८,२३,२७,७०,७८; तीसरे सर्ग में-२१, ६०,८८; चौथे सर्ग में-९; पांचवें सर्ग में-९, १५,२१,३८,६४,९७,७५,७६; छठे सर्ग मे-१,३; सातवें सर्ग में-४; आठवें सर्ग में-८,८६; नवम सर्ग में-३,६,३३,३४,५८; ग्यारहवें सर्ग में-१,१८; चौदहवें सर्ग में-६० ; सतरहवें सर्ग में-४९; इक्कीसवें सर्ग में-८४.

इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के चौदह भेद—

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
१९. कीर्त्ति (१)	१ चरण उपेन्द्रवज्रा का और २,३,४ चरण इन्द्रवज्रा के ज त ज ग ग त त ज ग ग त त ज ग ग त त ज ग ग	पहले सर्ग में-१,५,१०,१८,२०,३२,७१,८५; दूसरे सर्ग में-२६ ५२,५३,६३, तीसरे सर्ग में-३३,४६,५४ ५९ ६७,६८,८७,९२,९७ ; चौथे सर्ग में-२३,४२,४८; पांचवें सर्ग में-१७;२६, ३३,५३,८२,८४,८९,९१; छठे सर्ग में-१४,२४, २९,३५,३६ ४४,५१; सातवें सर्ग में-९,५१, ८६,१०३; आठवें सर्ग में-२४,४२,४६,४८,८९ ९१; अठारहवें सर्ग में-६१,६३,६४; उन्नीसवें सर्ग में-१०१; प्रशस्ति में-२.
२०. वाणी (२)	१, ३, ४ चरण इन्द्रवज्रा और २ चरण उपेन्द्रवज्रा त त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग त त ज ग ग	पहले सर्ग में-९, १९, २४, ५०, ६४, ७२, दूसरे सर्ग में-३४, ३९. ४४; तीसरे सर्ग में-११, १५, २२, ३६, ५७, ६६, ७०, ७८, ८५; चौथे सर्ग में-१९, ३४, ३५ ७४; पाचवे सर्ग में-८, ११, १८, ५०, ६०,६२, ६६, ७३,७७; छठे सर्ग में-११,४५, ६२;सातवें सर्ग में-२, ५, १३, १४, ५८, ६५, ७०, ७३, ९७; आठवें सर्ग में-२४, ४२, ४६, ५८, ८९, ९१; नवम सर्ग में-११, ३७, ४४; चौदहवें सर्ग में-४५, सोलहवें सर्ग में-७२; सतरहवें सर्ग मे-२३, ३३; अठारहवें सर्ग में ६२, ७०; उन्नीसवें सर्ग में-९५, प्रशस्ति में २०.

छन्दनाम	लक्षण	
२१. माला (३)	१, २, चरण उपेन्द्रवज्रा; ३, ४ चरण इन्द्रवज्रा ज त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग त त ज ग ग	पहले सर्ग में—३५, ७८; दूसरे सर्ग में—१४, १६, ५०, ७३; तीसरे सर्ग में—१०, '२६, २८, ३२, ३५, ३८, ५३, ७१, ९६; चौथे सर्ग में—१६, ७८; पाचवें सर्ग में—३१, ३५, ५६; छठे सर्ग में—१९, २३, ४३, ५६; सातवे सर्ग में—५२, ५४, ७६, १०१; आठवें सर्ग में—५, ६, ७६, ८४; नवम सर्ग में—४२, ४३; चौदहवें सर्ग में—५०; अठारहवें सर्ग में—५९; प्रशस्ति में—१८.
२२. शाला (४)	१, २, ४ चरण-इन्द्र वज्रा ३ चरण उपेन्द्रवज्रा त त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग	पहले सर्ग में—५३, ६८, ७३; दूसरे सर्ग में—१८. २१, ४५, ६८, ८३; तीसरे सर्ग में—५, १२, ४१. ४५, ५०, ५६,९१; चौथे सर्ग में—८०, ८६; पाचवें सर्ग में—१, २३, ३२, ४३, ५५, ७१, ७८, ८५, ८६; छठे सर्ग में—२८, ४०, ५९; सातवें सर्ग में-८, २३, २६, ४८, ६१, ६६, ७२, ७३, ८३, ९३; आठवें सर्ग में ३, २८, ३१, ३३, ५४, ५९; नवम सर्ग मे—५; बारहवे सर्ग में—७३; प्रशस्ति मे—९, १७
२३. हसी (५)	१. ३. चरण उपेन्द्रवज्रा २, ४ चरण इन्द्रवज्रा ज त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग	पहले सर्ग मे—४, १३, २७, ८२; दूसरे सर्ग में—१२, २७, ५९, ७१; तीसरे सर्ग में—१६, १९, २०, ७९, ८६; चौथे सर्ग में—१४, ३७; पाचवें सर्ग मे—२२, ५४, छठे सर्ग में—७, ३४, ३७, ४६, ५५; सातवें सर्ग में—५५, ६८, ८५, ८९, आठवे सर्ग में—२०, २२, २७ ३४, ३५, ३६, ५५, ७९; नवम सर्ग में—७, १२, २०, ३५; तेरहवे सर्ग में—११;
२४. माया (६)	१, ४ चरण इन्द्र वज्रा- २, ३ चरण उपेन्द्रवज्रा त त ज ग ग ज त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग	पहले सर्ग में—६, ५१, ५७, ६७; दूसरे सर्ग में—३६, ४२, ६७, ७६, ८१; तीसरे सर्ग में—२५, ३१, ४०, ४७, ६१; चौथे सर्ग में—३०, ४०, ४३, ६५, ६८; पाचवे सर्ग में—८०, ८३; सातवे सर्ग में—७, ११, २८, ८४; आठवें सर्ग मे—१८. ५०, ७४, ८०, ८७, ९२; नवम सर्ग में—३८; ग्यारहवें सर्ग में—११, १७; बारहवें सर्ग में—७७, ७८; चौदहवें सर्ग में—५६;

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
		सोलहवें सर्ग में–६६; अठारहवें सर्ग में–१०; प्रशस्ति में–११.
२५. जाया (७)	१, २, ३ चरण-उपेन्द्रवज्रा; ४ चरण इन्द्रवज्रा ज त ज ग ग ज त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग	पहले सर्ग में–७, २५, २९, ४०, ४८, ४९, ७९; दूसरे सर्ग में–४, १०, १३, २०, ८२; तीसरे सर्ग में–४, २७, ३०, ४३, ५२, ७६; चौथे सर्ग मे–१,११, १२, २७ ६६,८३; पांचवें सर्ग में–७, ७०; छठे सर्ग में–४२, ५७; सातवें सर्ग में–६४, ७८,१०४; आठवें सर्ग में–९; चोदहवें सर्ग में–४७; सोलहवें सर्ग में–७३.
२६. बाला (८)	१, २, ३ चरण इन्द्रवज्रा; ४. चरण उपेन्द्रवज्रा त त ज ग ग त त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग	पहले सर्ग में–२. ३३, ४१, ५५, ८८; दूसरे सर्ग में–१५, १७, ४३, ५१, ६०, ६२, ७४; तीसरे सर्ग में–१८, २३, ३९, ६४, ७३, ९३; चौथे सर्ग में–२, ३, ३६; ३९, ५४, ५७, ६४, ६९, ७०, ७९; पांचवे सर्ग में–१६, ३६, ५९, ७२, ८८; छठे सर्ग में–४, १०, १६, २०, ५४; सातवे सर्ग में–१०, ४१, ४४, ४७ ५०, ६०, ६२, ७१, ९९, १०२; आठवें सर्ग में–२, १२, २३, ३०, ३२, ३८, ४४, ४५, ४७, ७२. ९०; नवम सर्ग में–१, ३२; ४०; वारहवें सर्ग में–७५; चोदहवें सर्ग में–६१; सत्तारहवें सर्ग में–२९, ६३, अठारहवें सर्ग में–६०, ७०, ७८; चोवीसवे सर्ग में–१००.
२७. आर्द्रा (९)	१,४ चरण उपेन्द्र-वज्रा; २,३ चरण इन्द्रवज्रा ज त ज ग ग त त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग	पहले सर्ग में–५६, ६६, ७४, ८३, ८६; दूसरे सर्ग में–२२.६१; तीसरे सर्ग में–६, ५८, ६२, ९४, ९५, ९८; चौथे सर्ग में–२२, २४, ३१, ५९, ६०, ७५, ७७; पांचवें सर्ग में–१३, २०, २४, ३७, ३९, ४७, ५८, ६५, ८१; छठे सर्ग में–१७, १८, ५३, ६०; सातवें सर्ग में–४२, ५३, ५६; आठवें सर्ग में–११, ५२, ७३, ९३; ग्यारहवें सर्ग में–६४; तेरहवें सर्ग में–५१; चौदहवें सर्ग में–५१, ५८, ५९; सोलहवें सर्ग में–७१; प्रशस्ति में–७, १५.
२८. भद्रा (१०)	१,३ चरण इन्द्रवज्रा २,४ चरण उपेन्द्रवज्रा	पहले सर्ग में–२१, ४२, ४६, ४७, ५८, ६२; दूसरे सर्ग में–३८, ४०, ६६, ७७, ८०; तीसरे

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
	त त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग	सर्ग में–२, ८, १३, १४, ४४, ६२, ७७, ८९; चौथे सर्ग में–२०, ३३, ४९, ६७, ७३; पांचवें सर्ग में–२५, ४५, ६९, ७४; छठे सर्ग में–१५, ३९, ४७, ४९, ५२, ५८, ६१; सातवे सर्ग में–१९, ४०, ४६, ९१; आठवें सर्ग में–७, १४, २९, ४०, ४३, ६६; नवम सर्ग में–२, १४, ३०; उन्नीसवें सर्ग में–९८.
२९. प्रेमा (११)	१, २, ४ चरण उपेन्द्रवज्रा; ३ चरण इन्द्रवज्रा ज त ज ग ग ज त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग	पहले सर्ग में–३, १५, २२, ६०, ६१; दूसरे सर्ग में–२, ७, ४१, ४६, ४९, ५८; तीसरे सर्ग में–१, ४२, ५५, ७४; चौथे सर्ग में–८१, ८७; छठे सर्ग में–२, ५, २२, २७, ४८; सातवे सर्ग में–३, १२, २१, ४५, ५७, ५९, ६३, ७९, ८२, ८८; आठवें सर्ग में–४, २५; तेरहवें सर्ग में–१०; चौदहवें सर्ग में–४६, ४८, ६२; अठारहवें सर्ग में–६८; उन्नीसवें सर्ग में–९७.
३०. रामा (१२)	१, २ चरण इन्द्रवज्रा ३, ४ चरण उपेन्द्रवज्रा त त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग ज त ज ग ग	पहले सर्ग में–१६, ३८, ६५, ८०, ८४; तीसरे सर्ग में–३७, ६५, ७५, ८४; चौथे सर्ग में–८, १५, २६, २९, ३२, ४४, ४६, ४७, ५०, ५१, ५२, ६१, ७६; पांचवें सर्ग में–५, १९, ५२, ५७, ७९; छठे सर्ग में–८, ९, २५, २६, ३८, ५०; सातवे सर्ग में–२४, ३३, ४३, ९६; आठवे सर्ग में–१५, १६, १९, ४१, ५६, ६०, ७१; नवम सर्ग में–४, २१, ३१; चौदहवें सर्ग में–५३, ५७; सतरहवे सर्ग में–६२; अठारहवे सर्ग में–६५, ६६, ६९, ८५, ८६; उन्नीसवे सर्ग में–९६.
३१. ऋद्धिः (१३)	१,३,४ चरण उपेन्द्रवज्रा; २ चरण इन्द्रवज्रा ज त ज ग ग त त ज ग ग ज त ज ग ग ज त ज ग ग	पहले सर्ग में–१४,२८,३६,४३,४५,६९; दूसरे सर्ग में–२४; तीसरे सर्ग में–७,४९,९०; चौथे सर्ग में–१०,५६,८९; पांचवें सर्ग में–४,१२; छठे सर्ग मे–१२; सातवें सर्ग में–४६,७४,७५, ९०,१००; आठवें सर्ग में–६४,६९,८८; नवम सर्ग में–८; चौदहवे सर्ग में–५५; अठारहवें सर्ग में–९३.

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
३२. वुद्धिः (१४)	१ चरण इन्द्रवज्रा; २,३,४ चरण उपेन्द्रवज्रा त त ज ग ग ज त ज ग ग ज त ज ग ग ज त ज ग ग	पहले सर्ग में–३१,७७ ; दूसरे सर्ग में–६५; तीसरे सर्ग में–३,२६,३४,४८,६६, चौथे सर्ग में–१८,५३,७२; पाचवें सर्ग में–१०,५१,६३,८७; छठे सर्ग में–६,३२. ४१; सातवें सर्ग में–१; आठवे सर्ग मे–२६.३६,६७.६८,८३; चौदहवें सर्ग में–५४; अठारहवें सर्ग में–११,६७.

अक्षर १२—

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
३३. स्रग्विणी (लक्ष्मीधर)	र र र र	नवम सर्ग में–४७.४८,४६,५०; पन्द्रहवें सर्ग मे–४२–५०.
३४. तोटक	स स स स	तेरहवें सर्ग में–१३–१६.
३५. द्रुतविलम्बित	न भ भ र	तेरहवें सर्ग में–१,२,३,४,५,६,७,८,६.१२.
३६. इन्द्रवंशा	त त ज र	दूसरे सर्ग में–२८; चौथे सर्ग में–४,१३; सातवें सर्ग में–६८; आठवें सर्ग में–८१; चौदहवें सर्ग मे–३३,३६,४०; सोलहवें सर्ग में–४,३०,७६; सतरहवें सर्ग मे–२.३१,४६,५१, ५४,५६,५७,८२; अठारहवें सर्ग में–१२,१८, ३२,३६,४६,५४,५५,७१; इक्कीसवें सर्ग में–८१; प्रशस्ति में–५.
३७. वशस्थ	ज त ज र	दूसरे सर्ग में–४८; सातवें सर्ग मे–३२; चौदहवें में–४४; सोलहवें सर्ग में–५५,५८.६०,६६; सतरहवें सर्ग में–४,१३; अठारहवें सर्ग में–२८,८२.

वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के १४ भेद—

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
३८. वैरासिकी (१)	१ चरण वंशस्थ., २,३,४, चरण इन्द्रवंशा ज त ज र त त ज र त त ज र त त ज र	चौदहवे सर्ग में–३५,३७; सोलहवें सर्ग में–५२; सतरहवे सर्ग में–३,३४,५६,७४; अठारहवें सर्ग में–२,१४,२२,२३,३५,४६,७३.७८.

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
३९. रताख्यानिकी (२)	१, ३, ४ चरण इन्द्रवंशा; २ चरण वंशस्थ त त ज र ज त ज र त त ज र त त ज र	दूसरे सर्ग-३३, चौथे सर्ग में-८८; पाचवें सर्ग मे-३४; छठे सर्ग मे-१३., सातवें सर्ग मे-९४; नवम सर्ग में-४१., सोलहवें सर्ग मे-७, १६,२२,२६,२७,२९; सतरहवे सर्ग में-१,५, १६,२४,६०,६१,७५,९१; अठारहवें सर्ग में-१७,४५,४७,७४.
४०. इन्दुमा (३)	१,२ चरण वशस्थ; ३,४ चरण इन्द्रवंशा ज त ज र ज त ज र त त ज र त त ज र	दूसरे सर्ग में-३१,३५; चौथे सर्ग मे-७; सातवें सर्ग मे-३९; सोलहवे सर्ग में-११,५७; सतरहवें सर्ग में-३२,३६; अठारहवे सर्ग मे-७,२०,३६.
४१. पुष्टिदा (४)	१, २, ४ चरण इन्द्रवंशा; ३ चरण वंशस्थ त त ज र त त ज र ज त ज र त त ज र	दूसरे सर्ग में-३; चौथे सर्ग में-५,५५; सातवें सर्ग में-२०,३८,९२; सोलहवे सर्ग में-२०,५३, ७४; सतरहवें सर्ग में-८,२५,३९,४०,५३,७०; अठारहवे सर्ग मे-१६,३०,५७,७२,८०,९२.
४२. उपमेया (५)	१,३ चरण वंशस्थ; २,४ चरण इन्द्रवशा ज त ज र त त ज र ज त ज र त त ज र	दूसरे सर्ग मे-३२; चौथे सर्ग में-८५; सातवे सर्ग में-३०,३५; आठवे सर्ग में-१, सोलहवे सर्ग में-१,५,२१; सतरहवे सर्ग में-१०,३८, ४६,७३; अठारहवें सर्ग में-१, १३.
४३. सौरभेयी (६)	१,४ चरण इन्द्रवंशा; २,३ चरण वंशस्थ त त ज र ज त ज र ज त ज र त त ज र	दूसरे सर्ग मे-७९; सातवे सर्ग में-२७; चौदहवे सर्ग में-४१; सोलहवें सर्ग में-१०,१९,२५; सतरहवें सर्ग में-७,२६,२७,४३,५८,६५,८३, ८४,८६; अठारहवें सर्ग में-३३,३८,४४,४८, ५६; उन्नीसवें सर्ग में-९९; प्रशस्ति में-६.
४४. शीलातुरा (७)	१,२,३ चरण वंशस्थ; ४ चरण इन्द्रवशा	पांचवें सर्ग में-२८,९०; सातवें सर्ग में-९५; चौदहवें सर्ग मे-३८; सोलहवें सर्ग में-२८;

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
	ज त ज र ज त ज र ज त ज र त त ज र	सतरहवें सर्ग में–२१,५५,६७,७२,८७; अठारहवें सर्ग में–५,८,२४,४२,९०.
४५. वासन्तिका (८)	१, २, ३, चरण इन्द्रवंशा; ४, चरण वंशस्थ त त ज र त त ज र त त ज र ज त ज र	चौथे सर्ग में–६२; पांचवें सर्ग में–२९, ४९; सातवे सर्ग में–१५, ३९; चौदहवें सर्ग में–२५; सोलहवें सर्ग में–१७, १८, २३, ५९, ७०; सतरहवे सर्ग में–२२, ४१, ६४, ६६,६८, ७१, ९०, अठारहवे सर्ग में–४, २१, ४०, ४१, ४३, ५२, ७९, ८१, ८४; प्रशस्ति में–४.
४६. मन्दहासा (९)	१, ४, चरण वंशस्थ; २, ३ चरण इन्द्रवंशा ज त ज र त त ज र त त ज र ज त ज र	पांचवे सर्ग मे–२७; सातवे सर्ग में–१७,३१; आठवें सर्ग में–८२; सोलहवें सर्ग मे–९, ५४, ७८; सतरहवें सर्ग में–२०, ८९; अठारहवें सर्ग में–१५, २५, ३४, ५१, ७५.
४७. शिशिरा (१०)	१, ३ चरण इन्द्रवंशा; २, ४ चरण वंशस्थ त त ज र ज त ज र त त ज र ज त ज र	दूसरे सर्ग में–३०; पांचवें सर्ग में–४०; सातवें सर्ग में–६; चौदहवें सर्ग में–३४; सोलहवें सर्ग में–८, १४, ७९; सतरहवें सर्ग में–९, १५, ४४, ४५, ७६, ८०; अठारहवें सर्ग में–२६, ३७.
४८. वैधात्री (११)	१, २, ४ चरण वंशस्थ; ३ चरण इन्द्रवंशा। ज त ज र ज त ज र त त ज र ज त ज र	दूसरे सर्ग में–५५; चौथे सर्ग में–१७,२८; सोलहवें सर्ग मे–१२,१३,६१; सतरहवें सर्ग में–६,३५,३७,८८; अठारहवे सर्ग में–३,१९, ३१.
४९. शंखचूडा (१२)	१, २ चरण इन्द्रवंशा;	दूसरे सर्ग में–६,२५,५७; चौथे सर्ग में–६; पाचवें सर्ग में–४१,४६,६१; सातवे सर्ग में–

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
	३, ४ चरण वंशस्थ त त ज र त त ज र ज त ज र ज त ज र	३३; चौदहवें सर्ग में–३९,४३; सोलहवें सर्ग में–२,३,१५,२४; सतरहवें सर्ग में–२८,४२, ७७; अठारहवें सर्ग में–६,९,२७,२९,५३.
५०. रमणा (१३)	१, ३, ४ चरण वंशस्थ २ चरण इन्द्रवंशा ज त ज र त त ज र ज त ज र ज त ज र	दूसरे सर्ग मे–५४; चौथे सर्ग में–७१,८२; पांचवे सर्ग में–४२; सतरहवें सर्ग में–१२,१४, ३०,४८,५२,६९,७८, अठारहवें सर्ग में–८९.
५१. कुमारी (१४)	१ चरण इन्द्रवंशा २, ३, ४ चरण वशस्थ त त ज र ज त ज र ज त ज र ज त ज र	दूसरे सर्ग में–५; सातवे सर्ग में–१६, ८१; सोलहवें सर्ग में–६, ५६; सतरहवे सर्ग में–११, १९, ५०, ७९, ८१, ८५; अठारहवे सर्ग में–५०, ७६, ८३, ८७, ९१.

अक्षर १३—

५२. प्रहर्षिणी	म न ज र ग	चौदहवें सर्ग में–१३, १४, १५, १६, १७, १८ १९, २०, २१.
५३. रुचिरा	ज भ स ज ग	चौदहवें सर्ग में–२३, २४, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१.

अक्षर १४—

५४. वसन्ततिलका	त भ ज ज ग ग	पहले सर्ग में–४४; तीसरे सर्ग में–८०, ८१; सातवे सर्ग में–३४; नवम सर्ग में–५७; ग्यारहवें सर्ग में–१३. ५७; तेरहवे सर्ग में–१२१–१३१; पन्द्रहवें सर्ग में–५२, ५३, ५४, ५५.
५५. अपराजिता	न न र स ल ग	चौदहवें सर्ग में–३२.

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
अक्षर १५—		
५६. मालिनी	न न म य य	दूसरे सर्ग में–८५; तीसरे सर्ग में–८२, ६६; पांचवें सर्ग में–६२; सातवें सर्ग में–१०५; नवम सर्ग में–१६, १६, २३, २६, ३६, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५; दसवें सर्ग में–७२; ७३, ७४, ७५, ७७; ग्यारहवें सर्ग में–८, ६, १०; चौदहवें सर्ग में–२, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, ११, पन्द्रहवें सर्ग में–५६, ५७, ५८, ५६, ६०; सोलहवें सर्ग में–६२, ६५, ६७, ६८, ७५, ८०; उन्नीसवें सर्ग में–८३, ८४, ८५, ८६ ८७, ८८, ८६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४; तेवीसवें सर्ग में–१११, चौवीसवें सर्ग में–१०१, १०२; प्रशस्ति में–१३.
५७. मणिगुण-निकर (शरभ)	न न न न स	पन्द्रहवें सर्ग में–१०, २०, ३१.
अक्षर १६		
५८. वाणिनी	न भ भ ज र ग	पन्द्रहवें सर्ग में–४१.
५६. ऋषभगज-विलसित	भ र न न न ग	पन्द्रहवे सर्ग में–५१.
अक्षर १७		
६०. शिखरिणी	य म न स भ ल ग	चौदहवें सर्ग में–४२; प्रशस्ति में–८.
६१. हरिणी	न स म र स ल ग	दसवे सर्ग में–८७; तेरहवें सर्ग में–५०; चौदहवें सर्ग में–६३; सोलहवें सर्ग में–६४; उन्नीसवें सर्ग में–१०२.
६२. पृथ्वी	ज स ज स य ल ग	नवम सर्ग में–२७, २८; दसवें सर्ग में–७६; चौदहवें सर्ग में–५२, सोलहवे सर्ग में–७७.
अक्षर १९		
६३. शार्दूल-विक्रीडित	म स ज स त त ग	पहले सर्ग में–८६; तीसरे सर्ग में–८३; चौथे सर्ग में ६१; छठे सर्ग में–७०., आठवें सर्ग में–६४; ग्यारहवे सर्ग में–६, ७, १५, १६, ८७; अठारहवे सर्ग में–६४; इक्कीसवें सर्ग में–८६, ६६, १०४, ११०, ११२; चौवीसवें सर्ग में–

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
		३१, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५२, ६८, ६६, १०३; प्रशस्ति में–३, २१, २४.
अक्षर २१		
६४. स्रग्धरा	म र भ न य य य	छठे सर्ग में–६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६६, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६; नवम सर्ग में–१३, १५, १७, १८, २२, २४, २५, ४५, ५६, ५६, ६०; ग्यारहवे सर्ग में–२, ३, ४, ५, १२, १४, ५१, ५२, ५५, ५६, ६२, ६३; बारहवें सर्ग मे–७६; सोलहवे सर्ग मे–३७, ४२ ४७, ५०, ६३; सतरहवे सर्ग में–६२, अठारहवें सर्ग में–६५, ६६, ६७; बीसवें सर्ग मे–१०६; इक्कीसवें सर्ग में–१११; बावीसवें सर्ग में–६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८; चौवीसवें सर्ग में–३२, ५१, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ६५, ६६, ६७; प्रशस्ति में–१०. १४. १६. २२.
अक्षर २७		
६५. चण्डवृष्टि-प्रपातदण्डक	न न र र र र र र र	तेरहवें सर्ग में–१२२.
अक्षर ३०		
६६. अर्ण-दण्डक	न न र र र र र र र र	चौदहवें सर्ग में–१.
अक्षर ३३—		
६७. अर्णव दण्डक	न न र र र र र र र र र	चौदहवें सर्ग में–१२.
अक्षर ३६		
६८. व्याल-दण्डक	न न र र र र र र र र र र	चौदहवें सर्ग मे–२२

अर्द्धसम छन्द

६६. उपचित्र	*[१.३] स स स ल ग *[२.४] भ भ भ ग ग	पन्द्रहवें सर्ग मे–१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६.

*[१.३] अर्थात् प्रथम और तृतीय चरण का लक्षण।
[२.४] अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ चरण का लक्षण।

छन्दनाम	लक्षण	सर्ग एवं पद्याङ्क
७०. वेगवती	[१.३] स स स ग [२.४] भ भ भ ग ग	तेरहवें सर्ग में–९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२; पन्द्रहवें सर्ग में–२१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०.
७१. हरिणप्लुता	[१.३] स स स ल ग [२.४] न भ भ र	तेरहवे सर्ग में–६२, ६३, ६४, ६५, ६६ ६७ ६८, ६९, ७०, ७१, ७२.
७२. केतुमती	[१.३] स ज स ग [२.४] भ र न ग ग	पन्द्रहवें सर्ग मे–३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०.
७३. द्रुतमध्या	[१.३] भ भ भ ग ग [२.४] न ज ज य	पन्द्रहवें सर्ग में–११, १२. १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९.

विषम-वृत्त

७४.	म र य स भ र य म र य न य य य	तेरहवें सर्ग में–३१.

तृतीयम्परिशिष्टम्

लोकोक्ति-सञ्चयः

किं कृष्णसर्पोऽपि करोति तत्र, स्याद् यत्र शत्रुर्नकुलः सदर्पः ।	१।२०
यद्वा पयोधावपि रत्नयोनौ, रत्नं कियत् कौस्तुभसन्निभं स्यात् ।	१।२४
रत्नाकरेऽप्यम्बुनिधौ कियद्वा, रत्नं प्रतिद्वन्द्वि भवेत् सुधांशोः ।	१।२४
सीमामतिक्रामति चेत्पयोधि-र्वार्ताऽपि का शेषसरस्सु तस्याः ।	१।८१
ग्रीष्मोष्मसन्तप्तशिलातलस्थः, सरश्च्युतो मत्स्य इवातिदीनः ।	१।८२
व्याघ्रोऽस्ति पृष्ठे पुरतस्तु दुस्तटी, पार्श्वद्वये ज्वालशताकुलः शिखी ।	
महाशनिश्चोर्द्ध्वमधोऽन्धकूपकः, क्व संकटं मादृश ईदृशि व्रजेत् ॥	१।८४
यथा तथाऽऽत्मा परिरक्षणीयः	१।८६
लोकोऽपि तीव्रं ज्वलिते स्वमस्तके, नैवान्यमूर्द्धज्वलनप्रतिक्रिया ।	१।८७
क्व वा जने स्याद् दृढपञ्चबाण-घुणक्षतान्तःकरणे विवेकः ।	२।२
तीव्रोऽपि वन्हिः सलिलेन शम्यते, तच्चेज्ज्वलेत् किं हि तदा निवर्तकम् ।	
कथं च तत्र श्वसिति ज्वरार्दितः, सञ्जीवनी यत्र विषाय कल्प्यते ॥	२।३
तुलां समारोहति जीर्णतन्तुना	२।६
कलङ्कधामापि तुषाररश्मिः, कुमुद्वतीनामिव माननीयः ।	२।२३
सा प्राह किं तेन सुकुण्डलेन, यत्त्रोटयत्यद्भुतलम्बकर्णम् ।	२।२६
तदा महाजीर्णविपाकशंकया, भोक्तुं न युज्येत कदापि पायसम् ।	२।३२
स्थैर्यं क्व वा स्त्रीषु विचक्षणास्वपि	२।३३
रजोभिरुद्धूलयति स्म गात्रं, स्नात्वा यथा मत्तगजः करेणुः ।	२।६१
क्व वा भवेत्तत्त्वविचारदृष्टिः, कामिष्वदृष्टिस्विव वामगेषु ।	२।६७
घर्षप्रकर्षान्ननु चन्दनादप्युद्गच्छति स्फारशिखः शिखावान् ।	२।७२
कार्याणि यत्साहसनिर्मितानि, प्रायोऽनुतापाय भवन्ति पश्चात् ।	२।७३
स्वार्थाय किं किं हि न कुर्युरङ्गनाः ।	२।७६
वाङ्मात्रदानेऽपि पराङ्मुखी किम्, प्रियेऽधुना स्निग्धतमापि पूर्वम् ।	
गौर्जातु मुग्धार्भकदुग्धमात्रा-र्पणे दरिद्रा न हि कामदोग्ध्री ।	३।२
सुधारसच्छिन्नतृषो हि पुंसः, सक्तिः कथं पल्वलवारिणि स्यात् ।	३।४५
न दावसान्निध्ययुजो हि वृक्षाः, फलन्ति पुष्टा अपि मूलबन्धैः ।	३।६५
नाथप्रमाथे युधि जातु जाते, किं कुर्युरुग्रा अपि शेषसैन्याः ।	३।६६
किं क्वापि कौक्षेयकतीक्ष्णधाराः, सुव्यापृताश्छेदपराङ्मुखाः स्युः ।	३।६८
स्वादं जना नानुभवन्ति कञ्चिदुष्ट्रा इवाऽऽम्रद्रुमपल्लवस्य ।	३।७०
नायत्नभाजां क्वचिदिष्टसिद्धिः ।	३।७१
न वह्निरूर्ज्ज्वलने सहायं, समीहते हीन्धनवृद्धहेतिः ।	४।१८
निषेवते को हि सुधां न विज्ञो, विषस्य हानादिह जीवितार्थी ।	४।२६

न दैन्यमालंब्य कदापि सिंहः, प्रकल्पयेत् स्वस्य शरीरयात्राम् । ४।५३
नाङ्गारवृष्टिं विदधाति कान्तं, कदापि यच्छीतमयूखबिम्बम् । ४।८१
यतोऽतिमुग्धाप्यनुवर्तते विभुं, राज्ञोऽनुवृत्तौ तु जनस्य का कथा । ४।८२
चूडामणिः किं चरणे निबध्यते, निजाङ्गनागोमयसंवरेऽथवा ।
वशापि राज्ञा नहि जातु कोविदा, मुद्राभिदः स्युः प्रभवोऽपि कुत्रचित् ॥ ४।८८
त्वमेव तावत् परिचिन्तयेद, किं पद्मकोपे विनिवेश्यतेऽग्निः ।
विशस्यते कामदुघा दुहाना, गृहागता कामशतानि किं वा ॥ ४।८९
शत्रौ च मित्रे च समा हि सन्तः, सूर्यांशवो वारिणि तेजसीव । ५।३
अहो सुधायै मथिते पयोधावुदैतदेतत् किल कालकूटम् । ५।६
विलोडितेऽप्यम्बुनिधौ सुरत्ने, पराप हालाहलमेव शम्भुः । ५।१०
अङ्गीचकाराऽपि निजाङ्गभङ्गं, विपद्यनुद्वेगधना हि धीराः । ५।१३
प्रिया हि गृध्रस्य परेतभूमिः । ५।१६
मेरुर्न सगन्तिनिरर्गलोद्यद्वाताभिघातेऽपि सवेपथुः स्यात् । ५।१८
वृहस्पतिं न ग्रसते कदाचिद्, विधुन्तुदश्चन्द्रमसा विराद्धः । ५।२१
न शल्यमन्तः कुथितं विनाऽऽप, मृत्युं हि विश्राम्यति कालपाके । ५।२२
विराद्धदर्वीकरतः किलाखोर्लूमाऽवलोपात् कुशलं कियद्वा । ५।२३
किं दुर्विनीतास्तुरगाः सकृत्स्युः, कशाप्रहारप्रचयस्य पात्रम् । ५।२४
कल्पद्रुमस्कन्धकुठारपातः, किं कस्यचित्तोषविशेषकृत् स्यात् । ५।३३
कर्णामृतस्यन्दिवचःप्रदान, पुंस्कोकिलं शिक्षयतीह को वा । ५।३५
आलम्बन नैव कराः सहस्रं, सहस्रभानोः पततः प्रदोषे । ५।३६
विना विधुं को हि नभोविभूषण–क्रियाविनिर्माणकलाविचक्षणः । ५।४२
मृगाः कथं सिंहपराक्रमाः स्युः । ५।४३
परोपकारप्रवणा हि सन्तः । ५।४७
कुर्वन्ति किं कृत्यविदः कदाचिदौचित्यभङ्गं व्यसनेऽपि धीराः । ५।४८
किं चन्दनः स्वाङ्गपरिव्ययेण, प्रमोददायी न भवेज्जनस्य । ५।६५
किं चम्पकाचञ्चलगन्धपात्र, तत्सङ्गतः स्वादुतिला न हि स्युः ५।८४
को वा हितार्थी कुपिताहितुण्डं, चण्ड परिस्प्रष्टुमिहाद्रियेत । ५।८९
अवश्यसम्वेद्यफल हि कर्म, न कारयेत् किं किमिहाङ्गभाजाम् । ६।६
सम्भोग भङ्गिष्वपि तत्प्रहारा न निर्दया अप्यभवन् वधूनाम् ।
दुःखाय किं चण्डरुचेर्भवन्ति, त्विषो नलिन्याः परितापदात्र्यः ॥ ६।१५
को वा वने स्फूर्जति भर्तुराज्ञा - विलङ्घनं भृत्यवरः सहेत । ६।१८
रुच्यं न यत् स्यादशनं कदापि, स्वाद्वप्यहो सल्लवणं विनेह । ६।१९
क्षीणेऽथ रज्जाविव मृत्युकूप-प्रपातसाम्मुख्यमसौ प्रपेदे । ६।२०
कालुष्यमात्रत्वमुपैति वर्षास्वपि प्रसन्नं किमु मानसं वा । ६।२२
आयुःक्षये वायुविधूतवृन्तवन्धं स्थिरं किं कुसुमं भवेद् वा । ६।२३
स्पर्द्धा हि किं किं न विधापयेद्वा । ६।३१
किं वाऽद्भुतं याति न जातु सत्यं, स्वर्णं विदाहेऽपि यदन्यथात्वम् । ६।४५

रवेरभावे तद्भापि प्रातः स्याद् दृष्टिनन्दिनी । ११।६०
क्षीराब्धिः किं क्वचिन्माति क्षपाकरसमुद्गमे । ११।८१
क्व वा तापो हिमोदये । ११।८२
न कदाचिच्छिलापट्टे सम्भवोऽम्भोरुहस्य यत् । १२।२
क्षणमप्यासते यन्न तिमयः सलिलं विना । १२।१३
अप्रकाशा हि न मुदे रूपवत्यपि नर्त्तकी । १२।१८
कस्य न श्रूयमाणोऽपि भवेदानन्दकन्दलः ।
वसन्ते पञ्चमोद्गारहारीव पिकनिस्वनः ॥ १२।३२
कस्य वा स्यात् स्थिरा लक्ष्मीः कल्लोलसहवासिनी । १२।६२
लब्धा गदो विषीदेत् कः, सकर्णो व्याधिपीडितः । १२।७०
असाध्यमत्रास्ति न किञ्चिदुद्यत्पुण्याधिराजस्य समुद्गतस्य । १२।७८
निरुपधिप्रणयामृतसिन्धवो, जगति नाम भवन्ति हि सज्जनाः । १३।१
नगरमप्यधिकं तदरण्यतो, भवति यत्र न सम्मतसङ्गमः । १३।३
न हि सीदन्ति सुभृत्या विदितस्वामीङ्गिताः कार्ये । १३।२०
शर्कराऽपि कटुरेव पित्ताले । १३।२६
तं स लोचनगतं विलोकितुं, नाऽक्षमिष्ट गरुडं फणी यथा । १३।२७
शैलेन्द्रे हि प्रोन्मदस्य द्विपस्य, प्रौढोऽपि स्याद् दन्तभङ्गाय घातः । १३।४०
किं नागः स्यात् तार्क्ष्यक्षेपी । १३।४७
वचनेन किमुद्धति फल्गुना, न हि जयन्ति परान् पटहस्वनाः । १३।६४
यदि बालतृणेषु मृगो बली, मृगपतिं किमु हन्ति कदाचन ।
न च मूषिकवर्गपराजयी, जयति दन्तिनमुन्मदफेरवः । १३।६५
चणकोऽतिसमुच्छलितोऽपि किं, दलयति स्थपुटं पृथुभर्जनम् ।
दिवि दीधितिकीटकदीधितिः, किमु पराजयते दिनकृत्प्रभाम् ॥ १३।६६
अतिबाल इव त्वमपि स्फुटं, दृढफले दशनाय समुद्यतः ।
द्रुतमाप्स्यसि चान्तरमायसे, चणकखण्डनपण्डितदन्तकः । १३।६७
न तथापि वचोऽपि मनस्विनां, श्रयति दैन्यमनन्यसमौजसाम् ।
प्रलयेऽपि दधाति किमम्बरं, कठिनतामुपलप्रचयोचिताम् । १३।७०
असह रविरश्मिततेरपि, श्रयति कैरवमग्निचयं न हि । १३।७१
न प्रतीकारे तुच्छा, भवन्ति कुत्राऽपि विपुलेच्छाः । १३।७४
निजजातिपक्षपातो, विलसति साम्येऽप्यहो प्रायः । १३।७८
न जये पराजये वा, चिन्तास्वार्थी हि सर्वोऽपि । १३।७९
कस्य सुखाय हि सज्जनपातः । १३।८६
पशव. सकला न शृगाला, भूमिरुहा अपि न ह्यरुवूकाः । १३।१०२
सिंहः सुप्तो विबोधितः, करिपोतेन बलाज्जिगीषया । १३।१०३
नानस्तमितो घर्ममरीचिर्जगदुत्तापकतां परिजह्यात् । १३।१२१
किं वा विकारमुपयाति पयोधिनाथो, गाम्भीर्यभाग् गुरुतरङ्गभरेऽपि जातु । १३।१३१

उपकृतिविदुरैर्यद् गण्यते नाऽपकारः ।	१४।३
गावो वा किमु विरमन्ति शीततोयात्, तृष्णार्त्ताः कथमपि मानसं पराप्य ।	१४।१४
माधुर्यं पयस इवाऽपि वाग्मिनाथः, को वाऽल भुवि महतां गुणाभिधायाम् ।	१४।१९
क्व वा स्थितिः शिखिनि कटे स्फटावतः ।	१४।३१
कलयति हि न कं कृतान्तमहाभटः, स्वसमयवशतः समर्थशिरोमणिः ।	१४।३२
पत्युर्विपक्षानुगमो हि दुस्सहः ।	१४।३३
मृगाधिराजे पतितेऽपि यन्मृगाः, सद्यस्तदासन्नचरा भवन्ति नो ।	१४।३८
क्व का सुदुश्चारिषु लौकिकी स्थितिः ।	१४।४४
शुद्धान्तिके दृष्टिविघातकत्वं, नाशुद्धिभाजोऽपि विजृम्भते यत् ।	१४।५०
जडात्मनि स्फूर्जति साध्वसाध्वोः, क्व वा विशेषः प्रथते स्फुटोऽपि ।	१४।६०
तथ ऽभिरामेऽपि न शीतरश्मौ, स्मिताननां पंकजिनी बभूव ।	
सूर्यप्रिया का दयितान्तरे स्यात्, पतिव्रता जातु सहासवृत्तिः ।	१४।६२
क्षरति प्रमदासु हि रागवान्, किं न करोत्यतिनिन्द्यमपीह ।	१५।८
दुष्टजनस्य हि साधुविषङ्गोऽप्यफल इतीव दिशत्यनुविश्वम् ।	
सर्वपदार्थविभासिदिनेशोदयहतदृष्टिनि कौशिकवृन्दे ।	१५।१६
सममंस्त भवन्ति महान्तो, ह्यर्थितवस्तुनि न प्रतिकूलाः ।	१५।३०
कान्तवस्तुन्यकान्तोऽपि कान्तिं दधात्येव सम्पूर्णचन्द्रे यथा लाञ्छनम्	१५।४३
पणं विना रत्नमिहाप्यते न हि ।	१६।३
किं वा न सर्वस्य मुदे महात्मनाम् ।	१६।५२
शिशून् समाश्वस्तहृदो नयेत कः, कृतान्ततोऽन्यः परलोकपद्धतिम् ।	१६।५९
मरीचिकास्वम्बुमतिर्यथा मरौ ।	१७।४
न दध्नि विश्वासमुपैति तात्त्विके, दुग्धेन दग्धो वृषदंशको यथा ।	१७।५
क्व दुर्गतस्यौकसि कल्पशाखिनः, शाखा फलेद्वाऽकृतपुण्यकर्मणः ।	१७।८३
के वा गुणाढ्या न भवन्ति भाजनं, पुरस्क्रियाया मणिमालिका यथा ।	१८।४
साधोः कथञ्चित् पिशितोपयोगतोऽप्यस्थ्नो विबन्धः किमु युज्यते गले ।	१८।२३
फलन्ति किं न वाऽचिन्त्यप्रभावा ननु कल्पवल्लयः ।	१८।२२
किं वा न कुर्वन्ति हि दुर्लभार्थिनः ।	१८।३३
कार्यैकनिष्ठातिपटिष्ठबुद्धयो, दक्षा भवन्ति व्यसनेऽपि नाऽऽकुलाः ।	१८।३९
दृष्टे हि चन्द्रे न कदापि शंकते, सुधीर्विपर्येति तु को निशागमे ।	१८।४३
आस्वादिते व्याधिहरे रसायने, किं तिष्ठति क्वाप्युदरस्य वेदना ।	१८।५४
न पल्वलाम्भो भुवि माति कुत्रचित्, स्वल्पेऽपि वर्षाम्युदये नवेऽथवा ।	१८।५७
आनन्दनः केकिकुलस्य केन, प्रेर्येत नृत्याय नवः पयोदे ।	१८।६१
तद्गाढगण्डोपरि दावदाह स्फोटस्फुटो नूनमजायताऽस्याः ।	१८।६२
निर्मथ्यमाने हि सुरैः पयोधौ, क्वाऽवस्थितिस्तत्र सुधालवस्य	१८।६४
न हीशमूर्द्धस्थितिभेश्वरत्वे ग्रहक्षणे चन्द्रमसोऽपि न स्तः ।	१८।६६
मृगे हते को हि मृगाधिपस्य, शटाकचेऽप्युद्भवति प्रयासः ।	१८।६७

को वा न नन्दत्यभिवाञ्छिते श्रुते, ध्वनौ घनस्येव शिखण्डिमण्डली ।	१८।७३
स्युः सर्वदा कालविदो विचक्षणाः ।	१८।८०
मनोरथाः प्राणिगणस्य चान्यथा, दुर्दम्यदैवस्य च वृत्तिरन्यथा ।	१८।८६
न हीन्दुबिम्बे भवतोऽमृतानलौ, गतिर्विचित्राऽशुभकर्मणोऽथवा ।	१८।९१
सेव्यो हि वह्निर्गृहदाहदाय्यपि ।	१८।९२
प्रियाननुज्ञातमतिप्रियं चेत्, तथापि कुर्वन्ति न दक्षिणा यत् ।	१८।९३
प्रायः पुण्यानुसारादिति भवति शुभं सत्त्वभाजां समस्तं ।	१८।९५
किं वा चिन्तामणौ स्यान्न वशगमवनौ पाणिपद्मावगाढे ।	१८।९६
घनी क्रीडति को व्यालेनाऽवालः कालसाक्षिणा ।	१९।१३
दुराचारं नरं हन्तुं कृतान्तः किं विलम्बते ।	१९।१४
अग्रसूचीविनाशे हि ताले किमवशिष्यते ।	१९।२५
इतः परिभवान्नान्या पराभूतिर्गरीयसी ।	
छिदाति वाधिका देहे का हि मूर्द्धच्छिदोऽपरा ।	१९।२६
सूर्योदयस्य किं साध्यं तमस्काण्डक्षतिं विना ।	१९।२८
वरं कक्षो वरं लोष्ठो वरं तूलं वरं रजः ।	
न तु वैरप्रतीकाराभावनिष्फलपौरुषः ।	१९।२९
शेषशीर्षमणिप्रख्यैः किं धनैः किं पराक्रमैः ।	
पराभवपराक्रान्तैर्जीव्यते यत्र मानवैः ।	१९।३१
न दीप्येरन् मरौ वायुसखा इव दवानलाः ।	१९।३८
प्रकृतिस्थं पयो जातु न दाहाय प्रगल्भते ।	१९।५१
अपि पत्र पयोजस्य सत्यर्के कोऽनुपालयेत् ।	१९।६५
न हि दीपशिखालोले पतङ्गे प्राणितस्थितिः ।	१९।६८
दूतः किलाऽवध्य इति प्रसिद्धेः ।	१९।९५
न कलुषनदीपातैरब्धिर्विकारमियर्त्ति यद् ।	१९।१०२
क्व वाऽमर्षवतां वृत्तौ विमर्शः साध्यसाधकः ।	२०।५
डमरोड्डमरारम्भे क्व वा शान्तिर्विजृम्भते ।	२०।१२
वृद्धैर्निरुध्यमानोऽपि सव्यरंसीन्न यानतः ।	
स्वाग्रहात् कृष्णमृगवदलंघ्या भवितव्यता ।	२०।२०
सन्तो हि सद्वयस्यानुवर्तिनः ।	२०।३०
प्रयाणाय न कालज्ञाः स्वामिकार्यं उदासते ।	२०।४७
श्रोतुना नाश्यते वर्हीं यदाशीविषवृन्दहा ।	२१।७
स्वाङ्गभङ्गे हि वेदना ।	२१।३०
स्यात् परस्य यदतीवशुद्धता, काञ्चनस्य शिखिसंगमे यथा ।	२२।२४
किं वहन्ति मरुकूपदर्दुराः ।	२३।५४
व्यर्थमादधाति दुग्धवञ्चिता काञ्जिकेऽपि रमते द्विकप्रिया ।	२३।५५
हस्तगं प्रकटदीप्रकङ्कणे, को हि दर्पणवृतौ प्रयस्यति ।	२३।७१

कोऽप्रियश्रवणतो हि तुष्यति ।	२३।७३
यौवत हरति कामसूकरस्यात्र मानसमहो विपर्ययः ।	२३।६७
तैरहर्निशमिह ग्रहैरिव, ग्रस्तशस्तवपुषः कुतः सुखम् ।	२३।६८
किं प्रपीय हि सुधां सुधाभुजः, प्रीतिमादधति पल्वलाम्भसि ।	२४।४
को हि वासुकिफणामणिं स्पृशेदह्निणा सघृणधीः स्वजीविते ।	२४।५
प्रार्थिता न विमुखत्वमादधत्युन्नतप्रकृतयो हि कुत्रचित् ।	२४।७
किं विदग्धतरुणीपतिव्रताश्चित्रिणः समदनान्निरीक्षते ।	२४।२१
किं हि जम्बूकवधे यशो हरेरित्यभाषत मुनिर्विरक्तधीः ।	२४।७३
किं भवेद् द्विरदकुम्भपाटने पाटवप्रकटनं क्वचित् कपेः ।	२४।७७
किं न याति सुकुमारतां दृषच्चन्द्ररुक्परिचयाद् घनापि हि ।	२४।८६

चतुर्थम्परिशिष्टम्

महाकाव्यस्थ पात्र-सूची

पुरुष-पात्र

अग्निशर्मा	=	नागदत्त का जीव, त्रिदण्डी, सनत्कुमार का प्रतिद्वन्द्वी
अतिवेग	=	विद्याधर राजा
अशनिवेग	=	रत्नपुराधिपति, विद्याधरों का राजा, सनत्कुमार का प्रतिद्वन्द्वी
अश्वसेन	=	हस्तिनापुर का राजा सनत्कुमार का पिता
असिताक्ष यक्ष	=	यक्ष, सनत्कुमार का प्रतिद्वन्द्वी, नागदत्त का जीव
किरणवेग	=	विद्याधर राजा
गुह्यक यक्ष	=	सनत्कुमार का उपकारी, यक्ष
चण्डवेग	=	,, ,,
चन्द्रसेन	=	विद्याधरकुमार, भानुवेग का पुत्र
चित्रवेग	=	विद्याधर राजा
जयन्तक	=	ब्राह्मणरूपधारी देव
जिनधर्म	=	रत्नपुर का श्रेष्ठि, सनत्कुमार का जीव
दुर्मुख	=	अशनिवेग का दूत
देवद्वय	=	वैद्यरूपधारी दो देव
नागदत्त	=	काञ्चनपुर का श्रेष्ठि, विष्णुश्री का पति
पवनगति	=	विद्याधर राजा
भानुवेग	=	विद्याधर राजा, सनत्कुमार का श्वसुर, संगमपुरी का राजा
महावेग	=	अशनिवेग का पुत्र विद्युद्वेग का भाई
महेन्द्रसिंह	=	सनत्कुमार का मित्र, मंत्री सूर का पुत्र
विक्रमयशा	=	कंचनपुर का राजा, सनत्कुमार का जीव
विद्युद्वेग	=	अशनिवेग का पुत्र, सन्ध्यावली का भाई
विनयन्धरसूरि	=	जैनाचार्य, सनत्कुमार के दीक्षा-गुरु
वैजयन्तक	=	ब्राह्मणरूपधारी देव
सदागति	=	विद्युद्वेग का मामा
सनत्कुमार	=	महाकाव्य का नायक, अश्वसेन का पुत्र
सुभानु	=	विद्याधर राजा
सुराष्ट्र	=	साकेतनगर का राजा, सुनन्दा का पिता, सनत्कुमार का श्वसुर

सुव्रतसूरि = जैनाचार्य, विक्रमयशा (सनत्कुमार का जीव) के दीक्षा गुरु
सूर = हस्तिनापुर के राजा अश्वसेन का मंत्री, महेन्द्रसिंह का पिता
सौधर्मेन्द्र = सनत्कुमार का जीव, देवलोक का अधिपति
,, = सौधर्म देवलोक का इन्द्र
हरिचन्द्र = विद्याधर कुमार, चण्डवेग का पुत्र

स्त्रीपात्र

अष्टराजकुमारियां = भानुवेग की पुत्रियां, सनत्कुमार की पत्नियां
कालिन्दी = महेन्द्रसिंह की माता
चन्द्रयशा = सुनन्दा की माता, सुराष्ट्र की रानी
बकुलमति = भानुवेग की पुत्री, सनत्कुमार की पत्नी
विष्णुश्री = नागदत्त की पत्नी, विक्रमयशा की प्रेयसी
सहदेवी = सनत्कुमार की माता, अश्वसेन की रानी
सन्ध्यावली = अशनिवेग की पुत्री, सनत्कुमार की पत्नी
सुनन्दा = सनत्कुमार की पत्नी, साकेतपति सुराष्ट्र की पुत्री